श्रीः

जैनतत्त्व कलिका विकास।

लेखक

जैनमुनि श्री उपाध्याय आत्माराम जी महाराज

(पंजाबी)

प्रकाशक

राय साहिब लाला रघुवीरसिंह जी जैन, अफसर माल,

करनाल

सोल एजंट्स—

मेहरचन्द लक्ष्मणदास—अध्यक्ष

संस्कृत पुस्तकालय

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

हर्ष समाचार

इस पुस्तक के प्रकाशक दानवीर रायसाहिब लाला रघुवीरसिंह जी जैन ने आदेश किया है कि जैन तत्त्व कलिका विकास के विक्रय से जो धन प्राप्त होगा वह सब धार्मिक शास्त्रों और पुस्तकों के प्रकाशन में ही लगाया जायेगा। उन का उक्त धन के साथ कोई स्वत्व नहीं होगा। इसलिये इस पुस्तक को खरीदना मानो जैन साहित्य का उद्धार और प्रचार करना है। हमारी यह प्रबल इच्छा है कि यह पुस्तक प्रत्येक जैन के घर में हो ताकि जैन साहित्य की उत्तरोत्तर उन्नति होती रहे।

प्रार्थी—

ख़ज़ानचीराम जैन, लाहौर

प्राक्कथन

श्रीमान् उपाध्याय आत्माराम जी जैनमुनि प्रणीत "**जैनतत्त्वकलिकाविकास**" नामक पुस्तक का मैंने आरम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त अवलोकन किया । यद्यपि अनेक लेख सम्बान्धि-कार्यों में व्यग्र होने के कारण पुस्तक का अक्षरशः पाठ करने के लिये अवसर नहीं मिला तथापि तत्तत्प्रकरण के सिद्धान्तों पर भले प्रकार दृष्टि दी गई है, और किसी २ स्थल का अक्षरशः पाठ भी किया है पुस्तक के पढ़ने से प्रतीत होता है कि पुस्तक के रचयिता जैनसिद्धान्तों के ही केवल अभिज्ञ नहीं प्रत्युत जैन आकर ग्रन्थों के भी विशेष पण्डित हैं क्योंकि—जिन "नयकर्णिका" आदि ग्रन्थों में अन्य दर्शनों का खण्डन करते हुए जैनाभिमत नयों का स्वरूप वर्णन किया है उनके विशेष उद्धरण इस ग्रन्थ में सन्दर्भ की अनुकूलता रखते हुए दिये गये हैं । यह ग्रन्थ नौ कलिकाओं में समाप्त किया गया है । तथाहि--

१म कलिका में देवों का स्वरूप वर्णन करते हुए "अपूर्वज्ञानग्रहणं श्रुतभक्तिः प्रवचने भावना" इत्यादि से तीर्थङ्कर स्वरूप तथा उस पद की प्राप्ति आदि को दर्शाया गया है । **२य कलिका** में "धर्मदेव" किसे कहते हैं ऐसा प्रश्न उठाकर गुरु, आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि के स्वरूप का उचित रीति से निरूपण किया गया है जिसके जाने विना निराश्रित आत्मा अपने कल्याण मार्ग से सर्वथा भ्रष्ट रह कर संसारचक्र से मुक्त नहीं हो सक्ता । **३य कलिका** में धर्म स्वरूप का निरूपण करते हुए ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म, पाखण्डधर्म, कुलधर्मादि का स्वरूप भी उत्तमरीति से स्पष्ट किया है, एवं **चतुर्थी कलिका** में सामान्य गृहस्थ धर्म का स्वरूप, **पञ्चमी कलिका** में विशेष रूप से गृहस्थ धर्म का स्वरूप, **षष्ठी कलिका** में अस्तिकाय तथा दशविध धर्म का स्वरूप, **सप्तमी कलिका** में लोक स्वरूप निरूपण, **अष्टमी कलिका** में परमपुरुषार्थभूत मोक्ष का अत्यन्त स्फुट करके वर्णन किया है। **नवमी कलिका** में परिणाम पद अर्थात् जीव के परिणाम=पर्यायों का स्वरूप भी उत्तम रीति से दर्शाया गया है ।

ग्रन्थ कर्त्ता ने इस बात का भी बहुत ही ध्यान रखा है कि जो ग्रन्थों के उद्धरणों का ठीक २ निर्देश कर दिया है आजकल यह परिपाटी पाठ करने वालों के लिए बहुत ही लाभप्रद तथा कर्त्ता की योग्यता पर विश्वास उत्पन्न करने वाली देखी गई है । निःसन्देह यह ग्रन्थ जैन अजैन दोनों के लिए बहुत ही लाभकारी प्रतीत होता है। इस लघुकाय ग्रन्थ के पढ़ने से जैन प्रक्रिया का सिद्धान्त-रूप से ज्ञान हो सक्ता है । मेरे विचार में तो ग्रन्थ के रचयिता को बहुत काल पर्यन्त शास्त्र का मनन करने से बहुदर्शिता तथा बहुश्रुतत्व का लाभ हुआ होगा परन्तु यदि कोई भले प्रकार इस ग्रन्थ का मनन कर ले तो उसको अल्प आयास द्वारा जैन सिद्धान्त प्रक्रिया का बोध हो सक्ता हैं। पाठकों को चाहिए कि अवश्य ही न्यूनातिन्यून एकवार इसका परिशीलन करके कर्त्ता के प्रयत्न से लाभ उठावें, विशेषतः जैनमात्र को इस प्रयत्न से अपना उपकार मानना अत्यावश्यक प्रतीत होता है । यदि इस ग्रन्थ को किसी जैन पाठशाला में पाठ्यप्रणाली के अन्तर्गत किया जावे तो बहुत अच्छा मानता हूं, कार्यान्तर में व्यग्र होने से इसका अधिक महत्त्व लिखने में असमर्थ हूं ।

विद्वदनुचर—

कवितार्किक नृसिंहदेव शास्त्री,

दर्शनाचार्य ।

ता० १०-६-३२ ई०
प्रोफेसर
ओरियेण्टल कॉलेज, लाहौर

प्रस्तावना ।

जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को आहार, निद्रा भय, मैथुन और परिग्रह की आशा लगी रहती है और उनकी खोज के लिए दत्तचित्त होकर क्रियाओं में प्रवृत्ति की जाती है। ठीक उसी प्रकार दर्शन विषय में भी खोज की प्रवृत्ति होनी चाहिए । यावत्काल पर्यन्त दार्शनिक विषय में खोज नहीं की जाती तावत्कालपर्यन्त आत्मा स्वानुभव से भी वंचित ही रहता है। इस स्थान पर दर्शन नाम सिद्धान्त तथा विश्वास का है। जब तक किसी सिद्धान्त पर दृढ़ विश्वास नहीं होता तबतक आत्मा अभीष्ट क्रियाओं की सिद्धि में फलीभूत नहीं होता।

अब यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, किस स्थान (सिद्धांत) पर दृढ़ विश्वास किया जाए, क्योंकि, इस समय अनेक दर्शन दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि, यद्यपि वर्तमान काल में पूर्वकालवत् अनेक दर्शनों की सृष्टि उत्पन्न हो गई है वा हो रही है, तथापि सब दर्शनों का समवतार दो दर्शनों के अन्तर्गत हो जाता है। जैसे, आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन।

यदि इस स्थान पर ये शंका उत्पन्न की जाए कि, नास्तिक मत को दर्शन क्यों कहते हो? तब इस शंका के समाधान में कहा जाता है दर्शन शब्द का अर्थ है विश्वास (दृढ़ता) सो जिस आत्मा का मिथ्याविश्वास है अर्थात् जो आत्मा पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ दृष्टि से नहीं देखता है, उसीका नाम नास्तिक दर्शन है, क्योंकि, नास्तिक दर्शन आत्मा के अस्तित्वभाव को नहीं मानता है सो जब आत्मा का अस्तित्वभाव ही नहीं तो फिर भला पुण्य और पाप किसको तथा उसके फल भोगनेरूप नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव योनि कहाँ? अत एव निष्कर्ष यह निकला कि नास्तिक मत का मुख्य सिद्धान्त ऐहलौकिक सुखों का अनुभव करना ही है।

यद्यपि इस मत विषय वहुत कुछ लिखा जा सकता है तथापि प्रस्तावना में इस विषय में अधिक लिखना समुचित प्रतीत नहीं होता। सो यह मत आर्य पुरुषों के लिये त्याज्य है, क्योंकि, यह मत युक्ति बाधित और प्रमाणशून्य हैं। अतएव आस्तिकमत सर्वथा उपादेय है, इस लिये आस्तिक मत के आश्रित होना आर्य पुरुषों का परमोद्देश्य है। क्योंकि, आस्तिक मत का मुख्योद्देश्य अनुक्रमतापूर्वक निर्वाण प्राप्ति करना है।

यदि इस स्थान पर यह शंका उत्पन्न की जाए कि, आस्तिक किसे कहते हैं। तब इस शंका के उत्तर में कहा जाता है कि, जो पदार्थों के अस्तित्वभाव को मानता है तथा यों कहिये कि, जो पदार्थ अपने द्रव्य गुण और पर्याय में अस्तित्व रखते हैं, उनको उसी प्रकार माना जाए वा उनको उसी प्रकार से मानने वाला आस्तिक कहलाता है।

व्याकरण शास्त्र में आस्तिक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से कथन की गई है, जैसे कि— **दैष्टिकास्तिकनास्तिकाः** (शाकटायन व्याकरण अ० ३ पा० २ सू० ६१) दैष्टिकावयस्तदस्येति षष्ठ्यर्थे ठणन्ता निपात्यन्ते। दिष्टा प्रमाणानुपातिनी मतिरस्य दिष्टं दैवं प्रमाणमिव मतिरस्येति दैष्टिकः। अस्ति परलोकः पुण्यं पापमिति च मतिरस्येत्यास्तिकः। एवं नास्तीति नास्तिकः।

इस सूत्र में इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है कि, जो परलोक और पुण्य पाप को मानता है उसी का नाम आस्तिक है। अतएव आस्तिक मत में कई प्रकार के दर्शन प्रकट हो रहे हैं। जिज्ञासुओं को उनके देखने से कई प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न हो रही हैं वा उनके पठन से परस्पर मतभेद दिखाई दे रहा है, सो उन शंकाओं के मिटाने के लिए वा मतभेद का विरोध दूर करने के लिये प्रत्येक जन को जैनदर्शन का स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि, यह दर्शन परम आस्तिक और पदार्थों के स्वरूप का स्याद्वाद की शैली से वर्णन करता है। क्योंकि, यदि सापेक्षिक भाव से पदार्थों का स्वरूप वर्णन किया जाए तब किसी भी विरोध के रहने को स्थान उपलब्ध नहीं रहता। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक जन को जैनदर्शन का स्वाध्याय करना चाहिये।

अब इस स्थान पर यह शंका उत्पन्न होती है कि, जैन दर्शन के स्वाध्याय के लिये कौन २ से जैनग्रंथ पठन करने चाहिएँ? इस शंका के समाधान में कहा जाता है कि, जैनागमग्रंथ वा जैन प्रकरण ग्रंथ अनेक विद्यमान हैं, परन्तु वे ग्रंथ प्रायः प्राकृत भाषा में वा संस्कृत भाषा में हैं तथा बहुत से ग्रंथ जैनतत्त्व को प्रकाशित करने के हेतु से हिन्दी भाषा में भी प्रकाशित हो चुके हैं वा हो रहे हैं, उन ग्रंथों में उनके कर्ताओं ने अपने अपने विचारानुकूल प्रकरणों की रचना की है। अतएव जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे उक्त ग्रंथों का स्वाध्याय अवश्य करें।

अब इस स्थान पर यह भी शंका उत्पन्न हो सकती है कि, जब ग्रंथसंग्रह सर्व प्रकार से विद्यमान हैं। तो फिर इस ग्रंथ के लिखने की क्या आवश्यकता थी? इस शंका के उत्तर में कहा जासकता है कि, अनेक ग्रन्थों के होने पर भी इस ग्रंथ के लिखे जाने का मुख्योद्देश्य यह है कि, मेरे अंतःकरण में चिरकाल से यह विचार विद्यमान था कि, एक ग्रंथ इस प्रकार से लिखा जाय जो परस्पर साम्प्रदायिक विरोध से सर्वथा विमुक्त हो और उस में केवल जैन तत्त्वों का ही जनता को दिग्दर्शन कराया जाय, जिस से जैनेतर लोगों को भी जैन तत्त्वों का भली भांति बोध हो जाए।

सो इस उद्देश्य को ही मुख्य रख कर इस ग्रंथ की रचना की गई है। जहाँ तक हो सका है, इस विषय की पूर्त्ति करने में विशेष चेष्टा की गई है। जिस का पाठक गण पढ़कर स्वयं ही अनुभव कर लेगें क्योंकि, देव गुरु धर्मादि विषयों का स्वरूप स्पष्ट रूप से लिखा गया है, जो प्रत्येक आस्तिक के मनन करने योग्य है। और साथ ही जीवादि तत्त्वों का स्वरूप भी जैन आगम ग्रंथों के मूल सूत्रों के मूलपाठ वा मूलसूत्रों के आधार से लिखा गया है, जो प्रत्येक जन के लिये पठनीय है।

आशा है, पाठकगण इस के स्वाध्याय से अवश्य ही लाभ उठा कर मोक्षाधिकारी बनेंगे। अलम् विद्वत्सु।

भवदीय—

उपाध्याय जैनमुनि आत्माराम।

समर्पण।

श्रीमद् गणावच्छेदक वा स्थविरपदवि-
भूषित स्वर्गीय श्रीश्रीश्री स्वामी गणपति राय
जी महाराज !

आप की महती कृपा से इस दास को
जैन धर्म की प्राप्ति हुई है, आपने ही इस
दास को जैनतत्त्वों का अभ्यास कराया था।
अतः आप के सद्गुणों में मुग्ध होता हुआ
और आप के अपार उपकारों का स्मरण
करता हुआ मैं इस ग्रन्थ को आप के कर-
कमलों में सादर समर्पण करता हूँ।

उपाध्याय जैनमुनि आत्माराम।

राय साहिब लाला रघुवीरसिंह जैन

धन्यवाद।

जैन तत्त्व कालिका विकास के प्रकाशन का कुल व्यय श्रीमान् राय साहिब लाला रघुवीर सिंह जी ने प्रदान किया है जिसके लिये हम समस्त जैन जाति की ओर से उनका हार्दिक धन्यवाद करते हैं। आपका जन्म २३ जनवरी सन् १८८४ को हुआ था। आप एक सुप्रसिद्ध खानदान कानूनगोयां कस्बा हांसी के हैं। आपके पिता लाला शेरसिंह जी हांसी के प्रसिद्ध मालगुज़ार थे और बहुत समय म्युनिसिपल कमेटी हांसी के उपप्रधान (वायस प्रेज़ीडेंट) रहे। आप एक अच्छे ज़ैलदार गिने जाते थे। आपके पितामह (दादा) ला० रणजीत सिंह जी भी चिरकाल तक कस्टम डिपार्टमेंट में अच्छे अच्छे पदों पर नियुक्त रहे।

पिछले दर्बार ताजपोशी के समय आप देहली में नायब तहसीलदार थे और तत्पश्चात् अम्बाले में बहुत दिनों तक आप S.V.O. रहे। अम्बाला दिगम्बर जैन सभा के आप प्रधान भी रहे। वहां पर आपको जैनधर्म वा स्वधर्मी भाइयों की सेवा का अच्छा अवसर मिला। आप हर एक की उन्नति का विशेष ध्यान रखते थे। आपकी योग्यता का लक्ष्य रखकर गवर्नमेंट ने आपको शिमला के निकटवर्त्ती अर्की रयासत का मैनेजर बनाकर भेजा। प्रजा के हितार्थ आपने वहां अनेक कार्य किए और अच्छी प्रशंसा प्राप्त की। तत्पश्चात् गवर्नमेंट ने आपको नालागढ़ रियासत का वज़ीर बनाकर भेजा। वहां के शासन को दृढ़ता के साथ न्याय पूर्वक चलाकर प्रजा को सन्तुष्ट किया और रियासत की माली हालत को अच्छा बनाया। जनता के हित के लिये आपने नालागढ़ में बहुत सारे कार्य किए। और उनके लाभ के लिए बड़ी बड़ी इमारतें बनवाईं। जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्त 'अहिंसा' का आप सदैव सुचारु रूप से पालन करवाते थे। जैनियों के सर्व प्रधान संवत्सरी पर्व के आठ दिनों में आपने राजाज्ञा से उक्त रियासत में शिकार खेलना और मांस भक्षणादि करना तथा कसाबखाना वग़ैरह सब बन्द करा दिए थे। आप के कार्य से सन्तुष्ट होकर सन् १९२४ में सरकार ने आपको राय साहिब के टाइटिल (पदवी) से विभूषित किया।

तत्पश्चात् मिंटगुमरी, रोहतक, मियांवाली व लुधियाने में आप अफ़सर माल रहे। जब आप लुधियाने में थे तब आपको श्रीश्रीश्री १००८ गणावच्छे-

दक वा स्थविरपदविभूषित जैनमुनि स्वामी गणपतराय जी महाराज के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय श्री उपाध्याय जी महाराज ने आपको निजलिखित जैनतत्त्वकलिकाविकास ग्रंथ का पूर्वार्द्ध दिखलाया। उसको देखकर वा सुनकर आपने स्वकीय भाव प्रकट किये कि यह ग्रंथ जैन और जैनेतर जनता में जैन धर्म के प्रचार के लिये अत्युत्तम है। साथ ही आपने इसके मुद्रणादिव्यय के लिये अपनी उदारता दिखलाई जिसके लिए समस्त श्री संघ आपका आभारी है। प्रत्येक जैन के लिए आपकी उदारता अनुकरणीय है। यह सब आपकी योग्यता का ही आदर्श है। आज कल आप करनाल में अफ़सर माल लगे हुए हैं।

आपके सुपुत्र लाला चन्द्रबल बी. ए. एल. एल. बी पास करके अम्बाले में वकालत कर रहे हैं। जिस प्रकार वट वृक्ष फलता और फूलता है ठीक उसी प्रकार आपका ख़ानदान और आपका परिवार फल फूल रहा है। यह सब धर्म का ही माहात्म्य है। अतएव हमारी सर्व जैनधर्म प्रेमियों से नम्र और सविनय प्रार्थना है कि आप श्रीमान् राय साहिब का अनुकरण कर सांसारिक व धार्मिक उन्नित करके निर्वाण पद के अधिकारी बनें।

भवदीय सद्गुणानुरागी

श्री जैन संघ,

लुधियाना (पंजाब)

श्रीः

विषयानुक्रमणिका

प्रथमा कलिका

द्वितीया कलिका

तृतीया कलिका

चतुर्थी कलिका.

पञ्चमी कलिका

षष्ठी कलिका

सप्तमी कलिका

अष्टमी कलिका

नवमी कलिका

जिस महात्मा के चित्र का दर्शन करके पाठक जन अपने हृदय तथा नेत्रों को पवित्र कर रहे हैं उन का शुभ नाम है "श्री १००८ गणावच्छेदक वा स्थविरपद-विभूषित श्रीमद् गणपतिरायजी महाराज। आपका जन्म स्यालकोट जिला के अन्तर्गत पसरूर नामक शहर में श्रीविक्रमाब्द १६०६ भाद्रपद कृष्ण तृतीया मंगलवार के दिन त्रिपंखिया गोत्रीय (काश्यपगोत्रान्तर्गत) लाला गुरुदास मल्ल श्रीमाल की धर्मपत्नी श्रीमती गोर्यां की कुक्षि से हुआ था आपके निहालचन्द्र १ लालचन्द्र २ पालामल ३ पंजुमल चार भ्राता थे और निहालदेवी १ पाली देवी २ और तोती देवी ३ ये तीन भगिनियां थीं। आपका शैशव काल बड़े ही आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ और युवावस्था प्राप्त होने पर नूनार ग्राम में वि. संवत् १६२४ में आपका विवाह संस्कार हुआ । आप सराफ़ी की दुकान करने

लगे । आपकी बुद्धि बड़ी ही निपुण थी । आप चांदी और सुवर्णादि पदार्थों की तीक्ष्ण बुद्धि से परीक्षा किया करते थे । आपकी रुचि धर्मक्रिया में भी विशेष थी, अतएव आप धर्मक्रियाओं में विशेष भाग लिया करते थे । सांसारिक पदार्थों से आप की स्वभाव से ही अरुचि थी । संसार के सुखों को आप बंधन समझते और सदैव काल धार्मिक क्रियाओं के आसेवन करने की इच्छा विशेष रखते थे ।

वैराग्य भाव उत्पन्न होने का वृत्तान्त ।

एकदा कारणवशात् आप मुकाम नारोवाल की ओर गये । जब आप लाटकर पीछे को आरहे थे मार्ग में एक नदी आई जो कि—डेक के नाम से प्रसिद्ध थी । वह नदी ऐसी है जहां नौका तो नहीं चलती परंच केवट वहां रहता था। वह पंथियों को अपने सहारे से हाथ पकड़ कर पार कर देता था । आपने नदी पर आकर उस केवट को कहा हमें पार पहुंचा दो । उस समय अन्य भी दो पुरुष पार जाने वाले आपके साथ थे । तब उस केवट ने आप तीनों के हाथ पकड़ कर पार पहुं-चाना स्वीकार कर लिया । किंतु जब आप उसका हाथ पकड़ कर नदी के मध्य में पहुंचे तब अकस्मात् पीछे से नदी में बाढ़ अर्थात् बहुत सा जल आगया इस लिए पार होना अत्यन्त दुष्कर हो गया, तब केवट ने सोचा, यदि मैं इनके पास रहा तो ये मुझे भी अपने साथ दुःख का भागी बनायेंगे, अतः वह खेवट आप सब से अपने आपको छुड़ा कर आगे निकल गया, पश्चात् आप तीनों जल में बहने लगे। जीवित रहने की आशा टूट गई । उस समय आप के यह प्रणाम हुए कि—यदि मैं इस कष्ट से बच जाऊं तो गृहस्थाश्रम को त्याग कर मुनिवृत्ति को धारण कर लूंगा, तब दैवयोग से वा पुण्य के प्रभाव से अथवा आयुष्कर्म के दीर्घ होने के कारण जल के प्रवाह ने ही आपको नदी के तीर (किनारे) पर पहुंचा दिया, किन्तु जो आप के दो और साथी थे वे दोनों कुछ दूर जाकर जल में डूब कर मर गये । वहां से शीघ्र ही आप घर पर आए तथा समस्त वृत्तान्त सुनाया । आपका कष्ट दूर होने का समा-चार सुन कर सारा परिवार अतीव हर्षित हुआ । पुनः आपने अपनी प्रतिज्ञा पालन करने के वास्ते दीक्षा की आज्ञा मांगी, किन्तु यह सुनते ही सबको चिंता और शोक ने व्याकुल कर दिया । आपको संसारी पदार्थों का बहुत सा लोभ दिखाया गया, परन्तु क्या कमल एक बार पंक से निकल कर फिर उस में लिप्त हो सकता है ? कदापि नहीं, ऐसे ही जब आपका मन संसार से उदासीन होगया भला फिर वह इस में कैसे फंसे ? जब आपको आज्ञा न मिली तब आपने सांसारिक कार्यों को छोड़ कर केवल धर्ममय जीवन बिताने के लिये जैन उपाश्रय में ही निवास कर लिया । उस समय श्री दूलोराय जी वा श्री १००८ पूज्य सोहनलाल जी महाराज भी

अपने नानाके घर पसरूर में ही रहते थे। यह और अन्य कतिपय गृहस्थ वैराग्य भाव को धारण कर अपने जीवन को पवित्र बनाने के लिये धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगे। फिर परस्पर के संसर्ग से सब का ही वैराग्य भाव बढ़ता चला गया। जब सब ने यह ही क्रिया धारण करली तब सबको आज्ञा मिल गई।

दीक्षाविषय।

कुटुम्बियों से आज्ञा प्राप्त होते ही प्रसन्नता पूर्वक सबके सब दीक्षा के लिए शहर से चल पड़े, उन दिनों में श्री श्री श्री १००८ आचार्य वर्य श्री पूज्य अमरसिंह जी महाराज अमृतसर में विराजमान थे। श्री दूलोराय जी १ श्री शिवदयाल जी २ श्री सोहनलाल जी ३ श्री गणपतिराय जी ४ ये चारों वैरागी पुरुष श्री पूज्य अमरसिंह जी महाराज के चरण कमलों में उपस्थित होगए। तब श्री पूज्य (आचार्य) महाराज ने चारों को अपने अमूल्य उपदेश द्वारा और भी वैराग्य भाव में दृढ़ किया। सांसारिक पदार्थों की अनित्यता दिखलाई। जब उक्त चारों महापुरुषों का वैराग्य भाव उच्च कोटि पर पहुंच गया तब श्री पूज्य महाराज ने उक्त चारों महापुरुषों को १९३३ मार्गशीर्ष शुक्ला ५ चन्द्रवार के दिन बड़े समारोह के साथ दीक्षित किया। उन दिनों में श्री पूज्य मोतीराम जी महाराज नालागढ़ में विराजमान थे। तब श्री पूज्य अमरसिंह जी महाराज ने श्री गणपतिराय जी महाराज को श्री पूज्य मोतीराम जी महाराज की निश्राय कर दिया। तब आपने उसी दिन से अपना पवित्र समय ज्ञान और ध्यान में लगाना आरम्भ किया। जब आप श्री पूज्य मोतीराम जी महाराज के चरणों में उपस्थित हुए तब आप साधु क्रिया और श्रुताध्ययन विशेष रूप से करने लगे। विशेष ध्यान आपका साधु क्रिया और वैयावृत्य वा गुरु भक्ति पर था जिस कारण शीघ्र ही गच्छ वा श्री संघ में आप सुप्रसिद्ध होगए। आप की सौम्याकृति, नम्रता, साधुभक्ति प्रत्येक व्यक्ति के मन को मुग्ध करती थी। दीर्घदर्शिता और समयानुसार वर्ताव ये दोनों बातें आप की अनुपम थीं। तत्पश्चात् आपने निम्नलिखित अनुसार चातुर्मास किये जैसे कि--

१९३४ का चतुर्मास आपने श्री पूज्य मोतीराम जी के साथ अम्बाला ज़िले के अन्तर्गत खरड़ शहर में किया।

१९३५ का चतुर्मास आपने बहुत से क्षेत्रों में विचर कर स्यालकोट में किया।

१९३६ का चतुर्मास आपने श्री पूज्य महाराज के साथ जम्बू शहर में किया।

१९३७ का चतुर्मास पसरूर शहर में किया।

१९३८ का चतुर्मास लुधियाना शहर में किया।

१—सम्वत् १९३८ में श्रीमदाचार्य श्री १००८ पूज्य अमरसिंह जी महाराज का अमृतसर में स्वर्गवास हो गया था तब श्री संघने १९३९ में मालेरकोटला में श्री मोतीराम जी

१९३९ का चतुर्मास अम्बाला शहर में किया। (इस चतुर्मास में श्रीश्रीश्री१००८ पूज्य सोहनलाल जी महाराज, श्री १००८ गणावच्छेदक, स्थविरपद-विभूषित स्वामी गणपतिराय जी महाराज ठाणे चार थे। उसी समय में संवेगी साधु मूर्त्तिपूजक आत्माराम जी का चतुर्मास भी अम्बाला शहर में ही था)।

१९४० का चतुर्मास आपने श्री पूज्य मोतीराम जी महाराज के साथ नालागढ़ में किया

१९४१ का चतुर्मास लुध्याना शहर में किया

१९४२ का चतुर्मास फिर लुध्याना में ही किया। उन दिनों में श्री विलासराय जी महाराज ने चतुर्मास लुध्याना में ही किया था। उन की सेवा के लिये आपने उन्हीं के चरणों में वहीं पर चतुर्मास किया

१९४३ का चतुर्मास आपने नाभा रियासत के अन्तर्गत छीटांवाले शहर में किया।

१९४४ का चतुर्मास फिर आपने श्री पूज्य महाराज के साथ नालागढ़ में किया।

१९४५ का चतुर्मास आपने माछीवाड़ा में किया।

१९४६ का चतुर्मास आपने पटियाले शहर में किया।

१९४७ का चतुर्मास आपने रायकोट शहर में किया।

१९४८ का चतुर्मास आपने फरीदकोट शहर में किया।

१९४९ का चतुर्मास आपने पटियाले शहर में किया।

१९५० का चतुर्मास आपने मलेरकोटले शहर में किया।

१९५१ का चतुर्मास आपने अम्बाला शहर में किया।

१९५२ का चतुर्मास आपने लुध्याना शहर में ही किया।

इसके पश्चात् श्री आचार्यवर्य क्षमा के समुद्र श्री पूज्य मोतीराम जी महाराज जंघाबल क्षीण होजाने के कारण लुध्याना शहर में ही विराजमान होगए और उनकी सेवा करने के लिए ५३-५४-५५-५६-५७-५८ के सर्व चतुर्मास आपने भी लुध्याना में ही किये। इन चतुर्मासों में जो धर्मवृद्धि हुई, उसका वृत्तान्त श्री पूज्य मोतीराम जी महाराज के जीवन चरित्र में लिखा जा चुका है। जब आश्विन कृष्णा १२ को श्री पूज्य मोतीराम जी महाराज का स्वर्गवास होगया तब आपने चतुर्मास के पश्चात् पटियाले शहर में श्री श्री श्री१००८ पूज्य आचार्यवर्य पूज्य मोतीराम जी महाराज की आज्ञानुसार श्री श्री श्री१००८ पूज्य सोहनलाल जी महाराज को आचार्य पद की चादर

महाराज को आचार्य पद पर स्थापित किया था। इस विषय का वृत्तान्त श्री अमरसिंह जी महाराज के जीवनचरित्र वा श्री मोतीराम जी महाराज के जीवन में देखो।

दी । इस समय श्री श्री श्री १००८ स्वामी लालचन्द्र जी महाराज भी पटियाले में ही विराजमान थे । आप आचार्य पद देने के पश्चात् अम्बाला और साढौरा की ओर विहार कर गये । फिर आप साढौरा, अम्बाला, पटियाला, नाभा, मलेरकोटला, रामदेकोट, फीरोज़पुर, कसूर, लाहौर होते हुए गुजरांवाले में पधार गए । वहां पर रावलपिंडी वाले श्रावकों की अत्यन्त विज्ञप्ति होने से फिर आपने रावलपिंडी की ओर विहार कर दिया । मार्ग में वज़ीराबाद, कुंजाह, जेहलम, रोहतास, कल्लर, में धर्मोपदेश देते हुए आप रावलपिंडी में विराजमान होगये । १६५८ का चतुर्मास आपने अपने मुनि-परिवार के साथ रावलपिंडी शहर में ही किया । इस चतुर्मास में धर्मप्रचार बहुत ही हुआ । इसके अनन्तर आप अनुक्रम से धर्मप्रचार करते हुए स्यालकोट में पधार गए । वहां पर भी अत्यन्त धर्मप्रचार होने लगा, वहां के श्रावकवर्ग ने आपको चातु-र्मास विषयक विज्ञप्ति की । फिर आप श्री जी ने श्रावकवर्ग का अत्यन्त आग्रह देख-कर उनकी विज्ञप्ति को स्वीकार कर १६६० का चतुर्मास स्यालकोट का मान लिया । बीच का शेष काल अमृतसर, जम्बू आदि क्षेत्रों में धर्मप्रचार करके १६६० का चतुर्मास स्यालकोट में आपने किया । चतुर्मास में बहुत से धर्मकार्य हुए । चतुर्मास के पश्चात् आप अमृतसर पधारे । वहां पर श्री पूज्य सोहनलाल जी महाराज वा मारवाड़ी साधु श्री देवीलाल जी महाराज वा अन्य साधु वा आर्यिकायें भी एकत्र हुए थे । उन दिनों में गच्छ में बहुत सी उपाधियें भी वितीर्ण हुई थीं, । उसी समय आपको "गणावच्छे-दक" वा "स्थविर" पद से विभूषित किया गया था । इसके पीछे आपने वहां से विहार कर दिया । किंतु आपको श्वास रोग (दमा) प्रादुर्भूत होगया । जिस कारण बहुत दूर विहार करने में बाधा उत्पन्न होगई । तब आपने १६६१ का चतुर्मास फरीद-कोट शहर में कर दिया ।

१६६२ का चतुर्मास आपने पटियाले में किया ।

१६६३ का अम्बाला शहर में किया । तब आपके साथ चतुर्मास से पूर्व मारवाड़ी साधु भी कितना काल विचरते रहे ।

१६६४ का चतुर्मास आपने रोपड शहर में किया । इस चतुर्मास में जैनेतर लोगों को धर्म का बहुत सा लाभ पहुंचा । नागरिक लोग आपकी सेवा में दत्तचित्त होकर धर्म का लाभ विशेष उठाने लग गये । किंतु श्वासरोग (दमा) का कई प्रकार से प्रतिकार किये जाने पर भी वह शान्त न हुआ । अतएव आपको कई नगरों के लोग स्थिरवास रहने की विज्ञप्ति करने लगे; किंतु आपने उनकी विज्ञप्ति को स्वीकृत नहीं किया । अपने आत्मबल से विचरते ही रहे । कई वार आपको मार्ग में वा ग्रामों में श्वासरोग का प्रबल वेग (दौरा) होगया, जिस कारण आपकी शिष्य मंडली को वस्त्र की डोली

बनाकर नगर में प्रवेश करना पड़ता था। कितना ही काल आप इसी प्रकार विचरते रहे।

१९६५ का चतुर्मास खरड शहर में किया।

१९६६ का चातुर्मास आपने फरीदकोट में किया। फिर आपने चतुर्मास के पश्चात् कई नगरों में विचर कर

१९६७ का चतुर्मास लाला गौरीशंकर वा लाला परमानन्द बी-ए-एल-एल-बी के स्थान में कसूर शहर में किया

१९६८ का चतुर्मास आपने अम्बाला शहर में किया।

जब आप राजपुरा से आषाढ़ मास में अम्बाला की ओर पधार रहे थे तब आपके साथ एक दैवी घटना हुई। जैसेकि--जब आपने राजपुरा से अम्बाला की ओर विहार किया तब आपका विचार था कि--मुगल की सराय में ठहरेंगे। मार्ग में राजकीय सड़क पर एक पुल था, और उस पुल के पास ही एक बड़ा विशाल वृक्ष था जिसकी शाखाएँ और प्रतिशाखाएँ पुलपर फैली हुई थीं। उस वृक्ष की छाया में आप अपने मुनियों के साथ विराजमान होगए। पानी के पात्र खोलकर रख दिए। अन्य जो साधुओं के वस्त्रादि उपकरण थे वे स्वेद (पसीने) से आर्द्र (गीले) थे, वे भी शुष्क होने के लिए फैलादिए गए। आपका विचार था कि--थोड़ा सा दिन रहते हुए सराय में पहुंच जाएंगे। उसी समय अम्बाला शहर का श्रावक वर्ग भी आपके दर्शनों के लिये उसी स्थानपर पहुंच गया। उन्हें भी आप श्रीजीने फरमाया कि--हम थोड़े से दिन के साथ सराय पहुंचेंगे तब श्रावक वर्ग मांगलिक पाठ को सुन कर वहां से वापिस चल पड़ा। तत्पश्चात् उसी समय एक पुरुष श्रीमहाराज जी के पास अकस्मात् आकर खड़ा होगया, और टिकटिकी लगाकर साधुओं के उपकरण को देखने लगा। आप श्री जी ने फरमाया कि—क्यों देखते हो? ये तो साधुओं के पुस्तक वा पात्र तथा वस्त्र हैं और साधुवृत्ति इस प्रकार की होती है तब वह पुरुष आप श्री जी के साथ इस प्रकार वार्तालाप करने लगा जैसे कि—

पुरुष—आप कौन हैं?

श्रीमहाराज—हम साधु हैं।

पुरुष—ये पदार्थ क्या हैं

श्रीम०—ये वस्त्रादि साधुओं के उपकरण हैं अर्थात् धर्म-साधन के पदार्थ हैं।

पुरुष—आप इस स्थान से उठ जाइये

श्रीम०—क्यों?

पुरुष—यह वृक्ष गिरने वाला है।

श्री म०—इस समय तो प्रचंड वायु आदि का भी कोई उत्पात नहीं तो फिर क्यों कर गिर जायगा ?

पुरुष—यूं भी गिर जाया करता है।

तब श्री महाराज वा अन्य साधु उठ कर अन्यत्र गये। तब उस पुरुष ने कहा कि—आप शीघ्रता न करें, पहले अपना उपकरण उठालें, फिर यह वृक्ष गिरेगा। तब साधुओं ने शान्तिपूर्वक उपकरण उठाकर अन्य स्थान पर रख दिये और आप शान्ति-पूर्वक बैठ गये। इतना कह कर वह पुरुष अदृश्य होगया, और उसी समय उस वृक्ष की महती (बड़ी) शाखा जो उस पुल पर फैली हुई थी अकस्मात् गिरी, जिस से पुल का मार्ग ही बंद होगया। शाखा के गिरते (टूटते) समय इतना भयंकर शब्द हुआ कि जो श्रावकवर्ग दर्शन करके सराय की ओर जा रहा था, उनको भी सुनाई पड़ा। तब वे लोग बहुत ही शीघ्र श्रीमहाराज के दर्शनों के लिये फिर उसी स्थान पर गए। दर्शन करके बहुत ही आनंदित हुए। जब उन्होंने उक्त वृत्तान्त को सुना तब उनके हर्ष का पारावार न रहा फिर वे धन्य २ करते और आपकी स्तुति करते हुए पुनः वापिस चले गये।

एक समय आप नाभा से विहार कर पटियाले की ओर जा रहे थे, तब आप को एक जंगल में चीता (शेर की आकृति का हिंसक पशु) मिला, आप उस को देखकर निर्भीक खड़े हो गए। तब वह आप को देखकर शान्ति-पूर्वक आप के पास से गुज़र कर जंगल की ओर ही चला गया। यह सब आप के संयम और शान्ति का ही माहात्म्य था क्योंकि—प्रत्येक प्राणी के साथ आप की निर्वैरता थी, उसी का यह माहात्म्य था। निर्वैरता के ही कारण हिंसक जीव भी आपके प्रति निर्वैरता का ही परिचय देते थे। अम्बाला के चतुर्मास का वृत्तान्त है कि—एक समय वर्षा होने के पश्चात् मध्याह्न काल में शहर से बहुत दूरी पर आप मुनियों के साथ बाहिर गए। जब आप अपनी नैत्यिक क्रियाओं से निवृत्त होकर शहर की ओर पधार रहे थे, तब मार्ग में आप को सांप मिला। वह भी आप के साथ ही साथ चलने लगा। इस प्रकार आपके साथ चलता था जिस प्रकार आप का शिष्यवर्ग आप के साथ गमन करता था। जब आप मार्ग परिवर्तन करने लगे, तब आपने फरमाया कि—ऐसे न हो इसे कोई मार डाले। इतना वाक्य आप के मुख से सुनते ही वह सांप आपके देखते ही देखते एक झाड़ में प्रविष्ट होगया। पश्चात् आप शहर में पधार गए। यह सब शान्ति का ही माहात्म्य था कि जो हिंसक जीव भी आप के साथ भद्रता का ही परिचय देते थे। फीरोज़पुर शहर में भी ऐसी ही एक घटना हुई थी। जब आप नैत्यिक क्रियाओं से निवृत्त होने

के लिए बाहिर गए तब आप को एक महाभयंकर काला नाग जो अनुमान से दो गज़ लम्बा, और बहुत ही स्थूल था मिला, जिस की गति बड़ी शीघ्र थी; उस को देखकर पक्षीगण चिल्लाते थे। वह आप के पास आकर इतना ही नहीं किंतु आप को भली प्रकार देख कर आगे चला गया। इस प्रकार कई बार आप को हिंसक जीव मिले किन्तु आप की अहिंसा के माहात्म्य से उन्हों ने भी अपनी भद्रता का ही परिचय दिया। व्याघ्र तो आपको कई वार मिले थे।

यह सब अहिंसा और सत्य का ही माहात्म्य है, जो हिंसक जीव भी अहिंसकों की तरह बर्ताव करने लग जाते हैं। फिर आप ने १९६९ का चतुर्मास लुध्याना में किया।

इस चतुर्मास में धर्मप्रचार बहुत ही हुआ। चतुर्मास के पश्चात् विहार कर ग्रामानुग्राम धर्मोपदेश देते हुए १९७० का चतुर्मास आपने फ़रीदकोट में किया। इस चतुर्मास में जैन और जैनेतर लोगों को विशेष धर्म लाभ हुआ। १९७१ का चतुर्मास आपने कसूर शहर में किया। १९७२ का चतुर्मास आपने नाभा में किया। इस चतुर्मास में आप को श्वास रोग ने अत्यन्त खेदित किया. किंतु आप की शान्ति और सहनशक्ति इतनी प्रबल थी कि--किसी प्रकार से भी आप धैर्य नहीं छोड़ते थे। उन दिनों में मुनि श्री ज्ञानचन्द्र जी महाराज चतुर्मास के पश्चात् नाभा से विहार कर वरनाला मंडी पहुंचे थे किंतु उनको अजीर्ण होगया था। वहां पर योग्य प्रतिकार होने पर भी रोग शान्त नहीं हुआ। तब आप ने नाभा से विहार किया, वरनाला मंडी में उस मुनि को दर्शन दिये। जब मुनि ज्ञानचन्द्र जी का स्वर्गवास होगया तब आपने बहुत से भाइयों की प्रार्थना पर लुध्याना के चतुर्मास की विज्ञप्ति स्वीकार करली। तब आपने १९७३ का चतुर्मास लुध्याना में किया। चतुर्मास के पश्चात् जब आप विहार के लिये तैय्यार हुए तब आप श्री जी को लुध्याना निवासी श्रावकमंडल ने विज्ञप्ति की कि—हे भगवन्! आप का शरीर बहुत ही निर्बल होगया है। श्वासरोग के कारण आप अपनी जंघा बल से चल भी नहीं सकते, ग्राम २ में डोली बना कर विचरना यह भी ठीक नहीं है। अतएव इसी स्थान पर स्थिरवास करने की कृपा करें। जिस प्रकार श्री श्री श्री १००८ आचार्यवर्य श्री ३ पूज्य मोतीराम जी महाराज की इस शहर पर अपार कृपा थी उसी प्रकार आप श्री जी की भी अपार कृपा है। अतएव यहां पर ही विराजिये, तब श्रीमहाराज जी ने उक्त श्रावकवर्ग की विज्ञप्ति को स्वीकार कर लिया, और लुध्याना में ही विराजमान होगए। आपके विराजमान होने से कई प्रकार के धर्मकार्य होने लगे जैसेकि—पुस्तक प्रकाशन, वा युवक मंडल की स्थापना इत्यादि। फिर आपके दर्शनों के लिये अनेक साधु साध्वियें श्रावक और श्राविकाएं आने लगे। १९७९ के वर्ष में जब आप की आंखों में मोतिया उतरने लगा, तब श्रीमान् डाक्टर

मथुरा दास जी मोगानिवासी की सम्मत्यनुसार आप श्रीको साधु वस्त्र की डोली बना कर मोगा मंडी में लेगए। डाक्टर साहब ने बड़े प्रेम से आप की आंखों का प्रतिकार किया आप श्री जी की दोनों आंखों से मोतिया निकाला गया। आपकी दृष्टि ठीक होगई, फिर आप श्री जी को उसी प्रकार साधु वस्त्र की डोली में बैठा कर लुध्याना में ही ले आए। आप श्री जी के लुध्याना में विराजने से नगरनिवासी प्रायः, प्रत्येक जन को प्रसन्नता थी। जिस प्रकार जैन संघ आप की भक्ति में दत्तचित्त था उसी प्रकार जैनेतर लोग भी आपकी भक्ति करके अपने जीवन को सफल मानते थे। आप का प्रेमभाव प्रत्येक जन के साथ था। इसी कारण प्रत्येक अन्यमतावलम्बी भी आपको पूज्य दृष्टि से देखता था, और दर्शन करके अपने आप को कृतकृत्य समझता था। यह आपके सत्योपदेश का ही फल है जो लुध्याना में 'जैनकन्या पाठशाला' नाम की संस्था भली प्रकार से चलरही है। अनुमान सवा दोसौ २२५ कन्याएं शिक्षा पारही हैं। इस पाठशाला में सांसारिक शिक्षा के अतिरिक्त कन्याओं को धार्मिक शिक्षा भी भली प्रकार से दी जारही है। पञ्जाब प्रान्त में, स्थानकवासी जैनसमाज में यह एक ही पाठशाला है। इस का सुप्रबन्ध और नियमपूर्वक संचालन इस के कर्मचारी भली प्रकार से कर रहे हैं। आपके वचन में एक ऐसी अलौकिक शक्ति थी, जो प्रत्येक जन को हितशिक्षा प्रदान करती थी। आप के मधुर वाक्य स्वल्पाक्षर और गंभीरार्थ होते थे। सदैवकाल आप आत्मविचार तथा मौनवृत्ति से समय विशेष व्यतीत करते थे। आपकी प्रत्येक वार्ता शिक्षा प्रद थी। कालगति बड़ी विचित्र है। यह किसी का ध्यान नहीं करती कि-यह धर्मात्मा है या पापिष्ट। यही गति स्वामी जी के साथ हुई। १६८८ ज्येष्ट कृष्ण २५ शुक्रवार के दिन स्वामी जी ने पाक्षिक व्रत किया।

वृद्धावस्था के कारण आप को खेद तो रहा ही करता था, किन्तु पारने के दिन शनिवार को आप को वमन और विरेचन लग गए, जिस से आप अत्यन्त निर्बल होगए, तब सायंकाल आप ने अन्य साधुओं से कहा कि मुझे अनशन करादो, उस समय साधुओं ने आप को सागारी अनशन करा दिया। उस समय आप ने आलोचना द्वारा भली प्रकार आत्मविशुद्धि की और सब जीवों के प्रति अन्तःकरण से क्षमापन किया। रविवार के दिन आपने औषध को छोड़ कर फिर सागारी अनशन कर दिया। रविवार को १२ बजे के पश्चात् आप की दशा चिंताजनक होगई। सायंकाल फिर आपने चार आहार का त्याग करादिया। सोमवार प्रातःकाल जब डाक्टर और वैद्य ने आप को देखा तो निश्चय हुआ कि-अब दशा विशेष चिंताजनक होगई है, तब आपको निरागार यावज्जीव पर्यन्त अनशन कराया गया। आप शान्ति से लेटे हुए थे, और आप के पास साधुवर्ग वा श्रावकवर्ग बैठा हुआ था जो आपको सूत्रपाठ सुना रहे थे। जब

साढ़े आठ बजे का समय हुआ, तब अकस्मात् आप के मुख पर स्मय (मुस्कराहट) के चिह्न दिखाई देने लगे। होठ इस प्रकार होगए जैसे कोई पाठ पढ़ा करता है। १९८८ ज्येष्ठ कृष्णा २ सोमवार दिन के ठीक साढ़े आठ बजे आप के प्राण नाक और आंखों के मार्ग से निकलते हुए प्रतीत हुए। शान्ति और समाधि पूर्वक आप इस औदारिक शरीर को छोड़ कर, तेजोमय वैक्रिय शरीर को धारण कर स्वर्ग में जा उत्पन्न हुए। आप के वियोग से श्रीसंघ में परम व्याकुलता उत्पन्न होगई, तब लुध्याना निवासी श्री संघ ने बड़े समारोह के साथ आपका अग्निसंस्कार किया। पूर्व आप के शव को, स्नान-आदि क्रियाएँ कराके लेटाया गया। प्रायः लुध्याना की सभी जनता ने व बाहिर से आए हुए श्रावक और श्राविकाओं ने आप के शव के दर्शन किये। दर्शक लोग विस्मय इस बात पर करते थे कि-आपका मस्तक लाली से चमक रहा था, मुखोपरि तेज विराजमान था, मृत्यु के चिन्ह नितान्त मुख पर दिखाई नहीं देते थे। आप के शव पर ८१ दोशाले पड़े। बड़ी सजधज के साथ विमान निर्माण किया गया और कई बाजे तथा भजन मंडलियों के साथ बड़े समारोह पूर्वक श्मशान भूमिका में विमान को लाया गया। उस समय जनता का समूह १० हजार के लगभग था। अन्तमें चन्दन की चिता में आप के शव का अग्नि संस्कार किया गया। जिन भावों से आप ने दीक्षा धारण की थी उन्हीं भावों से आपने मृत्यु प्राप्त की। आपकी मृत्यु से पंजाब जैनसंघ में एक अमूल्य रत्न की हानि होगई। आप ने ८१ वर्ष ६ मास की आयु पूर्ण करके स्वर्ग धाम प्राप्त किया इस काल में ५५ वर्ष पांच मास १२ दिन साधु वृत्ति में व्यतीत किये। आप के अनेक शिष्य हुए। आप का शिष्य वृन्द इस समय उन्नत दशा में है। आप के शिष्य श्री श्री श्री १००८ गणावच्छेदक श्री जयरामदास जी महाराज हैं वा उन के शिष्यप्रवर्तक श्री स्वामी शालिग्राम जी महाराज ने तथा अन्य साधुवर्ग ने आपकी सेवा का अत्यन्त लाभ लिया। सत्योपदेश द्वारा उक्त मुनि महाराजों ने जनता को जो आप के असहनीय वियोग से व्याकुल हो रही थी, शान्त किया।

इस संक्षेप परिचय के प्रकाशित करने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति आप के गुणों का अनुकरण करके सुगति का अधिकारी बने।

उपाध्याय जैनमुनि आत्माराम।

❀ जैनतत्त्वकलिकाविकास—पूर्वार्द्ध ❀

नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स ।

से केणट्ठेणं भंते ? एवं वुच्चइ देवाधिदेवा देवाधिदेवा ! गोयमा ! जे इमे अरिहंता भगवंतो उप्पन्ननाणदंसणधरा तीयपडुप्पन्न मणागया जाणया अरहा जिणा केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी से तेणट्ठेणं जाव देवाधिदेवा २ ॥

भगवती सूत्र-शतक १२-उद्देश ९ ।

अंधयारे तमे घोरे चिट्ठन्ति पाणिणो बहू ।
को करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोयम्मि पाणिणं ॥
उग्गओ विमलो भाणू सव्वलोय पभंकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोयम्मि पाणिणं ॥
भाणू य इइ के वुत्ते केसीगोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥
उग्गओ खीणसंसारो सव्वन्नू जिणभक्खरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्व लोयम्मि पाणिणं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र-अध्ययन २३

भावार्थ—श्रीगौतम स्वामी श्री भगवान् महावीर स्वामी से विनय पूर्वक प्रश्न करते हैं कि हे भगवन् ! देवाधिदेव किस कारण से कहे जाते हैं इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् प्रतिपादन करते हैं कि—हे गौतम ! जो यह अर्हन्त भगवन्त उत्पन्न ज्ञान दर्शन के धरने वाले हैं अतीत काल और वर्त्तमान तथा भविष्यत् काल के जानने वाले हैं अर्हन्त रागद्वेष के जीतने वाले संपूर्ण ज्ञान के धरने वाले जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं इसी कारण से उन्हें देवाधिदेव कहा जाता है । तथा केशी कुमार श्रमण श्री गौतम गणधर से प्रश्न पूछते हैं कि—हे गौतम ! इस भयंकर घोर अंधकार में बहुत से प्राणी ठहर रहे हैं सो कौन सर्वलोक में उक्त प्राणियों को उद्योत करेगा ?

इस के प्रतिवचन में गौतम स्वामी कहने लगे कि—हे भगवन् ! उदय हुआ निर्मल सूर्य सर्वलोक में प्रकाश करने वाला सो सर्वलोक में उक्त प्रकार के प्राणियों को उद्योत करेगा ।

इस प्रहेलिका रूप प्रश्न को स्पष्ट करते हुए फिर श्रीकेशी कुमार श्रमण

गौतम गणधर से पूछते हैं कि-आप सूर्य किस को मानते हो ? जब इस प्रकार से प्रश्न किया गया तब गौतम गणधर श्री केशीकुमार श्रमण प्रति कहने लगे कि-हे भगवन् ! जिस आत्मा का संसार क्षीण होगया है अर्थात् जिस आत्मा का संसार के जन्म मरण से सम्बन्ध छूट गया है फिर उसने रागद्वेष रूपी महाशत्रुओं को भी जीत लिया है जिससे उसका आत्मा सूर्यवत् प्रकाश करने से ज्ञान स्वरूप होगया है इसी कारण से उसे सर्वज्ञ कहा जाता है क्योंकि-सर्वज्ञता के प्रतिबंधक रागद्वेष ही हैं जब मूल से इन को उत्पाटन किया गया तब वह आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है तथा इसी कारण से उसे जिनभास्कर कहते हैं सो वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आत्मा लोक (जगत्) में जो मिथ्यात्व रूपी घोर अंधकार में बहुत से प्राणी ठहरे हुए हैं उनको वही प्रकाश करेगा सारांश—यह निकला कि-सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आत्मा ही लोक में प्रकाश करसकता है क्योंकि-उस पवित्र आत्मा के प्रतिपादन किये हुए ज्ञान द्वारा प्रत्येक प्राणी को आत्मविकाश करने में सहायता प्राप्त होजाती है जैसे कि-चक्षुरिन्द्रिय के निर्मल होने पर भी पदार्थों के देखने के लिये प्रकाश की आवश्यकता रहती है।

ठीक तद्वत् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आत्मा के प्रतिपादन किये हुए सिद्धान्तों के आश्रय से प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा अपनी उन्नति की ओर झुक सकता है क्यों-कि-उस सम्यग् ज्ञान द्वारा मिथ्या ज्ञान का आवरण दूर हो जाता है जब मिथ्या ज्ञान का आवरण दूर हो गया तब उस आत्मा को हेय-ज्ञेय-और उपादेय-रूप तीनों पदार्थों का भली भाँति से बोध होजाता है जब उक्त पदार्थों का बोध हो गया तब फिर वह आत्मा आत्मविकाश की ओर झुकने लग जाता है सो इसी कारण से उक्त सूत्र में यह प्रतिपादन किया गया है कि-मिथ्यात्व रूपी अंधकार में जो प्राणी ठहरे हुए हैं उनके लिये जिनभास्कर ही सूर्य है जैसे प्रकाश में लेखनादि क्रियाएँ सुख पूर्वक की जा सकती हैं ठीक उसी प्रकार सर्वज्ञ प्रभु के प्रतिपादन किये हुए सिद्धान्तों द्वारा वे उक्त प्राणी भी अपने आत्मविकाश करने में योग्यता धारण कर सकते हैं अतएव सिद्ध हुआ कि सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त ही मिथ्यारूपी तिमिर के दूर करने के लिये भास्कर तुल्य माना जाता है और उसी के पठन पाठन से भव्य प्राणी सद्बोध वा आत्मविकाश कर सकते हैं।

इतना ही नहीं किन्तु सर्वज्ञात्मा ज्ञानात्मा और उपयोगात्मा द्वारा सर्व-व्यापक माना जाता है क्योंकि-लोक वा अलोक में कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जिसको वह अपने ज्ञान द्वारा नहीं जानता कारण कि ज्ञानात्मा सर्व व्यापक है अतएव लोक में जीव वा अजीव की जो अनन्त पर्याएं परिवर्त्तन हो रही हैं

वे सर्व श्रीभगवान् के ज्ञान से बाहिर नहीं अपितु वे तीनों काल के पर्यायों को हस्तामलकवत् जानते और देखते हैं।

यदि ऐसे कहा जाए कि—"सर्वज्ञ" शब्द तो मानना युक्तिसंगत सिद्ध होता है किन्तु त्रिकालवेत्ता मानना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि–त्रिकालवेत्ता मानने में दो आपत्तियां उपस्थित होजाती हैं! जैसे कि–एक तो यह है कि–जब कोई वस्तु उत्पन्न ही नहीं हुई तो भला फिर उसका देखना वा जानना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? द्वितीय जब सर्वज्ञ ही मान लिया तब फिर उस को त्रिकालवेत्ता मानना परस्पर विरोध रखना है क्योंकि–सर्वज्ञ को एक रसमय का ज्ञान होता है वह ज्ञान परिवर्त्तनशील नहीं होता किन्तु त्रिकालवेत्ता का ज्ञान परिवर्त्तनशील मानना पड़ेगा जैसे—पदार्थ परिवर्त्तनशील हैं और वे क्षण २ में नूतन वा पुरातन पर्यायों के धारण करने वाले हैं सो जब पदार्थों की इस प्रकार की स्थिति है तब ज्ञान भी उसी प्रकार का मानना पड़ेगा क्योंकि—ज्ञान पदार्थों का ही होता है अतएव सर्वज्ञ के साथ त्रिकालवेत्ता शब्द का विशेषण लगाना युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता है।

इस शंका का समाधान इस प्रकार से किया जाता है कि–जैसे "नीलोत्पल" शब्द में 'नील' शब्द 'उत्पल' शब्द का विशेषण माना जाता है तथा "सम्यग्ज्ञान" शब्दमें ज्ञान शब्दका सम्यग् शब्द विशेषण माना गया है ठीक तद्वत् सर्वज्ञ शब्द का त्रिकालवेत्ता शब्द विशेषण रूप है इस लिये इसमें कोई भी आपत्ति उपस्थित नहीं होती है क्योंकि–सर्वज्ञ प्रभु का ज्ञान तो सर्व काल में एक ही रसमय होता है किन्तु जिस व्यक्ति की अपेक्षा से वह ज्ञान में उस व्यक्ति की दशा को जानते और देखते हैं उसकी अपेक्षा से ही उन्हें त्रिकालदर्शी कहा जाता है जैसे कि–व्याकरण शास्त्र में कालद्रव्य एक होने पर भी उस के दशों लकारों द्वारा भूत भविष्यत् और वर्त्तमान रूप तीन विभाग किये गए हैं।

इस में कोई भी संदेह नहीं है कि–जो व्यक्ति जिस समय जिस देश में विद्यमान होता है उसका तो वह वर्त्तमान काल ही होता है परन्तु उस व्यक्ति को भूत कालमें होनेवाले जीव भविष्यत् काल में रखते हैं और भविष्यत् काल में होने वाले जीव उस को भूत काल में रखेंगे। परन्तु काल द्रव्य तीनों विभागों में एक रसमय होता है सो जिस प्रकार काल द्रव्य एक होने पर व्यक्तियों की अपेक्षा तीन विभागों में किया गया है ठीक उसी प्रकार सर्वज्ञ प्रभु के ज्ञानविषय में भी जानना चाहिए अर्थात् ज्ञान में किसी प्रकार से भी विसंवाद नहीं हो सकता किन्तु जिस प्रकार वह ज्ञान में पदार्थों के स्वरूप को देखते हैं वे पदार्थ उसी प्रकार होते रहते हैं।

जो यह शंका उत्पादन की गई थी कि–जो वस्तु अभी तक हुई नहीं।

उसका ज्ञान किस प्रकार से हो सकता है यह शंका भी निर्मूल सिद्ध हो जाती है जैसे कि—वर्त्तमान कालमें प्रायः ज्योतिष शास्त्र द्वारा वार्षिक बहुतसे फलादेश ठीक मिलते दृष्टिगोचर होते रहते हैं तथा शकुन शास्त्र द्वारा बहुत से पदार्थों का यथावत् ज्ञान होजाता है वा गणित द्वारा चंद्र वा सूर्य ग्रहण तथा चंद्र दर्शन आदि ठीक होते हुए दृष्टिगोचर होते हैं जबकि—मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान द्वारा ही उक्त पदार्थों का निश्चय किया जाता है तो फिर जिस आत्मा को केवलज्ञान ही उत्पन्न हो गया उस के तो सर्व पदार्थों का ज्ञान हस्तामलकवत् होजाता है। क्योंकि—जैनशास्त्रों में ज्ञान को प्रदीपवत् स्वप्रकाशक और परप्रकाशक माना गया है सो जैसे गर्भाधान के हो जाने पर वैद्यक शास्त्र द्वारा उस बालक की उत्तरोत्तर दशाओं का भली भाँति ज्ञान होजाता है ठीक उसी प्रकार कर्मों के संग होने से जीव की उत्तरोत्तर दशाओं का ज्ञान रहता है। फिर इतना ही नहीं किन्तु जिस प्रकार सर्वज्ञात्मा ने अपने ज्ञान में जिस जीव की दशाओं का अवलोकन किया हुआ है अर्थात् ज्ञान में जिस प्रकार उन दशाओं का प्रतिबिम्ब पड़ा है वे दशाएँ उसी प्रकार परिणत होती हैं क्योंकि—सर्वज्ञात्मा यथावत् ज्ञान के धरने वाला होता है सो यह शंका जो की गई थी कि—वस्तु के न होने पर ज्ञान किस प्रकार होगा सो यह निर्मूल सिद्ध हुई अपितु उत्तरोत्तर दशा ज्ञान से विदित होती रहती हैं।

कालद्रव्य पदार्थों के नूतन वा पुरातन पर्यायों का कर्त्ता है फिर वे पर्यायें स्थिति युक्त होने से तीन काल के सिद्ध करने वाली हो जाती हैं अतएव सर्वज्ञ शब्द के साथ त्रिकाल दर्शी शब्द युक्तिसंगत सिद्ध होता है। अपितु ज्ञानसद्भाव से तीनों काल में एक रसमय रहता है, परन्च जिस प्रकार जिस पदार्थ के स्वरूप को देखा गया है वह पदार्थ उसी प्रकार से परिणत हो जाता है इसी कारण से वा इसी अपेक्षा से केवलज्ञानी भगवान् को त्रिकालदर्शी माना गया है तथा च पाठः—

णायमेयं अरहया सुयमेयं अरहया विन्नायमेयं अरहा इमं कम्मं अयं जीवे अज्झोवगमियाए वेयणाए वेदिस्सइ इमं कम्मं अयं जीवे उवक्कमियाए वेदणाए वेदिस्सइ अहाकम्मं अहानिकरणं जहा जहा तं भगवया दिट्ठं तहा तहा तं विप्परिणमिस्सतीति ॥

भगवती० सू० श० १ उद्देश ४।

वृत्ति—ज्ञातं—सामान्येनावगतम् एतद् वक्ष्यमाणं वेदनाप्रकारद्वयम् अर्हता जिनेन 'सुयं'ति स्मृतं प्रतिपादितम् अनुचिंतितं वा तत्र स्मृतमिव स्मृतं केवलित्वेन स्मरणाभावेऽपि जिनस्यात्यन्तमव्यभिचारसाधर्म्यादिति "विण्णायं" ति विविधप्रकारैः-देशकालादिविभागरूपैर्ज्ञातं विज्ञातं, तदेवाह—

"इमं कम्मं अयं जीवे" त्ति अनेन द्वयोरपि प्रत्यक्षतामाह केवलित्वादर्हन, "अज्झोवगमियाए" त्ति 'प्राकृतत्वादभ्युपगमः—प्रव्रज्याप्रतिपत्तितो ब्रह्मचर्य-भूमिशयनकेशलुञ्चनादीनामङ्गीकारस्तेन निर्वृत्ता आभ्युपगमिकीतया "वेय-इस्सइ" त्ति भविष्यत्कालनिर्देशः भविष्यत् पदार्थो विशिष्टज्ञानवतामेव ज्ञेयः अतीतो वर्त्तमानश्च पुनरनुभवद्वारेणान्यस्यापि ज्ञेयः संभवतीति ज्ञापनार्थः "उव-क्कमियाए" त्ति उपक्रम्यतेऽनेनेत्युपक्रमः—कर्मवेदनोपायस्तत्रभवा औपक्रमि-की—स्वयमुदीर्णस्योदीरणाकरणेन वोदयमुपनीतस्य कर्मणोऽनुभवस्तया औपक्रमिकया वेदनया वेदयिष्यति, तथाच 'अहा कम्मं' ति यथाकर्म—बद्धमा-नतिक्रमेण 'अहा निगरणं' ति निकरणानां—नियतानां देशकालादीनां करणानां-विपरिणामहेतूनामनतिक्रमेण यथा यथा तत्कर्म भगवता दृष्टं तथा तथा विपरि-णंस्यतीति, इति शब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति ॥

इस पाठ का यह सारांश है कि-श्रीभगवान् अपने ज्ञान में यह भली प्रकार से जानते और देखते हैं कि-यह जीव बाहिर के निमित्तों द्वारा कर्म वेदेगा और यह जीव स्वयं उदय होने योग्य कर्मों की उदीरणा करने से कर्मों का अनुभव करेगा कारण कि-कर्म दो प्रकार से वर्णन किये गए हैं जैसे कि-एक तो प्रदेश कर्म और द्वितीय अनुभाग कर्म सो जो प्रदेश कर्म होते हैं वे आत्म प्रदेशों के साथ क्षीर नीरवत् ओत प्रोतरूप होकर एक रूप से रहते हैं वह तो अवश्यमेव भोगने में आते हैं किन्तु जो अनुभाग कर्म हैं वे अनुभव करने में आ भी सकते हैं नहीं भी आसकते जैसे-मिथ्यात्व के क्षयोपशमकाल में अनुभाग कर्म से फल नहीं अनुभव किया जाता अपितु प्रदेश कर्म अवश्य-मेव भोगने में आते हैं सो जिस प्रकार आत्म प्रदेशों द्वारा कर्मों का बंध हो चुका है फिर जिस देश कालादि में उन कर्मों के रस का अनुभव करना है वा जिस प्रकार से जिस निमित्त से कर्मों के फल भोगने हैं सो जिस प्रकार अर्हन् भगवान् ने अपने ज्ञान में देखा है वह उसी प्रकार परिणत होवेगा अर्थात् तीनों काल के भाव जिस प्रकार ज्ञान में देखे गए हैं वे भाव उसी प्रकार होते रहेंगे क्योंकि—केवल ज्ञान विशद ज्ञान होता है सो इस सूत्र पाठ से सर्वज्ञ प्रभु को त्रिकाल-दर्शी युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है। अतएव त्रिकालदर्शी शब्द किसी अमुक पदार्थ की अपेक्षा से ही कथन किया गया है जैसे—यह अमुक जीव अमुक देश काल में अमुक कर्मों के फल का अनुभव करेगा किन्तु श्री भगवान् का केवलज्ञान तीनों काल में एक रसमय रहता है। यदि ऐसे कहा जाए कि-ज्ञानात्मा रूप सर्वज्ञ प्रभु जब तीनों काल के भावों को हस्तामलकवत् अव-लोकन करते हैं तो फिर जीव की स्वतंत्रता जाती रही और पुरुषार्थ करना भी व्यर्थ ही सिद्ध होगा क्योंकि-जो श्रीभगवान् ने ज्ञान में देखा हुआ है

उस से विरुद्ध तो होने का ही नहीं जब यह पक्ष सिद्ध हुआ तब पुरुषार्थ और जीव की स्वतंत्रता यह दोनों ही बातें जाती रहेंगी।

इस शंका का समाधान यह है कि—निश्चय और व्यवहार यह दो पक्ष माने जाते हैं निश्चय-नय के पक्ष पर जब हम विचार करते हैं तब यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि—सर्वज्ञ आत्मा अपने ज्ञानात्मा द्वारा तीनों काल के भावों को यथावत् जानते और देखते हैं परन्तु उनका ज्ञान हमारी क्रियाओं का प्रतिबंधक नहीं माना जा सकता जैसे सूर्य का प्रकाश हमारी क्रियाओं का प्रतिबंधक नहीं है तथा हमें यह भी निश्चय नहीं है कि—उन्हों ने हमारे लिये क्या देखा हुआ है जैसे एक अध्यक्ष के पास किसी व्यक्ति का प्रतिवाद चलागया तब वह व्यक्ति सर्व प्रकार से उसको अपने अनुसार कराने में चेष्टा करता है परन्तु अध्यक्ष ने जो आज्ञा उसको सुनानी है वह जानता है और उसकी चेष्टाओं की ओर भी ध्यान रखता है। अपितु जब उस व्यक्ति को यह निश्चित ही होजाए कि अमुक प्रकार से आज्ञा सुनाई जाएगी तब उसकी इच्छा है कि—वह चेष्टा करे या न करे। सो इसी प्रकार जब श्री भगवान् अपने ज्ञान में जानते और सब भावों को देखते हैं तो वे भली प्रकार से देखें किन्तु अस्मदादि व्यक्तियों को तो विदित नहीं है कि—उन्हों ने हमारे लिये कौन से भाव देखे हुए हैं। अतएव निश्चय नय के द्वारा सिद्ध हुआ कि—जिस प्रकार अर्हन् वा सिद्ध प्रभु ने सर्व भावों को देखा है वे भाव उसी प्रकार से परिणत होते हैं परन्तु व्यवहार पक्ष में उन्हों ने हमारे लिये किन २ भावों को देखा है इस बात का पता न होने से अस्मदादि को योग्य है कि हम शुभ क्रियाओं की ओर ही प्रवृत्ति करें। तथा जिस प्रकार कोई व्यक्ति काल चक्र से बाहिर नहीं हो सकता अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति द्वादश मासों के अन्तर्गत ही चेष्टा करता रहता है परन्तु उस व्यक्ति को काल चक्र की अपेक्षा से बंदी पुरुष (कैदी) नहीं कहा जा सकता वा कोई भी व्यक्ति लोक से बाहिर नहीं जा सकता तो फिर उन व्यक्तियों को लोक की अपेक्षा कारागृह में रहने वाले पुरुष नहीं कहा जा सकता इस प्रकार अर्हन् वा सिद्धात्मा के ज्ञान में सब चेष्टा देखी जाने पर जीव की स्वतंत्रता भंग नहीं हो सकती है।

यदि इस बात पर यह शंका उत्पादन की जाए की जो कुछ ज्ञानी ने अपने ज्ञान में देखा है वह अवश्यमेव हो जाएगा तो फिर पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि—उन्होंने क्या देखा है, क्या तुम यह बतला सकते हो? यदि नहीं बतला सकते तो तुमको पंडित पुरुषार्थ द्वारा कर्मक्षय करने की ओर ही झुक जाना चाहिए।

साथमें यह भी कहा जा सकता है कि—कर्मों के शुभाशुभफल अवश्य-

भव भोगते हैं। अतएव उन कर्मों के फलादेश के समय दोनों नयों का अवलम्बन करना चाहिये। जैसे कि-जब अशुभ कर्म उदय में आजाएं तब निश्चय के अवलम्बन से चित्त में शांति उत्पन्न करनी चाहिये। और व्यवहार नय के आश्रित होकर शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए तथा कर्मक्षय करने के लिये चेष्टाएँ करनी चाहिएं।

सर्वज्ञ आत्मा का ज्ञान सब स्थानों पर व्याप्त हो रहा है अर्थात् वे अपने ज्ञान द्वारा तीनों काल के भावों को यथावत् हस्तामलकवत् देखते हैं इस बात पर पूर्ण विश्वास रखकर निकृष्ट कर्मों से बचना चाहिए। क्योंकि-लोकव्यवहार में देखा जाता है कि-यावन्मात्र अशुभ कर्म हैं उनको प्रायः लोग गुप्त ही रखने की चेष्टा करते हैं और अपने अन्तःकरण में यह भाव भी उत्पन्न करते हैं कि हमारी-अनुचित क्रिया को कोई देख न ले तथा जान न ले यदि अनुचित क्रियाएँ करते समय कोई अन्य व्यक्ति अकस्मात् उस स्थान पर आ भी जावे तब वे अनुचित क्रियाएँ करने वाले व्यक्ति उस स्थान से भाग निकलते हैं अर्थात् वे अनुचित क्रियाएँ गुप्त ही करने की इच्छा रखते हैं।

इसी न्याय से जब अर्हन् प्रभु वा सिद्ध भगवान् अपने ज्ञान द्वारा तीनों काल के भावों को जानते और देखते हैं तो फिर किसी स्थान पर भी अनुचित क्रियाएँ न करनी चाहिएं।

वास्तव में-सर्वज्ञात्मा के मानने का यही मुख्य प्रयोजन है जब उसको मानते हुए भी अनुचित प्रवृत्ति की जा रही है तो फिर इस से सिद्ध हुआ कि-नाममात्र से ही उसको सर्वज्ञ और सर्वदर्शी माना गया है परन्तु अन्तःकरण अनुचित क्रियाओं की ओर ही झुका हुआ है।

विचार करने की बात है जब चर्म-चक्षुओं का इतना भय माना जाता है तो फिर सर्वज्ञात्मा का अन्तःकरण में भय क्यों नहीं माना जाता। अतएव सिद्ध हुआ कि-अर्हन् वा सिद्ध भगवान् का ज्ञान सर्व स्थानों को यथावत् भाव से देख रहा है इस बात को ठीक मान कर पाप कर्मों से निवृत्ति कर लेनी चाहिए। क्योंकि-सूर्यवत् ज्ञान द्वारा प्रकाश करने वाले सर्वज्ञ प्रभु ही हैं उन्हीं के सत्योपदेश द्वारा भव्यात्मा अपना कल्याण कर सकते हैं। अतएव उन्हीं के उपदेश द्वारा भव्य प्राणियों को सुमार्ग में स्थापन करना चाहिए जिससे कि-वे मोक्षसाधन के पात्र बनें। इतना ही नहीं किन्तु अनेक आत्माओं को भी सुमार्ग में लाएँ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि-किन २ क्रियाओं द्वारा अर्हन् पद की प्राप्ति हो सकती है। इस के उत्तर में कहा जा सकता है कि-शास्त्रों में उक्त पदकी प्राप्ति के लिये बीस स्थान वर्णन किये गए हैं अर्थात् बीस प्रकार की

क्रियाओं द्वारा जीव तीर्थ कर नाम कर्म की उपार्जना कर लेता है जैसे कि-
इमे हि य णं वीसाएहि य कारणेहिं आसेविय बहुलीकएहिं तित्थयर नाम गोयं
कम्मं निव्वत्तिंसु, तंजहा- 'अरहंत १ सिद्ध २ पवयण ३ गुरु ४ थेर ५ बहु-
स्सुए ६ तवस्सीसु ७ वच्छल्लयाय तेसिं अभिक्ख णाणोव ओगेय ८ ॥१॥
दंसण ९ विणए १० आवस्सए य ११ सीलव्वए निरइयारं १२ खणलव
१३ तव १४ च्चियाए १५ वेयावच्चे १६ समाही य १७ ॥ २ ॥ अपुव्व
णाणगाहणे १८ सुयभत्ती १९ पवयणे पभावणया २० एएहिं कारणेहिं तित्थ-
यरत्तं लहइ जीओ ॥३॥

अर्हन्-सिद्ध-प्रवचन-गुरु-स्थविर-बहुश्रुत--तपस्वि-वत्सलता--अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगश्च ॥१॥ दर्शन विनय आवश्यकानि च शील व्रतं निरतिचारं क्षणलवः तपः त्यागः वैयावृत्यं समाधिश्च ॥२॥ अपूर्वज्ञानग्रहणं श्रुतभक्तिः प्रवचने प्रभावना एतैः कारणैः तीर्थकरत्वं लभते जीवः ॥३॥

अर्थ—जिन आत्माओं ने कर्म कलंक को दूर कर दिया है और केवल ज्ञान केवल दर्शन से युक्त होकर सत्यमार्ग का प्रचार कर रहे हैं इतना ही नहीं किन्तु प्राणीमात्र की जिन के साथ वात्सल्यता हो रही है षद् काय के जीवों के साथ जिनकी मित्रता है तथा इन्द्रों और चक्रवर्त्तियों द्वारा जो पूजे जारहे हैं सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं उन अर्हन् देवों का अन्तःकरण द्वारा गुणकीर्त्तन करना तथा उन के सद्‌गुणों में अनुराग करना वा उनके गुणों का अनुकरण करके अपने आत्मा को गुणालंकृत करने की चेष्टा करते रहना जिस प्रकार संसार पक्ष में कोई भी व्यक्ति पाठ न करने पर भी अपने नाम को विस्मृत नहीं होने देता ठीक तद्वत् अपने हृदय में श्री अर्हन् प्रभु के नाम का निवास होने देना अर्थात् अपने अन्तःकरण के श्वासोश्वास को अर्हन् शब्द के साथ ही जोड़ रखना यावन्मात्र श्वास आते हों उन में अर्हन् शब्द की ध्वनि निकलती रहे साथ ही उनकी आज्ञा पालन करते रहना जब इस प्रकार अर्हन् प्रभु के नाम से प्रीति लग जाएगी तब वह आत्मा तीर्थकर गोत्र नाम कर्म की उपार्जना करलेता है जिस के माहात्म्य से आप संसार रूपी सागर से पार होता हुआ अनेक भव्य प्राणियों को संसार सागर से पार कर देता है तथा उन के प्रतिपादन किए हुए सत्पथ पर चल कर अनेक भव्य प्राणी संसार सागर से पार होते रहते हैं।

२ सिद्ध—आठ कर्मों से रहित अजर अमर पद के धरने वाले-अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनंत सुख क्षायिक सम्यक्त्व अमूर्त्तिक अगोत्र अनंत शक्ति और निरायु इत्यादि अनेक गुणों के धारक श्री सिद्ध प्रभु जो कि-ज्ञान दर्शन द्वारा

सर्वलोकालोक को हस्तामलकवत् देख रहे हैं जिनको आत्मिक अनंत सुख की प्राप्ति हो रही है इसी कारण से वे आत्मिक सुख में निमग्न हैं यदि तीनों काल के देवों के सुख के समूह को एकत्र किया जाए तो वह सुख मोक्षात्मा के सुख के सन्मुख अनंतवें भाग मात्र भी नहीं है क्योंकि-सांसारिक सुख पुद्गल-जन्य है: और मोक्ष का सुख आत्मिक सुख है सो जब पौद्गलिक सुख को मोक्ष के सुख के साथ तुलना की जाती है तब वह सुख उस सुख के सामने अनंतवें भाग मात्र भी प्रतीत नहीं होता जैसे-दो बालक अपनी कक्षाओं में परीक्षा देकर चले आए और वे दोनों अपनी परीक्षा के फल की प्रतीक्षा किये जा रहे हैं। एक समय की बात है कि-उन दोनों बालकों में से एक बालक अति स्वादिष्ट और मन को प्रसन्न करने वाला सुन्दर भोजन कर रहा है, और दूसरा बालक उसके पास बैठा हुआ है परंच भोजन करने वाला बालक अपने सुन्दर भोजन में आनन्द मानता हुआ अपने सहचर का उपहास भी करता जाता है। इस प्रकार की क्रियाएं करते समय दोनों के फलादेश के पत्र उसी समय आगए परन्तु जो बालक भोजन में आनन्द मान रहा था उसके पत्र में यह लिखा हुआ था कि-तुम इस वार्षिक परीक्षा में अब की बार उत्तीर्णता प्राप्त न करसके सो शोक है इत्यादि। किन्तु द्वितीय पत्र में यह लिखा हुआ था कि-हे प्रियवर! आपको कोटिशः धन्यवाद है आपको शुभ समाचार दिया जाता है कि-आप अपनी कक्षा में प्रथमांक में उत्तीर्ण होगए हैं इत्यादि। जब पहिले पत्र के लेख को भोजन करने वाले बालक ने पढ़ा वह भोजन के आनन्द को सर्वथा भूल कर शोक दशा को प्राप्त हो गया इतना ही नहीं किन्तु अपमृत्यु के कारणों को ढूंढने लग गया। जब दूसरे बालक ने अपने पत्र को पढ़ा वह आनन्द की सीमा को भी उल्लंघन करने लगा। अब हम पौद्गलिक सुख वा ज्ञान के सुख की तुलना करसकते हैं कि-दोनों का परस्पर कितना अन्तर है, सो सिद्धात्मा आत्मिक सुख में निमग्न है सो सिद्ध प्रभु के गुणों में अनुराग करने से तथा गुणोत्कीर्त्तन करने से जीव तीर्थंकर नाम की उपार्जना कर लेता है।

३ प्रवचन—श्रीभगवत् के उपदेशों का जो संग्रह है उसी का नाम प्रवचन है सो उस प्रवचन की भक्ति करना अर्थात् ज्ञान का सत्कार करना जो नास्तिक आत्मा सर्वज्ञोक्त उपदेश की आशातनाएं करने वाले हैं उन को हित-शिक्षाओं द्वारा शिक्षित करना जिससे वे आशातना फिर न कर सकें तथा जिनवाणी के सदैव गुणोत्कीर्त्तन करते रहना, जैसे कि-हे आर्यो! यही परमार्थ है, शेष यावन्मात्र संसारी कार्य हैं वे अनर्थों के ही उत्पादन करने वाले हैं, अतः प्रवचन प्रभावना करने से आत्मा उक्त कर्म की उपार्जना कर लेता है।

४ गुरु-सत्योपदेष्टा श्रीभगवत् के प्रतिपादन किये हुए धर्म के अनुकूल

धर्मजीवन व्यतीत करने वाले प्रत्येक प्राणी के हितैषी श्रीभगवान् के प्रतिपादन किये हुए पवित्र सिद्धान्तों का सर्वत्र प्रचार करने वाले धर्मदेव इत्यादि मुनि-गुण से युक्त इस प्रकार के धर्म-गुरुओं की भक्ति और गुणोत्कीर्त्तन करने से तीर्थंकर गोत्र की उपार्जना हो जाती है।

५ स्थविर–जो मुनि–दीक्षा–श्रुत, आयु, आदि से वृद्ध हैं उन्हीं की स्थविर संज्ञा है वे प्राणी मात्र के हितैषी होने पर फिर धर्म से गिरते हुए प्राणियों को धर्म में स्थिर करते हैं इतना ही नहीं किन्तु गच्छ आदि की स्थिति के नियम भी समयानुकूल बांधते रहते हैं स्वभावादि भी लघु अवस्था होने पर वृद्धों के समान हैं तथा आचार शुद्धि में जिन की विशेष दृष्टि रहती है इस प्रकार के स्थविरों की भक्ति और गुणोत्कीर्त्तन द्वारा जीव उक्त कर्म की उपार्जना कर लेता है।

६ बहुश्रुत–अनेक प्रकार के शास्त्रों के पढ़ने वाले स्वमत और परमत के पूर्णवेत्ता तत्त्वाभिलाषी स्वमत में दृढ़ श्रुतविद्या से जिन का आत्मा अलंकृत हो रहा है, वे प्रायः सर्वशास्त्रों के पारगामी हैं प्रतिभा के धरने वाले हैं और गांभीर्यादि गुणों से युक्त हैं श्रीसंघ में पूज्य हैं वादी मानमर्दन हर्ष और शोक से रहित सर्वप्रकार की शंकाओं के निराकरण करनेवाले इस प्रकार के बहुश्रुत मुनियों की भक्ति और उनके गुण आदि धारण करने से जीव तीर्थंकर नाम कर्म की उपार्जना कर लेता है।

७ तपस्वी—द्वादश प्रकार के तप करने वाले जो महामुनि हैं अर्थात् षट् प्रकार का जो अनशनादि बाह्य तप हैं और षट् प्रकार के प्रायश्चित्तादि जो अन्तरंग तपःकर्म हैं सो उक्त दोनों प्रकार के तप-कर्म द्वारा अपने आत्मा की विशुद्धि किये जारहे हैं क्योंकि–जिस प्रकार वस्त्र के तन्तुओं में मल के परमाणु प्रवेश कर जाते हैं, ठीक तद्वत् आत्मप्रदेशों पर कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध हो रहा है; फिर जिस प्रकार उस वस्त्र में मल के परमाणु प्रविष्ट हुए हुए हैं वे तप्त और क्षारादि पदार्थों से वस्त्र से पृथक् किये जा सकते हैं ठीक तद्वत् आत्मा में जो कर्मों के परमाणुओं का उपचय हो रहा है वह भी तप-कर्म द्वारा आत्मा से पृथक् हो जाता है जिस से वस्त्र की नाईं जीव भी शुद्ध हो जाता है तथा जिस प्रकार सुवर्ण में मल प्रवेश किया हुआ होता है वह अग्नि आदि पदार्थों से शुद्ध किया जाता है, ठीक तद्वत् तप रूपी अग्नि से जीव शुद्धि को प्राप्त होजाता है, सो जो मुनि उक्त प्रकार आत्म-शुद्धि के लिये तप कर्म करने वाले हैं उनकी भक्ति और अन्तःकरण से, उनके गुणोत्कीर्त्तन करने से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र की उपार्जना कर लेता है।

८ अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग—पुनः पुनः ज्ञान में उपयोग देने से जीव उक्त

कर्म की उपार्जना करलेता है, क्योंकि-जब मति ज्ञानादि में पुनः २ उपयोग दिया जायगा तब पदार्थों का यथावत् स्वरूप जाना जायगा जिस का परिणाम यह होगा कि- आत्मा ज्ञान समाधि में निमग्न हो जायगा। समाधि का फल उक्त लिखित स्वाभाविक होता ही है, अतएव स्त्री-भक्त-राज्य-देश-विकथादि छोड़ कर सदैव काल ज्ञान में ही उपयोग लगाना चाहिए: क्योंकि-जो आत्मा ज्ञान में उपयोग लगाने वाले होते हैं उनके अज्ञान का क्षय होने से साथ ही क्लेशों का भी क्षय हो जाता है, जैसे वायु के होने पर ही जल में बुद्बुदों के उत्पन्न होने की सम्भावना की जा सकती है ठीक तद्वत् क्लेश के क्षय होने से चित्तसमाधि सदा के लिये स्थिरता पकड़ जाती है सो चित्त समाधि के लिये पुनः २ ज्ञान में उपयोग देना चाहिए तथा समाधि के ही माहात्म्य से उक्त कर्म की उपार्जना की जा सकती है।

६ दर्शन—सम्यक्त्व का धारण करना, क्योंकि-यावत्काल सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती तावत्काल संसार के छूटने का उपाय भी नहीं कियाजाता सम्यक्त्व का अर्थ पदार्थों के स्वरूप को ठीक २ जानना ही है तथा देव गुरु और धर्म पर पूर्ण निश्चय करना मिथ्यात्व सम्बन्धी क्रियाओं से पीछे हटजाना इतना ही नहीं किन्तु सम्यगदर्शन द्वारा अनेक आत्माओं को संसार पथ से विमुक्त कर मोक्ष पथ में लगादेना तथा यावत्काल-पर्यन्त सम्यक्त्व धारण नहीं किया जायगा तावत्कालपर्यन्त प्राणी संसार चक्र के बन्धन से पृथक् नहीं हो सकता जैसे एक अंक विना यावन्मात्र बिंदु होते हैं वे शून्य ही कहे जाते हैं ठीक उसी प्रकार सम्यक्त्व के विना यावन्मात्र क्रिया-कलाप है वह मोक्ष-पथ के लिये शून्य रूप है। अतएव सिद्ध हुआ कि सम्यक्त्व का धारण करना आवश्यकीय है यदि एक मुहूर्त्त मात्र भी सम्यक्त्व का आत्म-प्रदेशों के साथ स्पर्श होजाए तब आत्मा उत्कृष्टता से देशोनअर्द्धपुद्गल परावर्त्त करके मोक्ष पासकता है। वा यावन्मात्र आत्मा मुक्त हुए हैं वे सर्व इसी के माहात्म्य का फल हैं। सो सम्यक्त्व के शुद्ध पालने से आत्मा तीर्थंकर नाम गोत्र की उपार्जना कर लेता है।

१० विनय—मति ज्ञान १ श्रुतज्ञान २ अवधिज्ञान ३ मनःपर्यवज्ञान ४ और केवल ज्ञान ५ इन पांचों ज्ञानों की विनय भक्ति करना तथा गुरु आदि की विनय करना और अर्हन्तादि की आशातना न करना कारण कि-विनय करने से आत्म विशुद्धि होती है और अहंकार के भावों का क्षय हो जाता है जब अहंकार भाव जाता रहा तब आत्मा समाधि के मार्ग में लग जाता है तथा "विनय" शब्द कर्त्तव्य परायणता का भी वाची है जिसने व्रतों को धारण किया हुआ है उन व्रतों (नियमों) को निरतिचार पालन करना वास्तव में उसी का नाम

विनय है। विनय करने से सदाचार की भी अतीव वृद्धि होती है क्योंकि–विनय धर्म शुद्ध आचार का प्रदर्शक है और सदाचार ही जीवन का मुख्योद्देश्य है इसी से जीवन पवित्र और उच्चकोटी का हो सकता है इतना ही नहीं किन्तु विनय-धर्म का प्रचार देखकर अनेक आत्माएं विनीत हो जाती हैं। अतएव इस क्रिया से तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म की उपार्जना की जासकती है।

११ आवश्यक–संयम की विशुद्धि करने वाली नित्य क्रियाओं द्वारा भी उक्त पद प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि–साधु धर्म में यावन्मात्र क्रियाएं की जाती हैं, उनका मुख्योद्देश संयम की विशुद्धि करने का ही है। जैसे-दोनों समय आवश्यक (प्रतिक्रमण) करना वह भी दिन में वा रात्रि के लगे हुए अतिचारों की विशुद्धि वास्ते ही किया जाता है क्योंकि-शास्त्रकारों ने–"सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यगज्ञान और सम्यक चारित्र ही प्रतिपादन किया है। सो उक्त तीनों में यदि कोई दोष लग गया हो तो उस दोष की विशुद्धि के वास्ते ही आवश्यक क्रियाएं की जाती हैं तथा यथाविधि प्रायश्चित्तादि भी धारण किये जाते हैं। जब संयम की विशुद्धि ठीक हो जायगी तब जीव का निर्वाण प्राप्त करना सहज में ही हो सकता है। कारण कि-संयम का फल है आश्रव से रहित हो जाना। जब शुभाशुभकर्मों के आने का निरोध किया गया तब पुरातन कर्म ज्ञान वा ध्यानादि द्वारा क्षय किये जा सकते हैं, जिस का नाम है निर्जरा। जब प्राचीन कर्मों की निर्जरा की गई और नूतन कर्मों का संवर होगया तब निर्वाण पद की प्राप्ति सहज में ही हो सकती है। अतएव मुमुक्षु आत्माओं को योग्य है कि–वे धार्मिक आवश्यक क्रियाओं के करने की नित्यप्रति चेष्टा करते रहें।

१२ शीलव्रतानिरतिचार–शील शब्द उत्तर गुणों से सम्बन्ध रखता है और व्रत शब्द मूल गुणों से सम्बन्ध रखता है। सो मूल गुण जैसे-पांच महाव्रत हैं, और उत्तर गुण जैसे प्रत्याख्यानादि हैं सो उक्त दोनों नियमों में अतिचार रूप दोष न लगने देना। क्योंकि–दोषों के लग जाने से गुण मलिन हो जाते हैं जैसे बादलों के आवरण से तथा राहु के प्रयोग से चन्द्रमा और सूर्य की कांति मध्यम हो जाती है ठीक तद्वत् गुण रूप चांदनी के लिये दोष रूप बादल वा राहु ही प्रतिपादन किये गए हैं अतएव जिस प्रकार ग्रहण किए हुए शीलव्रतों में दोष न लगजावे उसी प्रकार वर्त्तना चाहिए क्योंकि जब गृहीत–शीलव्रतों को शुद्धतापूर्वक पालन किया जायगा तब आत्मा में एक अलौकिक प्रकाश होने लगजाता है जैसे–मन के संकल्पों के निरोध करने से मन की एक अलौकिक शक्ति बढ़ जाती है। ठीक उसी प्रकार शीलव्रतों के शुद्ध पालने से आत्मविकाश होने लग जाता है। जिस कारण से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म के उपार्जन

की शक्ति उत्पादन कर लेता है अतएव शीलव्रतों को निरतिचार ही पालना चाहिए।

१३ क्षणलव—क्षण और लव यह दोनों शब्द काल के वाचक हैं, सो क्षणलव में संवेगभावना ध्यानासेवन के द्वारा भी उक्त कर्म बांधा जासकता है। इसका सारांश यह है कि-क्षण २ में संवेगभाव धारण करना चाहिये तथा अनित्यादि भावनाओं द्वारा अपना समय व्यतीत करना चाहिए। इतना ही नहीं किन्तु धर्मध्यान वा शुक्लध्यान द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा कर देनी चाहिये। कारण कि-पुरातन कर्मों के क्षय करने के यही पूर्वोक्त उत्तम मार्ग हैं। सो इन्हीं के सेवन से अपना पवित्र समय व्यतीत करना चाहिये, सो जब आत्मा में संवेगभाव उत्पन्न हो जायगा तब अनित्यादि भावनाएं और शुभ ध्यान सहज में ही प्राप्त किये जा सकते हैं। अतएव यदि क्षणलव शुभ क्रियाओं द्वारा व्यतीत किए जायेंगे तब क्षयोपशम-भाव द्वारा तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म के बन्ध की प्राप्ति हो जाती है। इस कथन से यह भी सिद्ध हुए बिना नहीं रह सकता कि-समय व्यर्थ न खोना चाहिये अपितु धर्मक्रियाओं द्वारा समय सफल करना चाहिये। जैसे वैतनिक पुरुष का समय वेतन के साथ वृद्धि पाता रहता है, ठीक तद्वत् धर्मी पुरुष का समय धर्म क्रियाओं द्वारा सफल हो जाता है।

१४ तपः—जिस प्रकार अग्नि आर्द्र इंधन वा शुष्क इंधन को भस्म कर देती है ठीक उसी प्रकार यावन्मात्र कर्म किये हुए हैं, वे सर्व तपकर्म द्वारा क्षय किये जा सकते हैं। अतएव प्रत्येक प्राणी को तप कर्म के आश्रित होना चाहिए, और फिर इसी तप क्रिया से अनेक प्रकार की आमोंषधि नामक ऋद्धिएं उत्पन्न हो जाती हैं, और आत्मा का तेज विशाल हो जाता है वा आत्म-तेज द्वारा जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है, अतएव तप करना अत्यावश्यकीय है। तथा बहुत से शारीरिक रोग भी तप कर्म से उपशान्त हो जाते हैं जब आत्मा नीरोगावस्था में होता है; तब समाधि आदि की क्रियाएं भी सुखपूर्वक साधन की जा सकती हैं तथा अनेक प्रकार के भयंकर कष्टों से तपकर्म द्वारा जीव रक्षा पाते हैं। सो बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तप-कर्म द्वारा उक्त कर्म का निबन्ध किया जा सकता है, सो यथाशक्ति तपकर्म करने का अवश्यमेव अभ्यास करना चाहिए।

१५ त्याग—दान-क्रियाओं से उक्त कर्म का निबन्धन किया जा सकता है सो यति आदि को उचित दान देने से उक्त कर्म करने का निबन्धन करना चाहिए। यद्यपि-दान के अनेक प्रकार से भेद वर्णन किए गए हैं, तथापि सब से बढ़ कर श्रुतविद्या का दान माना जाता है। क्योंकि- और दानों से तो ऐहलौकिक वा

पारलौकिक ही सुख मिल सकते हैं परन्तु श्रुतदान से अनंत मोक्ष के सुखों की प्राप्ति हो सकती है, इतना ही नहीं श्रुतविद्या के प्रचार से अनन्त आत्माओं की रक्षा करते हुए अनेक आत्मा मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं, और चित्त में शान्ति की प्राप्ति हो जाती है। जब श्रुत को उपयोगपूर्वक पढ़ा जाता है तब एक प्रकार का आत्मा में अलौकिक आनन्द का प्रादुर्भाव होने लगता है, उस आनन्द का अनुभव वही आत्मा कर सकता है कि- जिसको वह आनंद प्राप्त होता है, फिर दान शब्द से अन्य आहार वा औषधि आदि दानों का भी ग्रहण किया जाता है, सो यथायोग्य यति आदि को उचित दान देने से उक्त कर्म बांधा जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को यथायोग्य और यथा समय दान क्रियाओं का उपयोग करना चाहिए।

१६ वैयावृत्य—आचार्य उपाध्याय स्थविर कुल गण वा संघादि की यथा-योग्य वैयावृत्य करना इस क्रिया से भी उक्त कर्म का बंध हो जाता है-वैयावृत्य शब्द का अर्थ यथायोग्य प्रतिपत्ति (सेवा) का ही है सो जिस से संघोन्नति हो और श्रीसंघ में ज्ञानदर्शन और चारित्र की वृद्धि हो उसी का नाम संघसेवा है तथा जिस प्रकार आचार्यादि को समाधि की प्राप्ति हो उसी प्रकार की क्रियाएं ग्रहण करनी चाहिएं। कारण कि

वेयावच्चेणं भंते ! जीवे किंजणेइ ! वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोयं कम्मं निबंधइ"

उत्तराध्ययन सूत्र अ. २६ पा-४३

हे भगवन् ! वैयावृत्य करने से जीव किस फल की उपार्जना करता है ? हे शिष्य ! वैयावृत्य से तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म की उपार्जना की जाती है। सो वैयावृत्य शब्द का मुख्य प्रयोजन उन्नति और समाधि को उत्पादन करना है; सो उक्त दोनों क्रियाओं से उक्त कर्म बांधा जाता है तथा सेवा ही परम धर्म है इसी से कल्याण होसकता है, इसी के आश्रित होना चाहिए अर्थात् योग्य व्यक्तियों की सेवा करनी चाहिए।

१७ समाधि—आत्म-समाधि होने से भी उक्त कर्म बांधा जा सकता है। जैसे कि-द्रव्यसमाधि और भावसमाधि इस प्रकार दो प्रकार से समाधि वर्णन की गई है परन्तु जिस व्यक्ति को जिस पदार्थ की इच्छा हो जब उस को अभीष्ट पदार्थ की उपलब्धि हो जाती है, तब उसका चित्त समाधि में आजाता है, उसका नाम द्रव्यसमाधि है किन्तु वह समाधि चिरस्थायी नहीं होती है। जैसे कि-दाहज्वर के हो जाने से असीम तृष्णा (पिपासा) लगजाती है, अब उस व्यक्ति को कुछ शीतल जल की प्राप्ति हो जाती है तब वह अपने आत्मा

को समाधि में मानने लग जाता है, किन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो वह समाधि क्षणस्थायी सिद्ध होती है क्योंकि-द्वितीय क्षण में उस व्यक्ति की फिर वही दशा हो जाती है ठीक उसी प्रकार पदार्थों के विषय में भी जानना चाहिए। जैसे कि-जब अभीष्ट पदार्थ की उपलब्धि हो जाती है तब उस समय वह अपने आत्मा को समाधि में मानने लग जाता है और जब फिर उसकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है तब फिर उसके पास जो विद्यमान पदार्थ है वह उसके आत्मा को समाधि-प्रदान करने समर्थ नहीं रहता।

अतएव द्रव्य समाधि क्षणस्थायी कथन की गई है द्वितीय भाव समाधि है जो तीन प्रकार से प्रतिपादन की गई है। जैसे कि ज्ञानसमाधि, दर्शन-समाधि और चारित्रसमाधि। सो ज्ञानसमाधि उसका नाम है जो ज्ञान में आत्मा को निमग्न कर देता है। क्योंकि जिस समय ज्ञान में पदार्थों का यथावत् अनुभव किया जाता है, तब आत्मा में एक प्रकार का अलौकिक आनन्द उत्पन्न हो जाता है। सो वह आनन्द का समय समाधिरूप ही कहा जाता है। इसी प्रकार दर्शन-विषय में भी जानना चाहिए। क्योंकि-जब पदार्थों के जानने में वा जिनवाणी में दृढ़ विश्वास किया जाता है, तब शंकादि के उत्पन्न न होने से चित्त में सदैव समाधि बनी रहती है। यदि उस को कोई देव विशेष भी धर्मक्रियाओं से वा धर्मसिद्धान्त से विचलित करना चाहे तो उसका आत्मा इस प्रकार-दृढ़ होता है, जैसे कि सुमेरु पर्वत है। अर्थात् उसका आत्मा धर्म पथ से विचलित हो ही नहीं सकता है। तृतीय चारित्रसमाधि उस का नाम है जो श्रुतानुसार क्रियाएं करनी हैं तथा गुरु आदि की यथावत् आज्ञा पालन करनी हैं। जब स्थविरादि की यथावत् आज्ञा पालन की जाती है, तब अपने चित्त तथा स्थविरादि के चित्त को शांति होने से आत्मा में समाधि की उत्पत्ति हो जाती है, अतएव भावसमाधि उत्पन्न करके उक्त नाम गोत्रकर्म की उपार्जना कर लेनी चाहिए, क्योंकि-जब आत्मा में क्लेशादि के भाव उत्पन्न हो जाते हैं तब आत्मा में असमाधि की उत्पत्ति होने लग जाती है: जिस के माहात्म्य से अशुभ प्रकृतियों का बंध पड़ता जाता है फिर उसका अंतिम परिणाम दुःखप्रद होता है।

१८ अपूर्वज्ञानग्रहण—अपूर्व ज्ञान के ग्रहण से भी उक्त कर्म का निबंधन किया जा सकता है-इस अंक का तात्पर्य यह है कि हेय ज्ञेय-और उपादेय के यथावत् स्वरूप को जो जानना है, उसी का नाम अपूर्व ज्ञान ग्रहण है तथा उक्त अंकों को हृदय में ठीक स्थापन करके फिर स्वसमय और परसमय के सिद्धान्तों का अवलोकन करना है उस समय यथार्थ ज्ञान के प्राप्त होने पर जो आत्मा में एक प्रकार का अलौकिक आनन्द रस उत्पन्न होता है वह अकथनीय होता है तथा नूतन २ ज्ञान के सीखने का अभ्यास निरंतर करते रहना उसी का नाम अपूर्व

ज्ञानग्रहण है। क्योंकि-जब नूतन २ ज्ञान सीखता रहता है तब उसके आत्मा को एक प्रकार का आनन्द उत्पन्न होता रहता है, उस आनन्द के माहात्म्य से उसके आत्मा में सदैव समाधि बनी रहती है और चित्त उसका प्रसन्न रहता है यही कारण है कि-वह उक्त कर्म के बन्धन के योग्य हो जाता है। क्योंकि-यावत्काल ज्ञान समाधि उत्पन्न नहीं की गई तावत्काल पर्यन्त अन्य समाधियों की आत्मा में उत्पत्ति मानना आकाश के कुसुमवत् ही सिद्ध होती है। अपितु जब ज्ञान समाधि की प्राप्ति हो जाती है तब अन्य समाधिएं सहज में ही प्रगट हो जाती हैं। अतएव ज्ञान समाधि के उत्पादन के लिये अपूर्वज्ञानग्रहण करना चाहिए, जिस से उक्त समाधि की प्राप्ति हो जावे तथा जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से तिमिर नष्ट हो जाता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान रूपी तिमिर भी सहज में ही भाग जाता है। सो जब अज्ञान नष्ट हो गया तब आत्मा में समाधि उत्पन्न हो ही जाती है सो उक्त प्रकार की समाधि के लिये अपूर्व ज्ञान अवश्य ही सीखना चाहिए।

१६ श्रुतभक्ति—श्रुतभक्ति करने से भी उक्त कर्म-निबंधन किया जा सकता है; क्योंकि-जब श्रुत की भक्ति की जायगी तब आत्मा में समाधि उत्पन्न हो जाती है, सो उस समाधि का फल कर्म-क्षय वा शुभ कर्मों का बंधन हो जाना माना जाता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि-श्रुत भक्ति किस प्रकार करनी चाहिए इसके उत्तर में कहा जाता है कि-जिस प्रकार गुरुभक्ति की जाती है उसी प्रकार श्रुत भक्ति होनी चाहिए। गुरु-भक्ति का मुख्योद्देश गुरु-आज्ञा पालन करना ही है, उसी प्रकार श्रुत की आज्ञा अनुसार धार्मिक चेष्टाएं करते रहना उसी का नाम श्रुत भक्ति है। क्योंकि-किसी नय की अपेक्षा श्रुत देवाधिदेव ही कहा जा सकता है। जैसे कि "प्रवचन और प्रवचनी" सूत्रों में श्रीभगवान् को प्रावचणी लिखा है, और उनकी वाणी को प्रवचन प्रतिपादन किया गया है; सो जब श्रीभगवान् की वाणी प्रवचन है, तब प्रवचन की आज्ञानुसार क्रिया-कलाप करना वह सब भगवत् की आज्ञा पालन करना है। अतएव सिद्ध हुआ जिस प्रकार गुरु-भक्ति का मुख्योद्देश गुरु की आज्ञा पालन करना है ठीक उसी प्रकार श्री श्रुत की आज्ञानुसार क्रियाकांड करना उसी को श्रुत भक्ति कहा जा सकता है। और साथ ही जिस प्रकार श्रुत का अविनय न हो उसी प्रकार काम करना इसका यह मन्तव्य है, जब जनता के आगे प्रेम पूर्वक श्रुत का प्रदान किया जायगा तब यह अपने हितका अन्वेषण करती हुई श्रुत का बहुमान करने लगजाती है तथा उसके हृदय में श्रुत का परम महत्व बैठता जाता है जिससे उसका ध्यान पुनः २ श्रुत के सुनने का हो जाता है। इतना ही नहीं किन्तु फिर वह श्रुत वाक्य को बड़े प्रेम के साथ अपने हृदय में स्थापन कर उसके कथनानुसार अपने जीवन को

पवित्र करने के लिये चेष्टा करने लग जाती है। इसी वास्ते सूत्र में लिखा है कि-श्रुत की आराधना करने से अज्ञान और क्लेश दोनों का ही नाश हो जाता है; क्यों कि-क्लेश का होना अज्ञानता का ही माहात्म्य है, जब अज्ञान नष्ट हो गया तब क्लेश साथ ही जाता रहा। अतएव सिद्ध हुआ कि-श्रुतभक्ति द्वारा उक्त कर्म के बन्धन से अनेक आत्माओं का कल्याण करके प्राणी मोक्ष-गमन कर लेता है।

२० प्रवचन प्रभावना—शास्त्र की प्रभावना करने से उक्त प्रकार का कर्म-बंधन किया जा सकता है, परंच शास्त्रप्रभावना यथाशक्ति सत्पथ के उपदेश करने से ही हो सकती है। क्योंकि-जब भव्य आत्माओं को पुनः पुनः शास्त्र पढ़ाया वा सुनाया जाता है, तब वे भव्यात्मा शास्त्र में कथन किये हुए सत्य पदार्थों का अपने शुद्ध हृदय में अनुभव करते हैं अर्थात् अनुप्रेक्षा करते हैं; और उनके हृदय में उस शास्त्र की प्रभावना बैठ जाती है। अतएव आलस्य वा प्रमाद को छोड़ कर केवल भव्यात्माओं को शास्त्र-विहित उपदेश सुना कर प्रवचनप्रभावना करनी चाहिए। यह बात अनिवार्य मानी जासकती है; कि-जो बात अपने हृदय में निश्चय कर बैठाई जावे; यावन्मात्र उसका फल होता है तावन्मात्र किसी अन्य बलवान् के आदेश के द्वारा कार्य किये जाने पर नहीं हो सकता। जैसे-एक हिंसक पुरुष हिंसा के फल को ठीक समझ कर हिंसा-कर्म का परित्याग करता है, और एक पुरुष संवत्सरी आदि पर्वों में राजाज्ञा द्वारा उक्त कर्म से निवृत्त होता है। उन में यावन्मात्र फल स्वयं हिंसा के फल को जान कर त्यागने वाले को उपलब्ध हो सकता है तावन्मात्र फल जो राजाज्ञा द्वारा कुछ समय के लिये हिंसा से निवृत्त होता है, उस व्यक्ति को नहीं हो सकता। कारण कि- उसका अन्तःकरण स्वयं निवृत्त नहीं है। अतः शास्त्रों द्वारा हर एक पदार्थ का फलाफल जान कर उससे निवृत्ति करनी चाहिए। सो इस प्रकार का बोध शास्त्र सुनने से ही प्राप्त हो सकता है, इसी लिये शास्त्रों का पठनपाठन आवश्यकीय प्रतिपादन किया गया है। सच्ची प्रभावना इसी प्रकार से हो सकती है। यद्यपि आधुनिक समय में अनेक प्रकार से प्रभावना करने की प्रथाएं प्रचलित हो रही हैं, तथापि वे प्रभावनाएं प्रभावना का जैसा फल होना चाहिए था उस प्रकार का फल देने में असमर्थ सिद्ध होती हैं। प्रवचनप्रभावना जिस प्रकार हो सके; और जिस के माहात्म्य से जीव मोक्ष साधन के अधिकारी बन जावें, उस प्रभावना के द्वारा जीव तीर्थंकर नाम गोत्र की उपार्जना करके फिर अनेक भव्यात्माओं को मोक्षाधि-कारी बना कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। जब जीव उक्त कारणों से तीर्थं-कर नाम गोत्र कर्म का निबन्धन कर लेता है तब वह स्वर्गादि में जाकर

फिर इस मनुष्य लोक में उत्तम राज्य वंशादि में जन्म धारण करके फिर मुनिवृत्ति धारण कर लेता है। उक्त वृत्ति में महान् तपादि क्रियानुष्ठान कर ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय, इन चारों कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है। जिससे वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। फिर वह अपने पवित्र उपदेशों द्वारा साधु साध्वी श्रावक और श्राविका रूप चारों संघों की स्थापना करता है, जिनके सत्योपदेश द्वारा अनेक भव्यात्माएं अपना कल्याण करने लग जाती हैं। तीर्थंकर प्रभु चतुस्त्रिंशत् अतिशय और पंचत्रिंशत् वागतिशयों से युक्त होके इस लोक में अनेक भव्य प्राणियों के हित के लिये धर्मोपदेश देते हुए स्थान २ पर विचरते हैं। यद्यपि—अर्हन् और तीर्थंकर देव का ज्ञान का विषय परस्पर कोई विशेष नहीं होता, परन्तु नाम कर्म अवश्य विशेष होता है। सो तीर्थंकर नाम के उदय से जीव अनेक भव्य प्राणियों का कल्याण करते हुए मोक्ष पद की प्राप्ति कर लेते हैं। श्रीसमवायांग सूत्र के चतुस्त्रिंशत् स्थान में चतुस्त्रिंशदतिशय निम्न प्रकार से वर्णन की गई हैं। तथा च—

चोत्तीसं बुद्धाइ सेसा पण्णत्ता तं जहा—

बुद्धों (तीर्थंकरों) की चौंतीस अतिशय प्रतिपादन की गई हैं। जैसे कि—

१ अवट्ठिए केसमंसुरोमनहे—

तीर्थंकर प्रभु के केश–श्मश्रु–दाढ़ी मूंछ के बाल शरीर के रोम और नख, यह सदैव काल अवस्थितावस्था में रहते हैं अर्थात् जिस प्रकार नापित द्वारा केशों का अलंकार कराया हुआ होता है वह भाव उनका स्वाभाविक ही होता है। क्योंकि-जिस प्रकार भुजा वा जंघा आदि के रोम परिमितावस्था में प्रत्येक व्यक्ति के रहते (होते हैं) ठीक उसी प्रकार श्री भगवान् के सर्व शरीर के रोम वा केश अवस्थित अवस्था में रहते हैं। यही पुण्य के उपार्जन किये हुए फल का लक्षण है।

२ निरामयानिरुवलेवा गायलट्ठी

शरीर रूपी लता जिन की नीरोग और निर्मल हो जाती है अर्थात् गात्र यष्टि रोग से रहित और निर्मल होती है। क्योंकि—जब शरीर रोग से रहित होता है तब उसकी निर्मलता स्वभाविकता से ही हो जाती है। रोग-युक्त शरीर उपकार करने में प्रायः असमर्थ सा हो जाता है। अतएव नीरोगावस्था में रहना यह भी उस आत्मा का अतिशय है।

३ गोक्खीर पंडुरे मंससोणिए

रुधिर और मांस गो दुग्ध के समान श्वेतवर्ण का होता है। यद्यपि रुधिर का वर्णन प्रायः रक्त ही कथन किया गया है, परन्तु उनके अतिशय के माहात्म्य से रुधिर वा मांस श्वेत वर्ण का होजाता है। यदि ऐसे कहा जाय कि—यह प्रकृति-विरुद्ध नियम किस प्रकार हो सकता है? इसका समाधान यह किया जाता है कि—यह प्रकृति-विरुद्ध नियम नहीं है, किन्तु यह एक पुण्यकर्म का उत्कृष्ट फलादेश है। क्योंकि पुद्गल पांचवर्णों में परिणत होता रहता है। जैसे जन्त्वागार में शुक वा मयूर श्वेतवर्ण के देखे जाते हैं किन्तु प्रायः मयूर नील वर्ण के ही होते हैं तथा उनकी पिच्छ अनेक प्रकार के वर्णों से चित्रित होती है, और (तोते) प्रायः हरे वर्ण के होते हैं, परन्तु जब मयूर वा शुक श्वेतवर्ण के देखने में आते हैं तब उनमें पूर्वोक्त बातें नहीं पाई जातीं, तो क्या इन जीवों को प्रकृति-विरुद्ध माना जायगा? नहीं। इसी प्रकार महापुण्योदय से वा प्रकाशमय आत्मा होने से तीर्थंकर प्रभु के शरीर का रुधिर और मांस श्वेत प्रभा का धारण करने वाला होता है। क्योंकि-पुद्गल द्रव्य अनन्त पर्यायों का धारण करने वाला होता है। तथा कुछ २ व्यक्तियों में दुग्ध विषय में भी विवाद चलता रहता है। उनका कथन है कि-शरीरज होने से दुग्ध भी एक प्रकार का रुधिर ही है: सो यह पक्ष नाड़ियों के पृथक् २ होने से अमान्य है, अतएव सिद्ध हुआ कि श्रीतीर्थंकर देव के शरीर का रुधिर और मांस श्वेत वर्ण वाला ही होता है। साथ ही इसमें यह भी जानना उचित है कि-यह कथन सापेक्ष है, और पुण्य कर्म की एक विलक्षणता दिखलाई गई है।

४ पउमुप्पलगंधिए उस्सासनिस्सासे।

जिस प्रकार सुगंधमय द्रव्यों का तथा नीलोत्पल कमल का सुगंध होता है, उसी प्रकार का सुगंध उच्छ्वास और निश्वास द्वारा श्री भगवान् के वायु से आता है अर्थात् श्रीभगवान् का उच्छ्वास नीलोत्पल कमलवत् तथा सुगन्ध मय द्रव्यों के समान होता है। इस का कारण यह है कि-उनके पुण्योदय से उनके शरीर का वायु प्रायः दुर्गन्धमय नहीं होता। यह उपमालंकार से कथन किया गया है। यदि ऐसे कहा जाय कि-जब उनका शरीर अन्न के आधार पर ठहरा हुआ है, तो फिर उश्वास वा निश्वास उक्त प्रकार से किस प्रकार शुद्ध हो सकता है? इस के उत्तर में कहा जाता है कि-प्रायः तैजस शरीर के मन्द पड़ जाने से उच्छ्वास और निश्वास में विकृति विशेष हो जाती है; उस से उन का तैजस शरीर मंदता का धारण करने वाला नहीं होता है, तथा समाधिस्थ आत्मा प्रकाशमय हो जाने से उसके अशुभ पुद्गल शुभ भाव के धारण करने वाले हो जाते हैं।

५ पच्छन्ने आहार नीहारे अदिस्से "मंस" चक्खुणा

उनका आहार और नीहार मांस चक्षु वालों के लिये अदृश्य होता है। इस से सिद्ध हुआ कि-अन्तरंग (अवधि आदि ज्ञान वाले): चक्षुओं वाले श्री-भगवान् को आहार करते हुए वा मूत्र पुरीष (विष्ठा) को उत्सर्ग करते हुए देख सकते हैं: किन्तु चर्म-चक्षुओं द्वारा वे उक्त क्रियाएं करते हुए दृष्टिगोचर नहीं होते। इस से अन्य व्यक्तियों को भी शिक्षा लेनी चाहिए कि-यह दोनों क्रियाएं प्रच्छन्न ही की हुई अच्छी होती हैं।

६ आगासगय चक्कं।

जब श्री भगवान विहार क्रिया में प्रवृत्त होते हैं. तब धर्म चक्र आकाश में चलने लगता है: क्यों कि-धर्म चक्र के आकाश में चलने पर यह सूचित हो जाता है कि-धर्म चक्रवर्त्ती श्री भगवान अमुक देश वा अमुक ग्राम नगर आदि में पधार रहे हैं।

७ आगासगयं छत्तं।

आकाश में तीन छत्र भी चलते हैं, जिससे श्रीभगवान् त्रिलोकी के नाथ सिद्ध होते हैं। क्योंकि-वास्तव में श्रीभगवान् ही त्रिलोकी के नाथ हैं। सर्व-हितैषी होने से शेष आत्मा-व्यवहार पक्ष में नाथ होने पर भी अनाथ ही माने गए हैं।

८ आगासगयाओ सेयवरचामराओ।

आकाश में अत्यन्त श्वेत (सफेद) चामर भी चलते हैं। क्योंकि-जिस प्रकार छत्र वा चामर राज्य-चिन्ह वर्णन किये गए हैं, ठीक उसी प्रकार लोकोत्तर पक्ष में देवाधिदेव के भी उक्त चिन्ह प्रतिपादन किये गए हैं।

९ आगासफालियामयं सपायपीढं सीहासणं।

आकाशवत् अत्यन्त निर्मल स्फटिक रत्नमय पादपीठ के साथ सिंहासन भी आकाश-गत होता है अर्थात् अत्यन्त स्वच्छ और पादपीठ युक्त सिंहासन आकाश में चलता है।

१० आगासगओ कुडभी सहस्सपरिमंडियाभिरामो इंदज्झओ पुरओ गच्छइ।

आकाश गत अत्यन्त ऊंचा लघु पताका से युक्त और अति मनोहर अन्य ध्वजाओं की अपेक्षा अतिमहती श्रीभगवान् के आगे इन्द्रध्वजा नामी ध्वजा भी चलती है. जोकि-सहस्र लघु पताकाओं से परिमंडित होती है। इस से श्रीभगवान् का इन्द्रत्व सूचित होता है। इसका सारांश यह है कि जिस समय श्रीभगवान् विहार करते हैं. तब उनके आगे आगे इन्द्रध्वजा भी

चलती है, जो श्रीभगवान् की सर्वज्ञता को सूचित करने वाली है।

११ जत्थ जत्थ विय णं अरहंता भगवंता चिट्ठंति वा निसीयंति वा तत्थ तत्थ वियणं तक्खणादेव (जक्खादेवा) संछन्न पत्त पुप्फ पल्लव समाउलो सछत्तो सज्झओ सघंटो सपडागो असोगवर पायवे अभिसंजायइ ॥

जिस २ स्थान पर श्रीभगवान् खड़े होते हैं वा बैठते हैं उसी २ स्थान पर तत्क्षण ही पत्र और पुष्पों से संच्छन्न और अंकुर युक्त तथा छत्र और ध्वजा वा घंटा अथवा पताका संयुक्त प्रधान-अशोक नामी वृक्ष उत्पन्न हो जाता है अर्थात् फल पुष्पों से युक्त तथा यावन्मात्र प्रधान वृक्षों की लक्ष्मी होती है उस लक्ष्मी से युक्त छत्र ध्वजा वा घंटा और पताका–संयुक्त अशोक नाम वाला वृक्ष भी उत्पन्न हो जाता है; जिससे श्रीभगवान के ऊपर छाया हो जाती है। यह सब अतिशय कर्म-क्षय होने से ही उत्पन्न हो सकती है। कारण कि–जो तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म बांधा हुआ होता है; उसके भोगने के लिये उक्त क्रियाएं स्वाभाविक हो जाती हैं। यह सब घातिए कर्मों के क्षय करने का ही माहात्म्य है।

१२ ईसिं पिट्ठओ मउडट्ठाणंमि तेयमंडलं अभिसंजायइ अंधकारे वियणं। दस दिसाओ पभासेइ।

पृष्ठ के पिछले भाग में एक तेजोमंडल होता है, जो दसों दिशाओं में विस्तृत हुए अंधकार का नाश करता है अर्थात् उस प्रभास मंडल के द्वारा श्री भगवान के समीप सदैव काल उद्योत रहता है। यह एक प्रकार की आत्म-शक्ति का ही माहात्म्य है, जिस के कारण से अंधकार का सर्वथा नाश हो जाता है।

१३ बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे।

जहां पर श्री भगवान विचरते हैं वह भूमि भाग अत्यन्त सम और रमणीय हो जाता है। भूमि भाग की विषमता दूर हो जाती है, उसका सौंदर्य अत्यन्त्य बढ़ जाता है।

१४—अहोसिरा कंटया जायन्ति (भवंति)।

और कंटक अधोसिर हो जाते हैं अर्थात् यदि मार्ग में कंटक भी पड़े हों तो वे भी अधोशिर हो जाते हैं। जिस कारण से वे पथ के चलने वालों को अपने तीक्ष्ण स्वभाव से पीडित करने में समर्थ नहीं रहते।

१५—उऊ विवरीया सुहफासा भवंति।

ऋतु के विपरीत होने पर भी सुखकारी स्पर्श रहता है अर्थात् ऋतु

के विपरीत होने पर सुखकारी स्पर्श होते रहते हैं। जैसे कि-शीत ऋतु के होने पर अत्यन्त शीत का न होना इसी प्रकार उष्ण ऋतु के आ जाने पर अत्यन्त उष्णता न पड़ना; अपितु जिस प्रकार स्पर्श सुख रूप प्रकट होते रहें ऋतु उसी प्रकार परिणत होती रहती है। कारण कि-श्रीभगवान् के पुण्यौघ के माहात्म्य से सदैव काल सुख रूप ही होकर परिणत होता रहता है।

१६ सीयलेणं सुहफासेणं सुरभिणा मारुएणं जोयण परिमंडलं सव्वओ समंतओ संपमज्जिज्जइ

जिस स्थान पर श्रीभगवान् विराजमान हो जाते हैं, वहां पर शीतल सुख रूप स्पर्श द्वारा और सुरभि मारुत से एक योजन प्रमाण क्षेत्र मंडल शुद्ध हो जाता है अर्थात् योजन प्रमाण क्षेत्र पवित्र वायु द्वारा सर्वथा सम्प्रमार्जित हो जाता है। जिस कारण से धर्म-कथा के श्रोताओं को बैठने में कोई भी खेद नहीं होता।

१७ जुत्त फुसिएणं मेहेणय नि हयरयरेणू पंकिज्जइ।

वायु द्वारा जो रज आकाश में विस्तृत हो गई थी वह उचित जल-विन्दु के पात से उपशांत हो जाती है अर्थात् वायु के हो जाने के पश्चात् फिर स्तोक २ मेघ की बूंदों द्वारा रज उपशांत हो जाती है। जिस से वह स्थान परम रमणीय हो जाता है।

१८ जलथलय भासुर पभूतेणं बिंटट्ठाइणा दसद्ध वण्णेणं कुसुमेणं जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते पुप्फोवयारे किज्जइ।

जलज और स्थलज भासुर रूप ऊर्द्ध मुख पांच वर्णों के पुष्पों का जानु प्रमाण पुष्पोपचार हो जाता है अर्थात् उस योजन प्रमाण क्षेत्र में दीप्ति वाले पुष्पों का संग्रह दीख पड़ता है, और वे पुष्प इस प्रकार से दीख पड़ते हैं जैसे कि-जलज और स्थलज होते हैं।

१६ अमणुण्णाणं सद्दफरिसरसरूवगंधाणं अवकरिसो भवइ।

अमनोज्ञ शब्द स्पर्श रस रूप और गंध इनका अपकर्ष होता है अर्थात् श्रीभगवान् के समवशरण में अप्रिय शब्द रूप गंध रस और स्पर्श यह नहीं होते। क्योंकि-इनका विशेष होना पुण्यापकर्ष माना जाता है, और श्रीभगवान् पुण्य के परम पवित्र स्थान हैं।

२० मणुण्णाणं सद्दफरिसरसरूवगंधाणं पाउब्भावो भवइ।

परम रमणीय शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध यह प्रकट हो जाते हैं अर्थात् उनके समीप अशुभ पदार्थ नहीं रहते, किन्तु यावन्मात्र शुभ पदार्थ हैं, वे ही

वहां पर प्रगट हो जाते हैं।

२१ पच्चाहरओ वियणं हिययगमणीओ जोयणणीहारीसरो।

श्रीभगवान् का व्याख्यान करते समय हृदय में गमनीय और अति मधुर एक योजन प्रमाण स्वर (वाणी) होता है अर्थात् श्री भगवान का स्वर एक योजन प्रमाण होता है; जिस से श्रोताओं को उस स्वर द्वारा सुख पूर्वक ज्ञान हो जाता है।

२२ भगवंचणं अद्धमागहीएं भासाए धम्ममाइक्खइ।

श्रीभगवान् अर्द्धमागधी भाषा में धर्म कथा करते हैं। प्राकृत १ संस्कृत २ शौरसेनी ३ मागधी ४ पैशाची ५ और अपभ्रंश ६ यह षट् भाषाएं हैं, इन में जो "रसोर्लसौमागध्याम्" इत्यादि सूत्र मागधी भा। । के वर्णन करने में आते हैं। उन लक्षणों से युक्त और प्राकृतादि से युक्त अर्द्धमागधी नाम वाली भाषा में श्रीभगवान् धर्म–कथा करते हैं

२३ सावियणं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरिय मणारियाणं दुप्पए-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि सरीसिवाणं अप्पणोहिय सिवसुहयभासत्ताए परिणमइ।

वह अर्द्धमागधी भाषा भाषण की हुई उन सर्व आर्य अनार्य द्विपद (मनुष्य) चतुष्पद (गवादयः) मृग (अटवी के पशु) पशु (ग्राम्य के पशु) पक्षी और सांप इन की आत्मीय भाषा में परिणत (तबदील) हो जाती है तथा वह अर्द्धमागधी भाषा अभ्युदय करने वाली मोक्ष सुख को देने वाली और आनन्द को देने वाली होती है। जिस प्रकार मेघ का जल एक रसमय होने पर भी भिन्न २ प्रकार के वृक्षों के फलों में भिन्न २ प्रकार से परिणत हो जाता है ठीक उसी प्रकार अर्द्धमागधी भाषा के विषय में भी जानना चाहिए। इस से यह भी सिद्ध किया गया है कि–श्रीभगवान् के अतिशय के माहात्म्य से आर्य अनार्य पशु पक्षी आदि श्री भगवान् के सत्योपदेश से लाभ उठाते थे। तथा इस से यह भी ध्वनि निकल आती है कि-प्रत्येक प्राणी को उनकी भाषा में ही शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए; जिस से वे शीघ्रता से बोध पासकें

२४ पुव्वबद्धवेरा वियणं देवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसाकिंनर किंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगा अरहओपायमूले पसंतचित्तमाणसा धम्मं निसामंति।

श्रीभगवान् के समीप बैठे हुए देव, असुर, नाग, सुवर्ण, यक्ष, राक्षस, किंनर, किंपुरुष, गरुड, गंधर्व महोरग इत्यादि देव गण पूर्वबद्ध वैर होने पर भी

प्रशांतचित्त होकर धर्म कथा श्रवण करते हैं अर्थात् जाति-वैर होने पर भी वैर भाव को छोड़ कर धर्म कथा से लाभ उठाते हैं। जब देवताओं के विषय में इस प्रकार कथन किया गया है तो फिर मनुष्यों के विषय में तो कहना ही क्या है ? अर्थात् श्रीभगवान् के समीप धर्म-कथा के सुनने के समय "सिंह और बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं" यही जनश्रुति चरितार्थ होती है। तथा अहिंसा की यही महिमा है जिस से जाति-वैर भी नष्ट होजाए।

२५ अण्ण उत्थिय पावयणियाविय णमागया वंदन्ति।

श्री भगवान् के अतिशय के माहात्म्य से जैनेतर लोग भी आ कर वंदना करते हैं अर्थात् जो अन्य प्रावचनी पुरुष हैं, वे अपने सिद्धान्त में परम दृढ़ता रखते हुए भी श्री भगवान् के सन्मुख आते ही नम्र हो जाते हैं; अहंकार भाव छोड़ कर श्री भगवान् की स्तुति करने लगजाते हैं।

२६ आगया समाणा अरहओ पायमूले निप्पडिवयणा हवंति।

यदि अर्हन् भगवान् को वे वादी पराजित करने के लिये आएं तो वे फिर निरुत्तर होजाते हैं; क्योंकि-सूर्य के प्रकाश के सन्मुख खद्योत (जुगनु) का प्रकाश किस प्रकार शोभा पासकता है. ठीक तद्वत् केवल ज्ञान के सन्मुख क्षुद्र मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान द्वारा कल्पन किये हुए पदार्थ किस प्रकार ठहर सकते हैं ? सो अर्हन् भगवान् के सन्मुख वादी निष्प्रतिवचन (चुप) होकर ठहरते हैं।

२७ जओ जओ वियणं अरहंता भगवंतो विहरंति तओ तओ वियणं जोयण पणवीसाएणं इत्ती न भवइ।

जिस २ देश में श्री अर्हन् भगवान् विचरते हैं, उस २ देश में पच्चीस (२५) योजन प्रमाण धान्यादि के उपद्रव करने वाले प्राणी-गण उत्पन्न नहीं होते अर्थात् १०० कोश प्रमाण जिस देश में श्रीभगवान् विराजमान होते हैं उस देश में उपद्रवादि नहीं हो सकते कारणकि-उनके पुण्य के माहात्म्य से १०० कोश प्रमाण तक किसी प्रकार का उपद्रव होता ही नहीं।

२८ मारी न भवइ।

१०० कोश प्रमाण में मरी भी नहीं पड़ती जैसे मरी के पड़जाने से बहुत प्राणी मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं; उसी प्रकार १०० कोश प्रमाण क्षेत्र तक श्री भगवान् के अतिशय के माहात्म्य से प्राणी महामारी के भय से विमुक्त रहते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु वे आनन्द पूर्वक समय व्यतीत करते हैं।

२९ सचक्कं न भवइ।

अपने राजा की ओर से किसी प्रकार के उपद्रव होने की आशंका

का न होना अर्थात् राजा की ओर से प्रजा को किसी प्रकार से भी भय नहीं होता।

३० परचक्कं न भवइ।

पर-राजाओं की ओर से भी कोई उपद्रव नहीं होता। क्योंकि-जिस समय स्वकीय और परकीय राजाओं की ओर से किसी उपद्रव होने की आशंका नहीं होती: उस समय प्रजा प्रसन्नता पूर्वक अपनी वृद्धि की ओर झुक सकती है। इतना ही नहीं किन्तु स्वेच्छानुसार वृद्धि कर सकती है।

३१ अइवुट्ठि न भवइ।

जिस देश में श्री भगवान् विचरते हैं उस देश में हानिकारक वृष्टि नहीं होती, क्योंकि अतिवृष्टि होने से जन धन और कुलों का भी क्षय हो जाता है। लोक अति कष्ट में पड़जाते हैं। जनता प्राणों की रक्षा के लिये भी व्याकुल हो उठती है। सो श्रीभगवान् के पुण्योदय से देश में अतिवृष्टि होती ही नहीं।

३२ अणावुट्ठि न भवइ।

अनावृष्टि भी नहीं होती। क्योंकि-जिस प्रकार अतिवृष्टि से जनता को कष्ट सहन करने पड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार वर्षा के अभाव से भी वे ही कष्ट उपस्थित हो जाते हैं। जिससे जन धन और कुल-क्षय होने की सम्भावना की जा सकती है। अतएव श्रीभगवान् के अतिशय के माहात्म्य से अनावृष्टि भी नहीं होती। अपितु धान्यों के वृद्धि करने वाली प्रमाण पूर्वक ही वृष्टि होती है।

३३ दुभिक्खं न भवइ।

दुर्भिक्ष नहीं होता। क्योंकि-दुष्काल के पड़ जाने से अनेक प्रकार की विपत्तियों का जनता को सामना करना पड़ता है: जिससे विद्या, बुद्धि तथा बल धर्मादि की गति ये सब मंद पड़जाते हैं: और सदैव काल भूख के सहन करने से प्राणों के रहने का भी संशय रहता है, और यावन्मात्र हानियां तथा उपद्रव उपस्थित होते हैं, उनका मुख्य कारण दुर्भिक्ष ही होता है तथा दुर्भिक्ष के कारण धर्म की गति अति मन्द पड़ जाती है।

३४ पुव्वुप्पएणावियणं उप्पाइया वाही खिप्पमिव उवसमंति।

पूर्व-उत्पन्न ज्वरादि रोग वा व्याधियों तथा अनिष्ट सूचक उत्पातों के द्वारा जो प्रजा को अशान्ति के उत्पन्न होने के लक्षण दीखते हैं: वे सब श्री भगवान् के अतिशय के माहात्म्य से उपशम होजाते हैं अर्थात् देश में सर्वथा शान्ति विराजमान रहती है। इसमें कतिपय अतिशय जन्म से ही होते हैं, और कतिपय दीक्षा के पश्चात् केवल ज्ञान होने पर प्रगट होते हैं, तथा कतिपय अतिशय भव-प्रत्यय और कतिपय देवकृत माने जाते हैं; परन्च सब

अतिशय क्षायिक भाव वा तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म के माहात्म्य से ही उत्पन्न हुआ करते हैं। अतएव श्रीभगवान् देवाधिदेव और प्रत्येक प्राणी के हितैषी होते हैं। उनकी पवित्र वाणी के श्रवण से अनेक भव्यात्मा अपना कल्याण करते हैं। क्योंकि-श्रीभगवान् की वाणी यथावत् पदार्थों के दिखलाने वाली और वाणी के गुणों से अलंकृत होती है। जैसे-कि-शास्त्रों में श्रीभगवान् की वाणी के भी ३५ अतिशय वर्णन किये गए हैं यथा—

"पणतीसं सच्चवयणाइसेसा पण्णत्ता"

समवायांगसूत्र स्थान ३५ ॥ सूत्र ३५

सत्य वचन के ३५ अतिशय प्रतिपादन किये गए हैं; जिन की नाम संख्या ग्रन्थांतर में इस प्रकार से लिखी है। जैसे कि-

१ संस्कारवत्वम्—श्रीभगवान् की वाणी संस्कृतादिलक्षण युक्त होती है अर्थात् वह वाणी शब्दागम के नियमों से विरुद्ध नहीं होती, किन्तु शब्दागम के नियमों से युक्त होती है। इसी वास्ते उस वाणी का विशेषण संस्कारवत्त्व प्रतिपादन किया गया है।

२ उदात्तत्वम्—ऊंचे स्वर वाली होती है। जोकि-एक योजन प्रमाण क्षेत्र समवसरण का प्रतिपादन किया गया है। उस में वह एक योजन प्रमाण स्पष्ट रूप से विस्तृत हो जाती है, जिसको प्रत्येक प्राणी स्फुट रूप से समझता है।

३ उपचारोपेतत्वम्—गुणों से युक्त होती है, किन्तु ग्राम्यता उस में नहीं पाई जाती। क्योंकि-ग्रामीण भाषा अलंकारों से प्रायः वर्जित ही होती है।

४ गंभीरशब्द—मेघवत् गम्भीर शब्द होता है। इस प्रकार के शब्द में योग्यता और प्रभाव स्वाभाविकता से होता है।

५ अनुनादित्वं—प्रतिरव से युक्त-अर्थात् उस में प्रतिच्छन्द (प्रति ध्वनि) उठते हैं।

६ दक्षिणत्वं—सरल गुण से युक्त-वाणी में छल पूर्वक कथन नहीं होता अपितु उस में दक्षिणता भरी हुई होती है।

७ उपनीतरागत्वं—माल कोशादि ग्रामराग युक्त-अर्थात् वह वाणी राग से भी युक्त होती है, किन्तु यह सातों वचनातिशय शब्द की अपेक्षा से कथन किये गए हैं। इससे आगे यावन्मात्र अतिशय कथन किये जायेंगे उन में अर्थ की प्रधानता दिखलाई जावेगी।

८ महार्थत्वं—अल्प अक्षरों में महार्थ भरा हुआ होता है। जैसे-सूत्र रचना होती है, तद्वत् स्तोक कथन महार्थों का देने वाला होता है।

९ अव्याहतपौर्वापर्यत्वं—पूर्वापर वाक्य में परस्पर विरोध नहीं होता। क्योंकि-जो वाक्य पूर्वापर विरोध युक्त होता है, वह अपने कथन करने हारे

की आप्तता का घातक हो जाता है । अतएव सर्वज्ञ प्रभु के वाक्य पूर्वापर विरोध के प्रकट करने वाले नहीं होते किन्तु स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रकट करने वाले होते हैं अर्थात् सापेक्षिक वाक्य होते हैं। जैसे एक व्यक्ति को उसके पिताकी अपेक्षा पुत्र भी कह सकते हैं, और उसके पुत्र की अपेक्षा पिता भी कह सकते हैं ।

१० शिष्टत्वं—अभिप्रेत सिद्धान्तोक्त की शिष्टता का सूचक वाक्य अर्थात् जिस पक्ष को स्वीकार किया हुआ है उस सिद्धान्त की योग्यता का सूचक वाक्य होता है ।

११ असंदिग्धत्वम्—श्रोता जनों के संदेह को दूर करने वाला वाक्य होता है तथा श्रोताजनों को किसी प्रकार से भी श्री भगवत् की वाणी में संशय उत्पन्न नहीं हो सकता वा वाणी भ्रम युक्त नहीं होती कि-इन्होंने क्या प्रतिपादन किया है ? अतएव संदेह रहित वाक्य होता है ।

१२ अपहृतान्योत्तरत्वम्—वाणी में किसी के दूषणों का प्रकाश नहीं पाया जाता अर्थात् वाणी में किसी की निन्दा नहीं होती अपितु हेय-ज्ञेय-और उपादेय रूप विषयों का ही वर्णन होता है । ननु किसी की निन्दा का ।

१३ हृदयग्राहित्वम्—श्रोताओं के हृदयों को प्रिय लगने वाले वाक्य होते हैं । इसी कारण वे प्रसन्नता पूर्वक श्रीभगवान् की वाणी का अमृतपान करते हैं ।

१४ देशकालाव्यतीतत्वम्—देश काल के अनुसार वाक्य होता है अर्थात् प्रस्तावोचितता उस वाक्य में पाई जाती है । क्योंकि-जो वाक्य देश काल की सीमा को उल्लंघन नहीं करताः वह अवश्य हृदय ग्राही होजाता है ।

१५ तत्त्वानुरूपत्वम्—जिस पदार्थ के वर्णन का प्रारम्भ किया हुआ है, उसी कथन की पुष्टि करने वाले आगे के वाक्य होते हैं । जैसे-अहिंसा का प्रकरण चला हुआ है, तो यावन्मात्र वाक्य कहे जावेंगे, वे सब अहिंसा के सम्बन्ध में होंगे । न कि हिंसा सम्बन्धी ।

१६ अप्रकीर्णप्रसृतत्वम्—जिस प्रकरण की व्याख्या की जारही है, उसके अतिरिक्त अप्रस्तुत विषय का फिर उसमें वर्णन नहीं होता अर्थात् स्वपक्ष को छोड़कर अप्रस्तुत प्रकरण का वर्णन करना अपनी अयोग्यता सिद्ध करना है । सो प्रभु के वाक्य में इस प्रकार अप्रस्तुत विषय का प्रकरण नितांत (बिलकुल) नहीं होता । न अति सम्बन्ध रहित विस्तार ही होता है ।

१७ अन्योऽन्यप्रगृहीतत्वम्—परस्पर पदों की सापेक्षता रहती है । क्यों कि-यदि परस्पर पदों की सापेक्षता न रहे तो उस वाक्य से अभीष्ट सिद्धि की उपलब्धि नहीं हो सकती, अतएव पद परस्पर सापेक्षता रखने वाले

होते हैं

१८ अभिजातत्वम्—वक्ता के प्रतिपाद्य का अथवा भूमिका अनुसारिता होती है अर्थात् शुद्ध वाक्य होता है।

१९ अतिस्निग्धमधुरत्वम्—अति स्नेह युक्त और अत्यन्त मृदु वाक्य होता है, जो श्रोता जनों को अत्यन्त सुख-कारी होता है तथा जैसे-अमृत वा शर्करादि पदार्थ मृदु आदि गुणों से युक्त होते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान् का वाक्य श्रोताओं को हितकारी होता है।

२० अपरमर्मवेधित्वम्—श्रीभगवान् के वाक्य में किसी का मर्म प्रगट नहीं किया हुआ होता-अर्थात् वह वाक्य किसी के मर्म को प्रगट करने वाला नहीं होता, अपितु शान्त रस का देने वाला होता है।

२१ अर्थधर्माभ्यासानपेतत्वम्—श्रीभगवान् का वाक्य अर्थ और धर्म से प्रतिबद्ध होता है। क्योंकि-जो निरर्थक वाक्य होते हैं, वे अर्थ और धर्म से रहित होते हैं, परंच सार्थक वाक्य उसे ही कहा जाता है जो अर्थ और धर्म के स्वरूप को प्रतिपादन करने वाला होता है।

२२ उदारत्वम्—अभिधेय अर्थ को पूर्णतया प्रतिपादन करने वाले वाक्य का श्रीभगवान् उच्चारण करते हैं। तथा गुम्फ गुण विशेषहोता है।

२३ परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तत्वम्—श्रीभगवान् के वाक्य में आत्म प्रशंसा और परनिन्दा नहीं पाई जाती; क्योंकि-जो वीतरागी आत्मा होते हैं: उनके वाक्य उक्त गुण वाले ही हुआ करते हैं। यदि स्ववाक्य में आत्म-प्रशंसा और परनिन्दा पाई जावे तो वे अनाप्त वाक्य जानने चाहिएं।

२४ उपगतश्लाघ्यत्वम्—उक्त गुण-योग्यता से ही श्लाघता प्राप्त होती है। अर्थात् श्रीभगवान् का वाक्य तीन लोक में श्लाघा प्राप्त करता है।

२५ अनपनीतत्वम्—श्रीभगवान् का वाक्य कारक, वचन, काल, लिंगादि व्यत्यय रूप वचन दोष से रहित होता है अर्थात् वाक्य सुसंस्कृत होता है। क्योंकि-यावत्काल कारक, काल, वचन, और लिंगादि से सुसंस्कृत (निर्दोष) नहीं होगा, तावत्काल वह वाक्य अभीष्ट अर्थ की सिद्धि प्रदान करने में असमर्थ सिद्ध होता है।

२६ उत्पादिताच्छिन्नकौतूहलत्वम्—स्वविषय में श्रोता जनों को अविच्छिन्नता से कौतुकभाव उत्पन्न करता अर्थात् श्रीभगवान् का वाक्य श्रोता जनों के हृदय में आश्चर्य भाव उत्पन्न करने वाला होता है।

२७ अद्भुतत्वम्—अद्भुत भाव का उत्पन्न करने वाला होता है।

२८ अनतिविलम्बितत्वम्—व्याख्यान करने की शैली अतिविलम्ब पूर्वक नहीं होती और नाहीं अति शीघ्रता पूर्वक होती है: परंच प्रमाण पूर्वक व्याख्यान

की शैली श्रीभगवान् की प्रतिपादन की गई है।

२६ विभ्रमविक्षेपकिलकिञ्चितादिविमुक्तत्वम्—वह वाक्य मनोदोष के दोषों से भी रहित होता है। जैसे-वक्ता के मन में भ्रांतता, और चित्त का विक्षेप रोष भयादि के भाव तथा प्रत्यनासक्तता इत्यादि मन के दोषों से वह वाक्य रहित होता है। क्योंकि- यदि उक्त मन के दोषों के साथ वाक्य उच्चारण किया जायगा तो वह वाक्य आप्त वाक्य नहीं कहा जा सकता। नाहीं उस वाक्य से यथार्थता से पदार्थों का बोध हो सकता है।

३० अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रत्वम्—वस्तु का स्वरूप विचित्रतासे वर्णन किया हुआ उस वाक्य से सिद्ध होता है। क्योंकि-श्रीभगवान् जिस पदार्थ का वर्णन करते हैं, उस पदार्थ का वर्णन नय और प्रमाण द्वारा वर्णन किये जाने पर अनेक प्रकार की विचित्रता उस वाक्य में पाई जाती है।

३१ आहितविशेषत्वम्—वचनान्तर की अपेक्षा से ढौकितता (हित शिक्षा का समुदाय) विशेषता से होती है अर्थात् श्रीभगवान् का परम पवित्र वाक्य प्राणी मात्र के हित का प्रकाशक होता है।

३२ साकारत्वम्-विच्छिन्नवर्ण पद वाक्य होने से उस वाक्य में आकारता पाई जाती है अर्थात् साकार वाक्य सौंदर्य का धारण करने वाला होता है।

३३ सत्वपरिगृहीतत्वम्—साहस भाव से युक्त अर्थात् निर्भयता का सूचक वाक्य होता है।

३४ अपरिखेदितत्वम्—श्रीभगवान् अनंत बल होने से धर्म कथा करते हुए खेद नहीं पाते, क्योंकि-षोडश प्रहर पर्यन्त देशना करने पर भी श्रीभगवान् परिश्रम को प्राप्त नहीं होते अतएव धर्म कथा करते हुए उनको खेद कदापि नहीं होता।

३५ अव्युच्छेदित्वम्-यावत्काल पर्यन्त विवक्षित अर्थो की सम्यग् प्रकार से सिद्धि न हो जाए, तावत्काल पर्यन्त अनवच्छिन्न वचन प्रमेय होता है अर्थात् श्रीभगवान् जिस पदार्थ का वर्णन करने लगते हैं; उस की सिद्धि सर्व-नय और प्रमाणों द्वारा सर्व प्रकार से योग्यता पूर्वक कर देते हैं। सो यह सब अतिशय चार मूलातिशयों में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं, जैसे कि-ज्ञानातिशय १ पूजातिशय २ वागतिशय ३ और अपायापगमातिशय ४ किन्तु ये सब अतिशय उसी समय प्राप्त होती हैं जब कि-ज्ञानावरणीय कर्म १ दर्शनावरणीय कर्म २ मोहनी कर्म ३ और अन्तराय कर्म ये चारों घातिक संज्ञक कर्म क्षय होजाते हैं, इन्हीं के क्षय हो जाने से अनन्तज्ञान १ अनंतदर्शन २ क्षायिकसम्यक्त्वभाव ३ और अनंत बल वीर्य प्रकट हो जाता है। तथा इन्हीं कर्मों के क्षय होजाने से श्रीभगवान् अष्टादश दोषों से रहित कहे जाते हैं। जैसे कि—

अंतराया दानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः ॥
हास्योरत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥ १ ॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥ २ ॥

भावार्थ—श्रीभगवान् के दानान्तराय के क्षय होजाने से दान देने की अनंत शक्ति उत्पन्न होजाती है यदि वे चाहें तो विश्व भर का दान कर सकते हैं। कोई भी उनको हटा नहीं सकता, कारण कि-वे अनंत बली और सर्वज्ञ होते हैं, इसी प्रकार लाभान्तराय क्षय करने से लाभ की शक्ति उत्पन्न होती है। वीर्यान्तराय के क्षय करने से अनन्त आत्मिक शक्ति उत्पन्न होजाती है। श्रीभगवान् के अतिरिक्त अन्य छद्मस्थ आत्माएं बलवीर्यान्तराय कर्म के माहात्म्य से अनंत आत्मिक बल आच्छादन किये हुए हैं। सो श्रीभगवान् उक्त कर्म के क्षय करने से अनंत शक्ति-संपन्न होते हैं। भोगान्तराय कर्म के क्षय करने से भोगने योग्य पदार्थों के भोगने की अनंत शक्ति उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि-जो पदार्थ एक ही वार भोगने में आवें: जैसे-पुष्प मालादि, उन्हें भोग कहते हैं; किन्तु जो पुनः पुनः भोगने में आवें; जैसे-स्त्री आदि पदार्थ हैं। उन्हें उपभोग कहते हैं। सो श्रीभगवान् के दोनों भोग और उपभोगान्तराय के क्षय होजाने से दोनों के लिये अनंत शक्ति उत्पन्न हो जाती है; सो अन्तराय कर्म की पांच मूल प्रकृतियों के क्षय करने से एक प्रकार की-पांचों ही अनुपम शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि-जब भोग और उपभोगादि प्रकृतियां क्षय हो जाती हैं। तब उक्त प्रकृतियों के क्षयहो जाने से उक्त पदार्थों को श्रीभगवान् भली प्रकार से भोगते होंगे। क्योंकि-प्रकृति के क्षय करने की तब ही सफलता हो सकती है-जब उसके विघ्न के नाश हो जाने पर वे पदार्थ भोगे जाएं जब वे उक्त पदार्थों के भोगने वाले सिद्ध हैं, तब वे संसारी जीवों की अपेक्षा महाकामी सिद्ध होंगे। इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से किया जाता है। कि-स्त्री आदि के भोगने के भाव मोहनीय कर्म के उदय से ही उत्पन्न होते हैं, सो श्रीभगवान् सब से पहिले मोहनीय कर्म ही का नाश करते हैं। जब मोहनीय कर्म का नाश हो गया तब विकार किस प्रकार हो सकता है? अतएव मोहनीयकर्म के नाश करने के अनन्तर अंतराय कर्म क्षय किया जाता है। इस लिये वे शक्तियां उत्पन्न हो जाने पर विकार भाव को उत्पन्न नहीं कर सकतीं। जैसे-किसी व्यक्ति में शस्त्र के द्वारा प्रहार करने की शक्ति तो विद्यमान् है, परन्तु उस का किसी जीव के साथ वैर भाव नहीं है, तो फिर वह शस्त्र-प्रहार किस पर करे? यदि ऐसा कहा जाय कि-उक्त अन्तराय कर्म के पांचों प्रकृतियों के क्षय करने से तो फिर श्रीभगवान् को लाभ ही क्या हुआ? जब वे उन से कोई

काम लेते ही नहीं। इस के समाधान में कहा जाता है कि-क्या उक्त चेष्टाओं के करने से ही लाभ लिया जा सकता है ? जैसे-किसी व्यक्ति को अत्यन्त लक्ष्मी की प्राप्ति हो गई तो फिर क्या मदिरा-पान, मांस-भक्षण, वेश्या संग, द्यूत कर्म इत्यादि कृत्यों के करने से ही उस मिली हुई लक्ष्मी का लाभ लिया जा सकता है। नहीं। इसी प्रकार श्रीभगवान् के जब अंतराय कर्म का क्षय होता है तब उक्त पांचों प्रकृतियों के क्षय होने से आत्मिक पांचों शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं; परन्तु वे शक्तियां मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने से किसी प्रकार से भी विकार को प्राप्त नहीं हो सकतीं। जैसे-लोगों का माना हुआ ईश्वर सर्व-व्यापक वेश्यादि के अंगोपांगों में रहने पर भी विकार को प्राप्त नहीं होता तथा अनंत शक्ति होने पर भी विषय में अनंत शक्ति का उपयोग नहीं करता। यदि इस में ऐसे कहा जाय कि-जब वह अनन्त शक्ति युक्त तथा सर्वव्यापक है तो फिर विषय क्यों नहीं करता तथा जब लोग विषयादिक कृत्यों में प्रवृत्त होते हैं, तब वह उसी स्थान में व्यापक होता है, और इस कृत्य को भली प्रकार से देखता भी है तो फिर उसे देखने से और उस में व्यापक होने से क्या लाभ हुआ? इन सब प्रश्नों का यही उत्तर बन पड़ेगा कि-ईश्वर सर्व शक्तिमान् होने पर भी विकारी नहीं है ठीक उसी प्रकार अन्तराय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर भी श्रीभगवान् मोहनीय कर्म के क्षय होजाने से सदैव काल अविकारी भाव में रहते हैं; परन्तु अन्तराय कर्म के क्षय होजाने के कारण से उनमें अनन्त शक्ति का प्रगट होजाना स्वाभाविकता से माना जा सकता है तथा यदि उन शक्तियों का व्यवहृत होना स्वीकार किया जायगा तो उनमें अनेक प्रकार के अन्य दोषों का भी सद्भाव मानना पड़ेगा। जिससे उन पर अनेक दोषों का समूह एकत्र हो जाने से उनको निर्विकार स्वीकार करने में संकुचित भाव रखना पड़ेगा। अतएव श्रीभगवान् अनन्त शक्तियों के प्रकट होजाने पर भी निर्विकार अवस्था में सदैव काल रहते हैं।

६ श्रीभगवान् हास्य रूप दोष से भी रहित होते हैं क्योंकि-चार कारणों से हास्य उत्पन्न होता है। जैसे कि-हास्य पूर्वक बात करने से १ हंसते को देखने से २ हास्य-कारी बात के सुनने से ३ और हास्य उत्पन्न करने वाली बात की स्मृति करने से ४ सो हास्य के उत्पन्न होजाने से सर्वज्ञता का अभाव अवश्य मानना पड़ेगा। क्योंकि-हास्य अपूर्व बात के कारण से उत्पन्न होता है, जब वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं तब उनके ज्ञान में अपूर्व कौनसी बात हो सकती है। अतः वीतराग प्रभु हास्य रूप दोष से भी रहित होते हैं।

७ रति—पदार्थों पर रतिभाव उत्पन्न करना। यह भी एक मोहनीय कर्म का मुख्य कारण है। सो श्रीभगवान् पदार्थों पर प्रीतिभाव रखना इस दोष से

भी मुक्त होते हैं—

८ अरति-और नाहीं उनका पदार्थों पर कोई द्वेष भाव ही है क्योंकि— जब किसी पदार्थ पर उनकी प्रीति सिद्ध की जाएगी तब अमुक पदार्थ पर द्वेष का हो जाना एक स्वाभाविक बात है। अतः वे उक्त दोष से सदैव मुक्त हैं।

९ भीति-श्रीभगवान् सब प्रकार के भयों से भी वर्जित होते हैं: क्योंकि- भय का उत्पन्न होना एक अल्प सत्व और मोहनीय कर्म का उदय है, सो वे एक तो अनन्त शक्तिवाले और द्वितीय मोहनीय कर्म से रहित तो फिर उनको भय किस प्रकार उत्पन्न होसके ? तथा भय के उत्पन्न होने से व्यावहारिक पक्ष में एक शत्रु भी मुख्य कारण माना जाता है, सो श्रीभगवान् सब जगत् वासी जीवों के मित्र रूप हैं और उनकी रक्षा करने वाले हैं, तो भला फिर उनको भय किस प्रकार उत्पन्न हो सके ? अतः वे उक्त दोष से भी विमुक्त होते हैं।

१० जुगुप्सा—उन को किसी पदार्थ से घृणा भी नहीं है। क्योंकि घृणा रागी और द्वेषी आत्मा को ही उत्पन्न हो सकती है अतएव वे उक्त दोनों दोषों से रहित हैं, तथा घृणा वाला पुरुष मार्दव भाव से रहित होता है श्रीभगवान् तो मार्दव गुण से विभूषित हो हो रहे हैं वा व्यावहारिक दशा में भी घृणा करने वाले पुरुष को सुदृष्टि से नहीं देखा जाता। तथा जब वे अपने ज्ञान में प्रत्येक पदार्थ की अनंत पर्यायों को देखते हैं, तो फिर वे किस पदार्थ पर-घृणा करें ?सो वे जुगुप्सा रूप दोष से भी रहित हैं।

११ शोक—श्रीभगवान् शोक से भी रहित हैं: क्योंकि-शोक उसी आत्मा को उत्पन्न हो सकता है जो राग द्वेष युक्त हो तथा संयोग और वियोग के रस से युक्त हो। सो श्रीभगवान् उक्त दोषों से रहित होने के कारण चित्त की अशान्ति से भी रहित होते हैं।

१२ काम—भगवान् काम के दोष से भी रहित हैं: क्योंकि-काम की वासनाएं केवल मोहनीय कर्म के उदय से हो सकती हैं। सो श्रीभगवान् ने मोहनीय कर्म पहिले ही क्षय कर दिया है। तथा कामी आत्मा कभी सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता, और श्रीभगवान् सर्वज्ञ पद से विभूषित होते हैं। अतएव वे काम के दोष से भी रहित हैं।

१३ मिथ्यात्व--श्रीभगवान् मिथ्यात्व के दोष से भी रहित हैं। क्योंकि- अनादि काल से जीव मिथ्यात्व दशा से ही जन्म मरण करता चला आ रहा है। पदार्थों के स्वरूप को विपर्यय भाव से जानने का ही नाम मिथ्यात्व है सो श्रीभगवान् उक्त दोष से रहित हैं। तथा मिथ्यात्व दशा में ही पड़े हुए जीव सद्बोध से रहित होते हैं ; फिर इसी कारण से संसार में नाना प्रकार के मिथ्या प्रपंच उत्पन्न किये

जा रहे हैं, और उसी में जीव निमग्न हो रहे हैं। सो यावत्काल सम्यक्त्व रूपी सूर्य का हृदय में प्रकाश नहीं होता तावत्काल पर्यन्त मिथ्यात्व रूपी तिमिर नष्ट नहीं हो सकता। सो भगवान् उक्त दोष से भी रहित हैं। क्योंकि-दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय होजाने से मिथ्यात्व की सर्व प्रकृतियां क्षय होजाती हैं।

१४ अज्ञान—सम्यग् ज्ञान होने से अज्ञान उनका नष्ट होगया है-जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार भाग जाता है ठीक तद्वत् जब केवलज्ञान प्रकट होता है तब उसी समय अज्ञानरूपी तिमिर भाग जाता है। सो भगवान् मौढ्यभाव से रहित होते हैं: और सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पद के धारण करने वाले होते हैं। अतः उनमें अज्ञानभाव का लेश भी नहीं होता।

१५ निद्रा—श्रीभगवान् निद्रागत भी नहीं होते क्योंकि-निद्रा का आना दर्शनावरणीय कर्म के कारण होता है, सो वह कर्म पहिले ही क्षय किया जाता है जब निद्रा का कारण ही नष्ट होगया तो फिर निद्रारूप कार्य की प्राप्ति किस प्रकार हो सके? क्योंकि-जो सर्वज्ञ प्रभु होते हैं वे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म से रहित होते हैं अतएव वे सदैव काल जाग्रतावस्था में ही रहते हैं, तथा यदि ऐसे कहा जाय कि-निद्रा का मुख्य हेतु आहारादि क्रियाएं हैं इसलिये जैसा-गरिष्ठादि आहार किया जाता है उसी प्रकार निद्रा का आवेश होता है। सो यह युक्ति संगत नहीं है: क्योंकि-निद्रा का आना दर्शनावरणीय कर्म का उदय है और क्षुधा का लगना यह वेदनीय कर्म का उदय है सो केवली भगवान् के वेदनीय कर्म का तो उदय रहता है परन्तु दर्शनावरणीय कर्म उनका सर्वथा क्षय होता है। सो जब निद्रा का कारणीभूत कर्म ही नष्ट होगया तो फिर आहारादि द्वारा निद्रादि कार्यों की कल्पना करना यह कथन युक्ति संगत नहीं है तात्पर्य यह कि-श्रीभगवान् निद्रा के दोष से रहित हैं।

१६ अविरति—श्रीभगवान् विरति युक्त होते हैं अर्थात् वे अप्रत्याख्यानी नहीं हैं किन्तु प्रत्याख्यानी हैं अप्रमत्त संयत पद के धारण करने वाले हैं।

१७ राग—राग रूप दोष से भी श्रीभगवान् रहित होते हैं क्योंकि-जब पदार्थों पर राग भाव बना रहा तब सुख की स्मृति और उस पौद्गलिक सुख के लिये फिर नाना प्रकार के परिश्रम किये जाते हैं जब पुरुषार्थ में असफलता दीख पड़ती है तब चित्त उदासीन वृत्ति में प्रवेश किये बिना नहीं रह सकता। सो जिस आत्मा की उक्त वृत्ति हो जाए, फिर उस आत्मा को सर्वज्ञ स्वीकार करना नितान्त भूल भरी बात सिद्ध होती है; अतः श्रीभगवान् राग रूपी दोष से भी रहित हैं। अन्यथा जब सर्वज्ञ प्रभु भी राग युक्त स्वीकार किये जायेंगे तब अस्मदादि व्यक्तियों में और उनमें विशेषता ही क्या रही? तथा यावन्मात्र संसार में अकृत्य कर्म हैं: रागी पुरुष उन सब को कर डालता है। जब अकृत्य कार्य में रागी

आत्माएं प्रवृत्त हुए दृष्टिगोचर होते हैं तो उनका परिणाम भी उन के लिये फिर दुःख रूप अवश्यमेव होता है। राग में माया और लोभ का भी अन्तर्भाव हो जाता है, सो रागी आत्मा को माया और लोभ से भी युक्त मानना पड़ेगा।

१८ द्वेष—वीतराग प्रभु द्वेष से भी रहित होते हैं: कारण कि-जब उन के आत्मा में राग भाव किसी पदार्थ पर नहीं रहा तब उन में द्वेष भाव भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि-रागी आत्मा में द्वेष भाव अवश्यमेव विद्यमान् रहता है। जैसे कि-जब एक पदार्थ पर उस का राग है तो उस से व्यतिरिक्त पदार्थों पर उस का द्वेष अवश्यमेव माना जायगा। जब द्वेष भाव सिद्ध हो गया तब क्रोध और मान उस आत्मा में अवश्यमेव माने जाएंगे। सो जब राग द्वेष की सत्ता विद्यमान रही तो उस आत्मा को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी स्वीकार करना अत्यन्त अन्याय-शीलता का लक्षण है: क्योंकि-फिर तो जिस प्रकार अस्मदादि व्यक्तियां राग और द्वेष से युक्त हैं उसी प्रकार सर्वज्ञ प्रभु हुए। किन्तु ऐसे नहीं हैं। अपितु सर्वज्ञ प्रभु सर्वथा राग द्वेष से रहित होते हैं। यदि ऐसे कहा जाय कि-जब सर्वज्ञ प्रभु दया का उपदेश करते हैं, तथा "अभय दयाणं" सूत्र के द्वारा जब वे अभयदान के देने वाले लिखे हैं तो क्या जिस जीव को वे बचाते हैं उस जीव पर उन का राग नहीं होता? सो यह शंका भी युक्ति से शून्य ही है। क्योंकि-प्रत्येक प्राणी की रक्षा का उपदेश करना तथा उनको बचाना यह एक करुणा का लक्षण है। राग स्वार्थमय होता है, करुणा निःस्वार्थ की जाती है: तथा राग तीन प्रकार से कथन किया गया है। जैसे कि-काम राग-विषयों पर, स्नेहराग-संबन्धियों पर और दृष्टिराग-मित्रों पर। सो ये तीनों प्रकार के राग आशावान् हैं। लेकिन-प्रेम आशा रहित और करुणा रसमय तथा शान्ति रसमय होता है। आत्म-प्रदेशों में तद्रूप होकर रहता है। अतएव श्रीभगवान् प्राणी मात्र से प्रेम करने वाले और सब जीवों की रक्षा करने वाले होते हैं। तथा यदि ऐसे कहा जाय कि-जो शुभ वा अशुभ क्रियाएं की जाती हैं: उनका फल रूप कर्म अवश्यमेव भोगने में आता है: सो जो श्रीभगवान् अनन्त आत्माओं पर करुणा भाव धारण करते हैं फिर इतना ही नहीं किन्तु उन जीवों की रक्षा के लिये उपदेश भी करते हैं। तो उक्त क्रियाओं के फल रूप कर्म वे कहां पर भोगते हैं? इस शंका का समाधान यह है कि-श्रीभगवान् दयामय चित्त से प्राणीमात्र की रक्षा का उपदेश करते हैं नतु राग द्वेष भावों के वशीभूत होकर। सो कर्मों के बन्धन के मुख्य कारण राग द्वेष ही प्रतिपादन किये गए हैं। नतु दयाभाव कर्मों के बन्धन का मुख्य कारण है। तथा जिस प्रकार सूर्य का निज गुण प्रकाश स्वाभाविक होता है, ठीक तद्वत् श्री भगवान् का सर्व जीवों से वात्सल्य भाव धारण करना यह स्वभाविक गुण

हो जाता है। क्योंकि-जैसे कोई व्यक्ति जब दीपक के द्वारा प्रकाश करने की इच्छा रखता है तो उसको उस प्रकाश के सहकारी कतिपय अन्य पदार्थों के एकत्र करने में प्रयत्न करना पड़ता है। इतना किए जाने पर भी वह दीपक का प्रकाश सादि सान्त पद वाला होता है, वा ह्रस्व वा दीर्घ तथा अल्प वा महत् प्रकाश का करने वाला होता है; परन्तु सूर्य को प्रकाश के लिये किसी भी सहकारी पदार्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती है और नां ही वह प्रकाश द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सादि सान्त पद को धारण करने वाला होता है। नां ही वह प्रकाश अल्प वा महत्, ह्रस्व वा दीर्घ होता है; किन्तु एक रसमय होता है, ठीक उसी प्रकार जो रागादि द्वारा जीवों की रक्षा की जाती है, वह तो दीपक के प्रकाश के तुल्य होती है; परन्तु जो वीतराग भाव से जीवों की रक्षा होती है, वह सूर्य के प्रकाश के तुल्य एक रसमय होती है। क्योंकि-श्रीवीतराग प्रभु तो एकेंद्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों के लिये सामान्यतया रक्षा का उपदेश करते हैं, परन्तु रागी आत्मा अपने स्वार्थ को मुख्य लेकर रक्षा करने में कटिबद्ध होते हैं। अतएव श्रीभगवान् का रक्षा करना स्वाभाविक गुण होता है, इस लिये वे कर्मों का बंधन नहीं करते, अपितु उक्त क्रियाओं से नामादि कर्मों की प्रकृतियां क्षय हो जाती हैं। यदि ऐसा कहा जाय कि-जब उनका रक्षा करना स्वाभाविक गुण है, तो फिर वे अब जगत् वासी दुःखित जीवों की अपनी शक्ति द्वारा रक्षा क्यों नहीं करते ? इस शंका का समाधान यह है कि-वे तो शास्त्रों द्वारा प्राणी मात्र की सदैव रक्षा करते रहते हैं। यावन्मात्र अहिंसा का सिद्धान्त है वह सब प्राणी मात्र की रक्षा कर रहा है, और उक्त सिद्धान्त के प्रकाशक श्री अर्हन् देव ही हैं। अतएव वे सदैव उपकार करते रहते हैं, तथा जो श्रीभगवान ने कर्मों के फल प्रतिपादन किये हैं, यही उनका परमोपकार है। क्योंकि उन कर्मों के फलों को सुनकर अनेक आत्माएं अपना कल्याण कर सकती हैं, और कर रही हैं यह सिद्धान्त विद्वानों द्वारा माना गया है कि-जैन धर्म के संदेश से ही जगत् में शान्ति की स्थापना हो सकती है। यद्यपि अन्य मतावलम्बियों ने भी दया का कुछ प्रचार किया है, परन्तु जिस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से जैन धर्म ने दयाका प्रचार किया है उस प्रकार वादियों ने दया के स्वरूप को कभी सुना भी नहीं तथा जैन धर्म ने एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक सम भाव से दया का उपदेश किया है। वादियों ने उस स्वरूप को समझा भी नहीं। सो धर्म-प्रचार द्वारा श्रीभगवान् ने अनन्त प्राणियों पर उपकार किया है और इसी उपकार से भव्य प्राणी अपना कल्याण किये जा रहे हैं सो श्रीभगवान् अपने पवित्र उपदेश द्वारा सदैव उपकार करते रहते हैं। श्रीभगवान् ऊपर ३४ अतिशय ३५ वचनातिशय और १८ अष्टादश दोषों से रहित होते हुए मुख्य १२ द्वादश गुणों के

धारण करने वाले होते हैं। उनके मुख्य १२ द्वादश गुण निम्न प्रकार से प्रतिपादन किये गए हैं। जैसे कि—

१ अशोक वृक्ष--जिस स्थान पर श्रीभगवान् खड़े होते हैं वा बैठते हैं, उसी स्थान पर श्रीभगवान् के शरीर से द्वादश गुणा उच्च भाव से परिणत हुआ अशोक नामक वृक्ष तत्क्षण उत्पन्न हो जाता है जो वृक्ष की संपूर्ण लक्ष्मी से युक्त होता है, जिस के देखने से ही भव्य प्राणियों का आध्यात्मिक शोक दूर हो जाता है. यद्यपि यह अतिशय वा प्रातिहार्य देव-कृत होता है तथापि श्रीभगवान् के महत् पुण्योदय से यह प्रातिहार्य हुआ करता है।

२ सुरपुष्पवृष्टि—जिस स्थान पर श्रीभगवान् का समवसरण होता है, उस स्थान में एक योजन प्रमाण तक देवगण पांच वर्णमय सुगंधि युक्त वैक्रिय किए हुए अचित्त पुष्पों की वृष्टि करते हैं, जो भव्य प्राणियों को ऐसा दीख पड़ता है कि-इस स्थान पर पुष्पों की राशि ही पड़ी हुई है; और वे पुष्प ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे कि-जलज और स्थलज पुष्प होते हैं। (अर्थात् अचित्त पुष्प होते हैं)।

३ दिव्यध्वनि—श्रीभगवान् की सर्व भाषा में परिणत होने वाली अर्द्ध-मागधी भाषा में सर्व-वर्णोपेत एक योजन प्रमाण विस्तार पाती हुई प्रधान दिव्य ध्वनि निकलती है, अर्थात् श्रीभगवान् की वचन रूप ध्वनि एक योजन प्रमाण गमन करती हुई प्रत्येक प्राणि की निज भाषा में परिणत होती हुई इतना ही नहीं किन्तु सर्व प्राणियों का संशय दूर करती हुई अर्द्ध मागधी भाषा रूप दिव्य ध्वनि निकलती है जिस भाषा के सुनने से प्रत्येक प्राणी अपनी २ भाषा में उस भाषा के भाव को समझ सकता है तथा श्रीभगवान् की भाषा प्रत्येक प्राणी की भाषा रूप में परिणत हो जाती है।

४ चामर—श्रीभगवान् के ऊपर देवगण चमर करते हैं।

५ आसन--जब श्रीभगवान् विहार-क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, तब आकाश मार्ग में स्फटिक रत्नमय और पादुपीठिका युक्त आसन तथा रत्नों से जड़ा हुआ स्वर्ण-सिंहासन गमन करने लग जाता है।

६ भामंडल--श्रीभगवान् की पीठ की ओर एक तेजोमंडल होता है, जो दशों दिशाओं में ठहरे हुए अंधकार का नाश करता है, और वह भास्कर मंडल (सूर्य मंडल) के समान प्रकाशित होता है, जिस कारण सदैव काल श्रीभगवान् के दर्शन भव्य प्राणियों को सुख पूर्वक हो सकते हैं।

७ देवदुन्दुभि—जिस स्थान पर श्रीभगवान् विराजमान होते हैं, उसी स्थान पर देवते दुंदुभि वादित्र द्वारा उद्घोषणा करते हैं; जिस के शब्द को सुन कर अनेक भव्य प्राणी श्रीभगवान् के मुख से निकलती हुई वाणी को सुन कर

लाभ उठाते हैं; क्योंकि-जब श्रीभगवान् के आगमन का पता उक्त वादित्र द्वारा लग जाता है तब अनेक भव्य प्राणी श्रीभगवान् की वाणी के द्वारा अपना कल्याण करते हैं।

८ आतपत्र—देवते आकाश में खड़े हुए श्रीभगवत् के शिर पर तीन छत्र करते हैं। जिस से भव्य प्राणियों को यह सूचित किया जाता है कि-श्रीभगवान् त्रैलोक्य के स्वामी हैं।

यह आठ प्रातिहार्य श्रीभगवान् के पुण्योदय से प्रकट होते हैं और ज्ञानातिशय १ पूजातिशय २ वागतिशय ३ तथा अपायागमातिशय ४ यह चारों अतिशय मिला कर श्रीभगवान् के मुख्यतया द्वादश गुण होते हैं तथा अनंतज्ञान, १ अनंतदर्शन, २ अनंत चारित्र, ३ और अनंत बलवीर्य ४ यह चारों गुण मिला कर श्रीभगवान् के मुख्यतया द्वादश गुण होते हैं। इस पृथ्वी मंडल में श्रीभगवान् अपने पवित्र उपदेशों द्वारा प्राणी मात्र का कल्याण करते रहते हैं, और जिन के अनंत गुण होने से अनंत नाम कहे जा सकते हैं; तथा जिनसहस्रादि स्तोत्रों में श्रीभगवान् के १००० नाम वर्णन किये गए हैं। भव्य प्राणी श्रीभगवान् के अनेक शुभ नामों से अपना कल्याण कर सकते हैं, और वे शुभ नाम आध्यात्मिक प्रकाश के लिये एक मुख्य साधन बन जाते हैं। जैसे "जिन ध्यान" करते हुए फिर वर्ण-विपर्यय के करने से "निज ध्यान" हो जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक नाम आध्यात्मिक प्रकाश के लिये कार्य साधक हो जाता है। जब उन नामों के कारण आध्यात्मिक प्रकाश ठीक हो गया, तब व्यवहार की अपेक्षा से उनका किया हुआ प्रकाश ही कहा जाता है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय के होने पर भी वस्तु के देखने के लिये प्रकाश सहकारी कारण किसी अपेक्षा से माना जा सकता है; ठीक उसी प्रकार श्रीभगवान् के गुणानुवाद के कारण से जो प्रकाश हुआ है, वह निमित्त कारण होने से उन्हीं का उपकार माना जा सकता है। क्योंकि-यह बात स्वाभाविक सिद्ध है कि-जिस आत्मा का जिस प्रकार का "ध्येय" होगा प्रायः उस आत्मा में फिर उसी प्रकार के गुण प्रगट होने लग जाते हैं। जैसे कि-किसी विषयी आत्मा का "ध्येय" एक युवती होती है, तो फिर वह विषयी आत्मा उस 'ध्येय' के माहात्म्य से विषय वासना में उत्कट भाव रखने लग जाता है। इतना ही नहीं किन्तु फिर वह अपनी इच्छा पूर्ति करने के लिये नाना प्रकार की योग्य और अयोग्य क्रियाओं में प्रवृत्ति करने लग जाता है; ठीक उसी प्रकार जिस आत्मा का "ध्येय" वीतराग प्रभु होते हैं उस आत्मा के आत्म-प्रदेशों से राग और द्वेष के भाव हट कर समता भाव में आने लग जाते हैं। क्योंकि-फिर वह आत्मा वीतराग पद के प्राप्त करने की चेष्टाएं करने लग

जाता है। जिस प्रकार विषयी आत्मा विषय-पूर्ति करने की चेष्टा में लगा रहता है; ठीक उसी प्रकार वीतराग प्रभु को "ध्येय" में रखने वाला आत्मा भी वीतराग पद की प्राप्ति के लिये तप और संयम तथा धारणा ध्यान और समाधि में चित्तवृत्ति लगाने की चेष्टा करता रहता है। उसके आत्मप्रदेशों से फिर कर्म वर्गणाएं स्वयमेव ही पृथक् होने लग जाती हैं। जिस प्रकार पुरातन भित्ति पर से रक्षा न करने पर मृत्तिका के दल अपने आप गिरने लगते हैं: उसी प्रकार आत्म प्रदेशों से समता भाव धारण करने से कर्म वर्गणाएं भी दूर होने लगती हैं। तथा जिस प्रकार पुष्प वा जल का ध्येय करने से आत्मा में एक प्रकार की ठंडक सी उत्पन्न हो जाती है ठीक उसी प्रकार श्रीजिनेन्द्रदेव का ध्यान करने से आत्म-प्रदेशों पर से क्रोध मान माया और लोभ के परमाणु हट कर केवल समता के भाव ही प्रादुर्भूत हो जाते हैं, फिर जो उस ध्येय के माहात्म्य से आत्म विकाश होता है. व्यवहार पक्ष में उस ध्येय का ही उपकार माना जाता है। जिस प्रकार विद्यार्थी, पुस्तक और अध्यापक पहिले तीन होते हैं परंतु जब विद्यार्थी उस अध्यापक से उस पुस्तक को पढ़ लेता है। तो स्वयं ही अध्यापक बन जाता है, किन्तु अध्यापक बन जाने पर भी वह अपनी पूर्व बालदशा के अवलोकन करने पर उस अध्यापक का हार्दिक भावों से उपकार मानता है, ठीक उसी प्रकार आत्मविकाश होजाने पर भी श्रीजिनेन्द्र भगवान् का उपकार माना जाता है, क्योंकि-उन्हीं के निमित्त से आत्मा आत्मविकाश करने में समर्थ हुआ। अतएव आत्मविकाश करने के लिये श्री वीतराग परमात्मा का ध्येय अवश्यमेव करना चाहिए। यदि ऐसे कहा जाय कि-आत्मा ज्ञान स्वरूप होने से स्वतः ही प्रकाशमान है. इसको किसी व्यक्ति के वा किसी पदार्थ के ध्येय करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से किया जाता है कि-यह बात ठीक है, आत्मा स्वयं प्रकाशमान् है परन्तु आत्म-प्रदेशों पर जो कर्मवर्गणाएं स्थित हो रही हैं, और उन्हीं के कारण से ज्ञानाच्छादन हो रहा है। जब उन कर्म वर्गणाओं के दूर करने की चेष्टाएं की जाती हैं तब व्यवहार पक्ष में उन कर्म वर्गणाओं के दूर करने में जो मुख्य ध्येय होता है। उसी का उपकार माना जाता है। अतएव श्रीजिनेन्द्र भगवान् संसार में परोपकार करने वाले स्वतः ही सिद्ध होगए। इसी कारण से गुण निष्पन्न होने के कारण उनके अनेक नाम सुप्रसिद्ध हो रहे हैं। जैसे कि— अर्हन् जिनः पारगतास्त्रिकालवित् क्षीणाष्टकर्मा परमेष्ठ्यधीश्वरः

शंभुः स्वयंभूर्भगवान् जगत्प्रभुः तीर्थंकरस्तीर्थकरो जिनेश्वरः ॥ १ ॥

स्याद्वाद्यभयदसार्वाः सर्वज्ञः सर्वदर्शिकेवलिनौ

देवाधिदेवबोधिदपुरुषोत्तमवीतरागाप्ताः ॥ २ ॥

१ अर्हन्–पु. चतुस्त्रिंशदतिशयान् सुरेन्द्रादिकृतां पूजां वा अर्हति इति अर्हन् मुगद्विषार्हः सन्निशतुस्तुत्य इति शप्रत्ययः अरिहननात् रजो हननात् रहस्याभावाच्चेति पृषोदरादित्वात् अर्हन् "—अद्भुत रूप आदि चौंतीस अतिशयों के योग्य होने से और सुरेन्द्र निर्मित पूजा के योग्य होने से तीर्थंकर का नाम अर्हन् है मुगद्विषादि जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्र से यह अर्हन् शब्द सिद्ध होता है। अब दूसरी रीति से भी अर्हन् शब्द का अर्थ दिखलाते हैं। जैसे कि–अष्ट कर्म रूप वैरियों के हनन से और इस जगत् में उन के ज्ञान के आगे कुछ भी गुप्त नहीं रहने से उस ईश्वर परमात्मा तीर्थंकर का नाम अर्हन् है।

२ जिनः–पु. जयति रागद्वेषमोहादिशत्रून् इति जिनः,—राग द्वेष महामोह आदि शत्रुओं को जीतने से उस परमात्मा का नाम जिन है।

३ पारगतः–पु. संसारस्य प्रयोजनजातस्य पारं कोऽर्थः अंत अगमत् इति पारगतः" –संसार समुद्र के पार जाने से और सब प्रयोजनों का अन्त करने से उस परमात्मा का नाम पारगत है।

४ "त्रिकालवित्–पु. त्रीन् कालान् वेत्ति इति त्रिकालवित्"—भूत, भविष्य, वर्त्तमान, इन तीन कालों में होने वाले पदार्थों का जानने वाला होने से उस ईश्वर परमात्मा का नाम त्रिकालवित् है।

५ क्षीणाष्टकर्मा–पु. क्षीणानि अष्टौ ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि यस्य इति क्षीणाष्टकर्मा—जिसके ज्ञानावरणीयादि अष्ट कर्म क्षीण होगये हैं उस परमात्मा का नाम क्षीणाष्टकर्मा है।

६ परमेष्ठी–पु. परमे पदे तिष्ठति इति परमेष्ठी परमात् तिकिदिति इनि प्रत्यये भीरूष्ठानादित्वात् षत्वं सप्तम्या अलुक् च,—परम उत्कृष्ट ज्ञान दर्शन चारित्र में स्थित होने से ईश्वर परमात्मा का नाम परमेष्ठी है।

७ अधीश्वरः–पु. जगतामधीष्टे इत्येवं शीलोऽधीश्वरः स्थेशभासपिसकसोवरच्" इतिवरच्—जगज्जनों को आश्रय भूत होने से उस परमात्मा का नाम अधीश्वर है।

८ शम्भुः–पु. शं शाश्वतं सुखं भावयति इति शम्भुः" शंसंस्वयंविप्रोदुवो डुरिति डुः—सनातन सुख के समुदाय में होने से ईश्वर परमात्मा का नाम शम्भु है।

९ स्वयंभूः–पु. स्वयं आत्मना तथा भव्यत्वादिसामग्री-परिपाकात् नतु परोपदेशात् भवति इति स्वयंभूः—अपनी भव्यत्व की स्थिति पूर्ण होने से स्वयमेव उत्पन्न होता है। इसलिये उस ईश्वर परमात्मा का नाम स्वयंभू है।

१० भगवान्–पु. भगः कोऽर्थः जगदैश्वर्यं ज्ञानं वा अस्ति अस्य इति भगवान्"

अतिशायिने मतुप—इस जगत् का सब ऐश्वर्य और ज्ञान जिस परमात्मा को है उस परमात्मा का नाम भगवान् है।

११ जगत्प्रभुः—पु. जगतां प्रभुः जगत्प्रभुः—इस जगत् का स्वामी होने से ईश्वर का नाम जगत्प्रभु है।

१२ तीर्थंकरः—पु. तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेन इति, तीर्थं प्रवचनाधारश्चतुर्विधः संघः तत् करोति इति तीर्थंकरः—जिस करके संसार समुद्र तरिए उस तीर्थ को करने वाला होने से ईश्वर परमात्मा का नाम तीर्थंकर है।

१३ तीर्थकरः—पु. तीर्थं करोतीति तीर्थकरः,,—पूर्वोक्त संसारसमुद्र से तारने वाला तीर्थ का प्रवर्त्तक होने से ईश्वर परमात्मा का नाम तीर्थकर है।

१४ जिनेश्वरः—पु. रागादिजेतारो जिनाः केवलिनस्तेषामीश्वरः जिनेश्वरः—रागद्वेषादि महा कर्म शत्रुओं के जीतने वाले सामान्य केवली उन के भी ईश्वर होने से परमात्मा का नाम जिनेश्वर है।

१५ स्याद्वादी—पु. स्यादिति अव्ययमनेकान्तवाचकं, ततःस्यादिति अनेकान्तं वदतीत्येवं शीलः स्याद्वादी स्याद्वादोऽस्याऽस्तीति वा स्याद्वादी यौगिकत्वादनेकान्तवादी इत्यपि पाठः,,—सकलवस्तुस्तोम अपने स्वरूप करके कथंचित् अस्ति है और परवस्तु के स्वरूप करके कथंचित् नास्ति रूप है, ऐसा तत्व प्रतिपादन करने वाला होने से ईश्वर का नाम स्याद्वादी है।

१६ अभयदः—पु. भयमिह परलोकादानाकस्मादाजीवमरणाश्लाघाभेदेन सप्तधा एतत्प्रतिपक्षतोऽभयं विशिष्टआत्मनः स्वास्थ्यं निःश्रेयसधर्मनिबंधन भूमिकाभूतं तत् गुणप्रकर्षादचिंत्यशक्तियुक्तत्वात् सर्वथा परार्थकारित्वाद् ददाति इति अभयदः—सर्वथा अभय का देने वाला होने से ईश्वर का नाम अभयद है।

१७ सार्वः—पु. सर्वेभ्यः प्राणिभ्यो हितः सार्वः—सर्व प्राणियों के हितकारी होने से ईश्वर का नाम सार्व है।

१८ सर्वज्ञः—पु. सर्वं जानातीति सर्वज्ञः—सर्व पदार्थों को अपने ज्ञान द्वारा जानने वाला होने से ईश्वर का नाम सर्वज्ञ है।

१९ सर्वदर्शी—पु. सर्वं पश्यतीत्येवंशीलः सर्वदर्शी"—अपने अखंड ज्ञान द्वारा सर्व वस्तु को देखने का स्वभाव वाला होने से ईश्वर का नाम सर्वदर्शी है।

२० केवली—पु. सर्वथाऽऽवरणविलये स्वभावाविर्भावः केवलं तदस्यास्तीति केवली"—सर्व कर्म आवरण के दूर होने से चेतन स्वभाव का प्रकट होना केवल कहाता है उस केवल का धारक होने से परमात्मा का नाम केवली है।

२१ देवाधिदेवः-पु. देवानामप्यधिदेवो देवाधिदेवः-देवताओं का भी देव होने से ईश्वर का नाम देवाधिदेव है।

२२ बोधिदः-पु. बोधिः जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिस्तां ददाति इति बोधिदः--जिनप्रणीत शुद्ध धर्मरूप बोधि बीज का देने वाला होने से ईश्वर का नाम बोधिद है।

२३ पुरुषोत्तमः-पु. पुरुषाणां उत्तमः पुरुषोत्तमः-पुरुषों के बीच सर्वोत्तमता को धारण करने वाला होने से ईश्वर का नाम पुरुषोत्तम है।

२४ वीतरागः-पु. वीतो गतो रागोऽस्मात् इति वीतरागः अंगनादि के राग से रहित होने के कारण परमात्मा का नाम वीतराग है।

२५ आप्तः । पु. जीवानां हितोपदेशदातृत्वात् आप्त इव आप्तः—जीवों के प्रति हितोपदेश करने वाला होने से ईश्वर का नाम आप्त है, इस प्रकार श्रीअर्हन् देव के सार्थक अनेक नाम भव्य जनों के पाठ के लिये कथन किए गए हैं तथा इन नामों के द्वारा आत्म-विकाश करने के लिये भक्त जनों को परम सहायता प्राप्त हो जाती है। जिस प्रकार जीवन्मुक्त श्रीअर्हन् देवों का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार सिद्ध परमात्मा भी देव पद में गर्भित हैं। क्योंकि-सिद्ध परमात्मा अजर, अमर, पारंगत, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, वे ज्ञानात्मा द्वारा सर्व-व्यापक हो रहे हैं। यद्यपि द्रव्यात्मा उनका लोकाग्र भाग में स्थित है; परन्तु ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा और उपयोगात्मा द्वारा वे लोकालोक में व्यापक हैं, अतः सर्व पदार्थ उन के ज्ञान में व्याप्य हो रहे हैं। वे अनंत गुणों के धारी हैं केवल अर्हन् देव शरीरधारी होते हैं परन्तु सिद्ध भगवान अशरीरी हैं। यदि ऐसे कहा जाय कि-सिद्ध परमात्मा और अर्हन् देवों में जब उक्त गुणों की साम्यता है तो फिर उनको अर्हन् देवों से पृथक् क्यों स्वीकार किया गया है? इस के उत्तर में कहा जाता है कि-अर्हन् देव तो ज्ञानावरणीय १, दर्शनावरणीय २, मोहनीय ३, और ४ अन्तराय इन चार कर्मों से मुक्त होकर केवल ज्ञान और केवल दर्शन अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं; परन्तु सिद्ध भगवान् ज्ञानावरणीय १, दर्शनावरणीय २, वेदनीय ३, मोहनीय ४, आयुष्य ५, नामकर्म ६, गोत्र कर्म ७ और अन्तराय कर्म ८, उक्त आठों कर्मों से रहित होते हैं। वे सदा निजानंद में निमग्न रहते हैं। योगी जन जब अंतिम श्रेणी पर पहुंचते हैं, तब उन्हीं को ध्येय बना कर अपने आत्मा की शुद्धि करते हैं। कारण कि-अरूपी आत्मा अपने ज्ञान द्वारा ही अरूपी पदार्थों को देख वा जान सकता है। अतएव सिद्ध आत्मा परम सुख की राशि हैं।

प्रश्न--हमने तो यह सुना हुआ है कि-जैन मत में जो चौवीस तीर्थंकर देव हुए हैं, वे ही जैनों के ईश्वर परमात्मा हैं। इन के अतिरिक्त कोई भी ईश्वर

परमात्मा जैन-मत में नहीं माना गया है।

उत्तर—प्रियवर ! यह बात आप ने जैन सूत्रों के प्रतिकूल सुन रखी है कारण कि-जैन-मत इस प्रकार नहीं मानता। क्योंकि-जब जैन-मत ने प्रवाह (द्रव्यार्थिकनय) से संसार को अनादि माना है तो क्या फिर वह सिद्ध-पद सादि मानेगा ? परन्च जैन मत यह अवश्य मानता है कि-वर्त्तमान के अवसर्पिणी काल में होने वाले भी चौवीस तीर्थंकर देव सिद्ध पद प्राप्त कर चुके हैं।

प्रश्न—क्या जैन मत में भी अनादि अनन्त सिद्ध पद माना गया है ?

उत्तर—हां जैनमत में अनादि अनन्त पद में रहने वाला सिद्धपद स्वीकार किया गया है। जैसे कि—

पुव्विं भन्ते ! लोए पच्छा अलोए पुव्विं अलोए पच्छा लोए ? रोहा ! लोएय अलोएय पुव्विं पेते पच्छापेते दोवि एए सासया भावा अणाणु पुव्वी एसा रोहा। पुव्विं भन्ते ! जीवा पच्छा अजीवा पुव्विं अजीवा पच्छा जीवा ? जहेव लोएय अलोएय तहेव जीवाय अजीवा य एवं भवसिद्धीया य अभव-सिद्धीया य सिद्धी असिद्धी सिद्धा असिद्धा ॥

भगवतीसूत्रशतक १ उद्देश ६, रोहाधिकार।

अर्थ—श्रीश्रमण भगवान महावीर स्वामी से विनय पूर्वक रोह नामक भिक्षु संसार और मोक्ष विषय निम्न प्रकार से प्रश्न पूछने लगे। जैसे कि—

प्रश्न— हे भगवन् ! पहिले लोक है (जगत्) वा अलोक है अथवा पहिले अलोक है वा उसके पश्चात् लोक (जगत्) है।

उत्तर—हे शिष्य ! लोक वा अलोक इन दोनों को पूर्व वा पश्चात् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि-यह दोनों ही अकृत्रिम होने से अनादि हैं अर्थात् इन का शाश्वत भाव ज्यों का त्यों ही चला आता है; कारणकि जो पदार्थ द्रव्यार्थिक (प्रवाह) नय से अनादि होता है, वह पूर्व वा पश्चात् शब्द के धारण करने वाला नहीं होता। अतः उसको पूर्व वा पश्चात् भावी भी नहीं कहा जासकता क्योंकि-अनादि है।

प्रश्न—हे भगवन् ! क्या पहिले जीव हुआ और पीछे अजीव (जड़); वा पहिले जड़ और फिर जीव हुआ ?

उत्तर—हे रोह ! जीव और अजीव (जड़) यह दोनों पदार्थ अनादि हैं इसलिये इन को पूर्व या पश्चात् अमुक पदार्थ उत्पन्न हुआ इस प्रकार नहीं कहा जा सकता; क्योंकि- प्रागभाव के साथ ही प्रध्वंसाभाव पड़ा हुआ है अतः जो पदार्थ प्रथम उत्पत्तियुक्त है, वह नाशवान् भी अवश्यमेव मानना पड़ेगा।

इस लिये जीव और अजीव यह दोनों पदार्थ भी अनादि अनन्त हैं।

प्रश्न—हे भगवन् ! क्या पहिले भवसिद्धिक (मोक्ष जाने वाले) जीव हैं या अभवसिद्धिक (मोक्ष गमन के अयोग्य) जीव हैं ?

उत्तर—हे रोह ! भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक ये दोनों प्रकार के जीव भी अनादि काल से चले आते हैं: कारणकि भव्य और अभव्य ये स्वाभाविक भाव वाले हैं, परन्तु विभाव परिणाम वाले नहीं हैं।

प्रश्न—हे भगवन् ! क्या पहिले सिद्धि है या असिद्धि ?

उत्तर—हे रोह ! अकृत्रिम होने से मुक्ति और अमुक्ति ये भी अनादि हैं।

प्रश्न—हे भगवन् ! पहिले सिद्धात्माएं हैं, या असिद्धात्माएं अर्थात् पहिले सिद्ध परमात्मा है या संसारी आत्माएं हैं ?

उत्तर—हे रोह ! सिद्ध और संसारी आत्माएं ये दोनों ही अनादि भाव से चले आरहे हैं: अतः इनको पूर्व या पश्चात् भावी कदापि नहीं कहा जा सकता। सो जब जैन मत संसार और मोक्ष पद को अनादि स्वीकार करता है तब यह किस प्रकार कहा जासकता है कि-उक्त चौवीस तीर्थंकर ही जैनों के परमात्मा, हैं अन्य कोई भी जैन मत में सिद्ध (ईश्वर) नहीं माना गया है। हां जैन मत यह अवश्य मानता है कि—

रागत्तेण साईया अपज्जवसियाविय पुहुत्तेण अणाईया अपज्जवसिया विय।

उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३६ गाथा—६६

अर्थ—एक सिद्ध की अपेक्षा मोक्ष पद सादि अनन्त कहा जाता है और बहुतों की अपेक्षा अनादि अनन्त है अर्थात् जब हम किसी एक मोक्ष गत जीव की अपेक्षा विचार करते हैं; तब हमको मोक्ष-विषय सादि अनन्त पद मानना पड़ता है। कारण कि-जिस काल में वह अमुक व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त हुआ उस काल की अपेक्षा उसकी आदि तो है परन्तु अपुनरावृत्ति होने से उसे फिर अनन्त कहा जाता है, परंच जब सिद्ध पद को देखते हैं अर्थात् बहुत से सिद्धों की अपेक्षा से जब विचार किया जाता है तब सिद्ध पद अनादि अनन्त माना जाता है। कारण कि-जिस प्रकार संसार अनादि है उसी प्रकार सिद्ध पद भी अनादि है तथा अनन्त सिद्ध होने से गुणों की अपेक्षा किसी नय के मत से एक सिद्ध भी कहा जासकता है क्योंकि—भेद भाव नहीं होता।

"जत्थ एगो सिद्धो तत्थ अणन्त खय भवविमुक्को" इत्यादि।

अर्थ-जहां पर एक सिद्ध है वहां पर अनंत सिद्ध विराजमान हैं। जिस प्रकार एक पुरुष के अन्तर्गत नाना प्रकार की भाषाएं निवास करती हैं जैसे

कि-कल्पना करो कि-संस्कृत इंगलिश जर्मन अर्बी इत्यादि भाषाओं का उच्चारण भिन्न २ प्रकार से देखा जाता है, इतना ही नहीं किन्तु इन की आकृति भी परस्पर विभिन्नता रखती है। परन्तु इस प्रकार होने पर भी एक पुरुष के हृदय में वे उक्त भाषाएं समभाव से ठहरती हैं। ऐसा नहीं है कि-हृदय में संस्कृत का स्थान और है, और इंगलिश का स्थान उससे भिन्न है। सो जिस प्रकार भाषाएं एक रूप से एक पुरुष के हृदय में ठहरती हैं; ठीक उसी प्रकार जहां पर एक सिद्ध विराजमान हैं उसी स्थान पर अनंत सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। क्योंकि-जिस प्रकार अनेक दीपकों का प्रकाश परस्पर मिल जाता है, फिर वह एक रूप से दृष्टिगत होने लग जाता है. ठीक उसी प्रकार अनेक सिद्धों के आत्म-प्रदेश परस्पर मिल जाते हैं; फिर वे एक रूप से हो कर ठहरते हैं। जिस प्रकार भिन्न २ आकृति होने पर भी पुरुष के हृदय में घट और पटादि की आकृति ठहर जाती है उसी प्रकार सिद्धों के प्रदेश भी परस्पर मिले हुए होते हैं। तथा जैसे-चक्षुरिन्द्रिय के ज्ञान द्वारा नाना प्रकार की आकृति वाले पदार्थ ज्ञानात्मा में एक रूप से निवास करते हैं ठीक उसी प्रकार अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध, पारंगत मुक्त इत्यादि नामों से युक्त सिद्ध भगवान् भी एक रूप से विराजमान हैं। उन सिद्धों को दीक्षा समय श्री तीर्थंकर देव भी नमस्कार करते हैं। अतएव श्री सिद्ध भगवान् देवाधिदेव हैं। उन के शुभ नाम से नाना प्रकार के विघ्न दूर होते हुए आत्मा निज कल्याण करने के लिए पूर्णतया समर्थ हो जाता है। और शास्त्रों में सिद्धों के ३१ गुण वर्णन किये गए हैं जैसे कि-

एक्कतीसं सिद्धाइगुणा प. तं-खीणे आभिणि बोहियणाणावरणे खीणे सुयणाणावरणे खीणे ओहिणाणावरणे खीणे मणपज्जवणाणावरणे खीणे केवलणाणावरणे खीणे चक्खुदंसणावरणे खीणे अचक्खुदंसणावरणे खीणे ओहिदंसणावरणे खीणे केवलदंसणावरणे खीणे निद्दा खीणे निद्दा निद्दा खीणे पयला खीणे पयलापयला खीणे थीणद्धी खीणे सायावेयणिज्जे खीणे असाया-वेयणिज्जे खीणे दंसणमोहणिज्जे खीणे चरित्त मोहणिज्जे खीणे नेरइआउए खीणे तिरिआउए खीणे मणुस्साउए खीणे देवाउए खीणे उच्चागोए खीणे निच्चागोए खीणे सुभनामे खीणे असुभणामे खीणे दाणांतराए खीणे लाभान्तराए खीणे भोगान्तराए खीणे उवभोगंतराय खीणे वीरिअन्तराए।

समवायांग सूत्र ३१ वां समवायाध्ययन।

भावार्थ-सिद्ध परमात्मा के ३१ गुण वर्णन किये गए हैं, यद्यपि सिद्ध परमात्मा अनंत गुणों के धारण करने वाले हैं तथापि आठ कर्मों के क्षय करने

की अपेक्षा से ३१ गुण उन में विशेषतया होते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप और अनन्त गुणों का समुदाय रूप है; परन्तु कर्म उपाधि भेद से वे गुण उसके आवरण युक्त हो रहे हैं; जैसे कि सूर्य प्रकाशरूप होने पर भी बादलों के प्रयोग से आवरणीय हो जाता है, ठीक तद्वत् आत्म-प्रकाश की भी यही दशा है, जब वे आवरण दूर हो जाते हैं तब गुण रूप समुदाय प्रकट हो जाता है, जिस कारण से फिर उसे सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अनंत शक्ति संपन्न इत्यादि शुभ नामों से कीर्त्तन किया जाता है। सो वे गुण निम्न प्रकार से वर्णन किये गए हैं; जैसे कि ज्ञानावरणीय कर्म की पांच प्रकृतियां हैं वे सब सिद्ध परमात्मा के क्षय रूप हैं यथा आभिनिवोधिक ज्ञान के २८ भेद हैं; सो उन पर जो कर्म-परमाणुओं का आवरण आया हुआ होता है, वह सिद्ध परमात्मा के क्षय रूप है। १ श्रुतज्ञान के १४ भेद हैं उनका आवरण भी क्षय है २। अवधि ज्ञान के ६ भेद हैं, उनका आवरण भी क्षय रूप है ३। मनःपर्यवज्ञान के २ भेद हैं; उन के भी आवरण क्षय रूप ही हैं ४। केवलज्ञान का केवल एक ही भेद है, उस का भी आवरण क्षय हो गया है ५। जब ज्ञानावरणीय कर्म की पांचों प्रकृतियों के आवरण दूर हो गए तब उस जीव को सर्वज्ञ कहा जाता है। फिर दर्शनावरणीय कर्म की ६ प्रकृतियां हैं। उन के आवरणों के क्षय हो जाने से जीव सर्वदर्शी बन जाता है। जैसे कि-चक्षुदर्शन का जो आवरण है वह भी सिद्ध परमात्मा के क्षय है ६। चक्षुवर्जित श्रोत्रेन्द्रियादि इन्द्रियों के जो आवरण हैं वे भी क्षय हैं। इसलिये अचक्षुदर्शन भी उन का निर्मल है ७। अवधि-दर्शन का जो आवरण है, वह भी निर्मूल हो गया है ८। फिर केवलदर्शन का आवरण भी सर्वथा जाता रहा है ६। सुख पूर्वक शयन करना इस प्रकार की निद्रा भी जाती रही है १०। सुख पूर्वक शयन करने के पश्चात् फिर दुःख पूर्वक जाग्रत अवस्था में आना वह दशा भी जाती रही है ११। बैठे बैठे ही निद्रागत हो जाना इस प्रकार की भी दशा उन की नहीं है १२। तथा जिस प्रकार प्रायः बहुत सा पशुवर्ग चलता हुआ निद्रागत हो जाता है, वह दशा भी सिद्ध परमात्मा की नहीं है १३। वा अत्यन्त घोर निद्रा जिस के प्रबल उदय से वासुदेव का अर्द्धबल उस दशा में प्राप्त हो जावे तथा अत्यन्त भयानक दशा जीव की निद्रा की दशा में ही हो जावे; वह दशा भी सिद्ध परमात्मा की नहीं है १४। सो इस कार्य के न होने से उन्हें सर्वदर्शी कहा जाता है, कारण कि-वह सर्वथा जाग्रतावस्था में ही होते हैं जिस प्रकार सूर्य किसी भी दशा में अंधकार देने वाला नहीं माना जा सकता; ठीक तद्वत् सिद्ध परमात्मा भी सर्व काल में सर्वज्ञ और सर्वदर्शी रहता है। जब वेदनीय कर्म की दोनों प्रकृतियां क्षय हो गई तब सिद्ध परमात्मा अक्षय सुख के अनुभव करने वाले कहे जाते हैं। क्योंकि-वेदनीय कर्म

द्वारा उत्पन्न किया गया सुख क्षय रूप होता है; अतः वह वेदनीय कर्म की साता-रूप प्रकृति १५, और असाता रूप प्रकृति १६ उन की क्षय हो चुकी हैं; इस लिये वे अक्षय आत्मिक सुख के अनुभव करने वाले होते हैं। दर्शन मोहनीय १७ और चारित्र मोहनीय कर्म के न होने से वे क्षायिक सम्यक्त्व के धारण करने वाले होते हैं १८ अर्थात् वे परम शुद्ध सर्वथा सम्यक्त्वी हैं। नरकायु १६ तिर्यगायु २० मनुष्यायु २१ और देवायु २२ इस प्रकार आयुष्कर्म की चारों प्रकृतियों के क्षय होने से वे निरायु हैं। इस लिये उन्हें शाश्वत कहा जाता है; क्योंकि-आयुष्कर्म की अपेक्षा से ही जीव की अशाश्वत दशाएं हो रही हैं। जब यह कर्म सर्वथा निर्मूल हो गया तब आत्मा अमर हो जाता है। अतः वे आयुष्कर्म से भी रहित हैं। फिर गोत्र कर्म के माहात्म्य से ही जीव की ऊंच २३ और नीच २४ दशा होती रहती हैं। सो सिद्ध परमात्मा के इस कर्म का अभाव हो जाने से उनकी ऊंच वा नीच दशा भी जाती रही। जिस प्रकार अग्नि के न रहने से तप्त का अभाव भी साथ ही हो गया, ऐसे ही सिद्ध परमात्मा गोत्र कर्म के नष्ट हो जाने से ऊंच और नीचता से भी रहित हैं। जिस प्रकार गोत्र कर्म की दोनों प्रकृतियों के क्षय हो जाने से वह ऊंच वा नीच नहीं हैं ठीक उसी प्रकार शुभ नाम २५ और अशुभ नाम २६ रूप जो नाम कर्म की दो प्रकृतियां हैं, इन के भी क्षय हो जाने से वे नाम कर्म से रहित होकर नाम संज्ञा में स्थित हो गए हैं। कारण कि-नामकर्म सादिसान्त पद वाला है और नाम संज्ञा अनादि अनंत पद वाली होती है। जैसे-कि-किसी व्यक्ति का नामकरण संस्कार हो चुका है, वह तो सादिसान्त पद वाला है; परन्तु उस व्यक्ति की जो जीव संज्ञा है वह सदा बनी रहेगी। इस लिये सिद्ध परमात्मा के नाम कर्म के न रहने से नाम संज्ञाओं द्वारा उन को अनेक नामों से कीर्त्तन (पुकारा) किया जाता है क्योंकि-उनकी नाम संज्ञा उन के गुणों से ही उत्पन्न हुई हैं। इसी लिये अनन्त गुणों की अपेक्षा से सिद्ध परमात्मा के अनंत नाम कहे जाते हैं। जब उन का दानान्तराय २७ लाभान्तराय २८ भोगान्तराय २६ उपभोगांतराय ३० और वीर्यान्तराय ३१ रूप पांच प्रकृतियों वाला अंतराय कर्म नष्ट हो गया तब उक्त पांचों अनंत शक्तियां उन में उत्पन्न हो गईं। जिस कारण से सिद्ध परमात्मा को अनंत शक्ति वाला कहा जा सकता है। सो जो अनादि पद युक्त सिद्ध पद है उस में उक्त गुण सदा से चले आ रहे हैं, परंच जो सादि अनंत पद वाला सिद्ध है, उस में उक्त गुण ८ कर्मों के क्षय हो जाने से प्रकट हो जाते हैं। जिस प्रकार सुवर्ण मल से रहित होजाने पर अपनी शुद्धता धारण करने लग जाता है, ठीक उसी प्रकार जब जीव से ८ प्रकार के कर्मों का मल पृथक् हो जाता है तब जीव अपनी निज दशा में प्रविष्ट हो जाता है। परन्तु शुद्ध दशा के धारण करने के लिये प्रथम सालम्बन ध्यान

की आवश्यकता है तदनु निरालम्बनध्यान की: जिस का वर्णन आगे किसी स्थल पर किया जायगा।

उक्त ३१ गुणों को आश्रित करके पूर्वाचार्यों ने सिद्धों के संक्षेप से ८ ही गुण वर्णन किये हैं जैसे कि-अनंतज्ञानत्वं १, अनंतदर्शनत्वं २, अव्यावाधत्वं ३ सम्यक्त्वं ४ अव्ययत्वं ५ अरूपित्वं ६ अगुरुलघुत्वं ७ अनंतवीर्यत्वं ८. सो ये आठ ही गुण आठ कर्मों के क्षय होने पर ही उत्पन्न हुए हैं। जैसे कि-ज्ञानावरण के क्षय हो जाने से अनंत ज्ञान उत्पन्न हो गया, इसी प्रकार दर्शनावरण के क्षय हो जाने से अनंत दर्शन प्रकट हो गया। वेदनीय कर्म के क्षय हो जाने से अव्यावाधता सुख की प्राप्ति हो गई। क्योंकि-अनंत सिद्धों के प्रदेश परस्पर संमिलित हो जाने पर भी वे पीड़ा से रहित होते हैं। कारण कि-शुद्ध प्रदेशों का परस्पर संमिलित हो जाना अव्यावाध सुख का देने वाला होता है। जैसे आत्म-प्रदेशों पर ज्ञान द्वारा देखे गए घट पटादि पदार्थों के प्रतिबिम्ब अंकित हो जाने पर भी किसी प्रकार की पीड़ा उत्पन्न नहीं होती, ठीक तद्वत् सिद्धों का जो परस्पर सम्बन्ध है, वह भी अव्यावाध सुख का उत्पन्न करने वाला होता है। मोहनीय कर्म के क्षय करने से उनको क्षायिक सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हो गई है तथा मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने से अनंत सुख की प्राप्ति हो गई है, क्योंकि-मोहनीय कर्म द्वारा जो सुख उत्पन्न होता है वह क्लेश-जन्य होने से स्व स्वरूप का प्रकाशक नहीं माना जा सकता तथा अस्थिर गुण होने से वह सुख-विनाशक भी माना जाता है। अतः मोहनीय कर्म के रहित हो जाने से वे अनंत सुख के अनुभव करने वाले होते हैं। आयुष्कर्म के होने से ही आत्मा की वाल्य, यौवन वा वार्द्धक्य तथा रोगित्व और नीरोगित्वादि दशा होती हैं। जब आयुष्कर्म के प्रदेश आत्म-प्रदेशों से पृथक् होजाते हैं, तब यही आत्मा "अव्ययत्वं" गुण का धारण करने वाला होजाता है। क्योंकि-आयुष्कर्म के प्रदेशों की स्थिति उत्कृष्ट ३३ सागरोपम होती है अतएव उक्त कर्म स्थिति युक्त है। जब कर्म स्थितियुक्त है तब वह सादि-सान्त पदवाला होता ही है। जब सिद्धों के आयुष्कर्म का अभाव होजाता है, तब वे सादि अनन्त पद को धारण करते हुए "अव्ययत्वं" गुण के धारण करने वाले भी होते हैं। आयुष्कर्म के न होने से फिर वे "अरूपित्वं" (अमूर्त्तिक) गुणको धारण करते हैं। कारण कि-नाम कर्म के होने से ही शरीर की रचना होती है जब नाम कर्म क्षय करदिया गया, तब वे शरीर से रहित होगए। सो शरीर से रहित आत्मा अमूर्त्तिक और अरूपी होता ही है। क्योंकि-आत्मा का निज गुण अमूर्त्तिक है। नाम कर्म के नष्ट होने से वह गुण प्रकट हो जाता है। इसलिये सिद्ध परमात्मा को अमूर्त्तिक कहा जाता है. कारण कि-नाम, कर्म, वर्ण, गंध.

रस और स्पर्श पुद्गल जन्य होता है जब वह क्षय होगया तब आत्मा निज गुण-अमूर्त्तिक भाव के धारण करने वाला स्वतः ही हो जाता है।

जब गोत्र कर्म का क्षय हो गया तब आत्मा "अगुरुलघुत्व" इस गुण का धारण करने वाला होता है। क्योंकि-ऊंच गोत्र के द्वारा नाना प्रकार के गौरव की प्राप्ति हो जाती है, और नीच गोत्र के द्वारा नाना प्रकार के तिरस्कारों का सामना करना पड़ता है। जब वह कर्म ही क्षय हो गया तब मानापमान भी जाते रहे और जीव "अगुरुलघुत्वं" इस गुण का धारण करने वाला हो गया। क्योंकि-सत्कार से गुरु भाव और तिरस्कार द्वारा लघुता प्राप्त होनी ये दोनों बातें स्वतः ही सिद्ध हैं। सो सिद्ध भगवंतों की उक्त दशाएं न होने से वे अगुरुलघुत्व गुण वाले कहे जाते हैं।

यदि ऐसे कहा जाय कि-जब वे भक्तों द्वारा पूज्य हैं, और नास्तिकों द्वारा अपूज्य हैं क्योंकि-आस्तिकों के लिये तो सिद्ध भगवान् उपास्य हैं और नास्तिकों द्वारा उनके अस्तित्वभाव में भी शंका की जाती है तो क्या यह ऊंच और नीच भावों द्वारा गोत्रकर्म का सद्भाव नहीं माना जा सकता? इस शंका का समाधान यह है कि-गोत्र कर्म की वर्गणाएं परमाणुरूप हैं। अतः वे पुद्गल-जन्य होने से रूपी भावको धारण करती हैं, जब जीव गोत्र कर्म से युक्त होता है तब वह शरीर के धारण करने वाला होता है। उस समय उक्त कर्म द्वारा उस जीव को ऊंच वा नीच दशा की प्राप्ति होना गोत्र कर्म का फल माना जा सकता है परंच सिद्धों के संग उक्त कर्म के न होने से उक्त व्यवहार नहीं है। इसलिये केवल आस्तिक वा नास्तिकों द्वारा ही उक्त क्रियाओं के करने से गोत्रकर्म का सद्भाव नहीं माना जासकता, अतएव "अगुरुलघुत्व" उनका यह गुण सद्भाव में रहता है। और इसी कारण से वे योगी पुरुषों के हृदय में ध्येय रूप से विराजमान रहते हैं।

फिर अन्तराय कर्म के क्षय होजाने से अनन्त शक्ति उन में प्रादुर्भूत होगई है। वे अनन्त ज्ञान के द्वारा सर्व पदार्थों को हस्तामलकवत् सम्यक्तया जानते और देखते हैं और वे अपने स्वरूप से कदापि स्खलित नहीं होते। इसी कारण से उन्हें चिदानन्दमय कहा जाता है। यदि ऐसे कहा जाय कि-जब उनका शरीर ही नहीं है तब उनको "चिन्मयत्व" "आनन्दमयत्व" वा अनन्त सुख के अनुभव करने वाले किस प्रकार कहा जाता है? इस शंका का समाधान इस प्रकार से किया जा सकता है कि-जिस प्रकार के सुख का अनुभव सिद्ध परमात्मा को होरहा है, वह सुख देवों वा चक्रवर्ती आदि प्रधान मनुष्यों को भी प्राप्त नहीं है। क्योंकि-आत्मिक सुख के सामने पौद्गलिक सुख की किसी प्रकार से भी तुलना नहीं की जासकती। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के

सन्मुख दीपक आदि पदार्थों का प्रकाश तुलना करने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार सिद्धों के सुख के सामने अन्य सुख क्षुद्र प्रतीत होते हैं, तथा जिस प्रकार एक अपूर्व अर्थ के धारण करने से जो आनन्द अनुभव होने लगता है उस प्रकार का आनन्द बाह्य पदार्थों में नहीं देखा जाता। अतः सिद्ध भगवान् अनंत सुखों के धनी कथन किए गए हैं। सिद्ध पद की प्राप्ति के लिये प्रत्येक प्राणी को प्रयत्नशील होना चाहिए, जिस से आत्मा कर्म-कलंक से रहित सिद्ध पद की प्राप्ति कर सके। अतएव सिद्ध-स्तुति और सिद्ध-भक्ति अवश्यमेव करनी चाहिए।

प्रश्न—सिद्ध स्तुति करने से क्या लाभ होता है ?

उत्तर—उनके पवित्र गुणों में अनुराग उत्पन्न होता है।

प्रश्न—गुणों में अनुराग करने से क्या फल होता है ?

उत्तर—गुणानुराग करने से निज आत्मा भी उन्हीं गुणों के ग्रहण करने के योग्य हो जाती है, जिस से आत्म-कल्याण होता है।

प्रश्न—क्या सिद्ध परमात्मा की स्तुति करने से वे प्रसन्न हो जाते हैं ?

उत्तर—सिद्ध परमात्मा वीतराग पद के धारण करने वाले हैं, वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तथा निज गुण में निमग्न होने से सदा सुख स्वरूप हैं। अतः वह किसी पर प्रसन्न और अप्रसन्न कभी नहीं होते। उनकी स्तुति और गुणों में अनुराग करने से अवगुण दूर होकर आत्मीय गुणों का प्रकाश होता है।

प्रश्न - स्तुति करने से चित्त-शुद्धि किस प्रकार हो सकती है ?

उत्तर—जब उनके गुणों में अनुराग किया जायगा, तब चित्त की प्रसन्नता अवश्यमेव हो जायगी, जिस प्रकार वस्तु का स्वभाव होने से मंत्रादि-पद सर्पादि के विष उतारने में समर्थता रखते हैं तथा जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न इच्छुक की इच्छापूर्ति करने में सहायक होता है, ठीक उसी प्रकार सिद्ध परमात्मा की स्तुति भी आत्मा में शान्ति का संचार करने वाली होती है।

प्रश्न—सिद्ध परमात्मा की स्तुति करने से जब आत्मा में शान्ति का संचार हो गया तब क्या आत्मा सिद्ध परमात्मा को अपना ध्येय बना सकता है ?

उत्तर—सिद्ध परमात्मा जिस आत्मा का ध्येय रूप हो जायगा वह आत्मा भी सिद्ध पद की प्राप्ति के योग्य अवश्यमेव हो जायगा।

प्रश्न—सिद्ध भगवान् की भक्ति करने से किस गुण की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—परमात्मा की भक्ति करने से पूर्वसंचित कर्म क्षय हो जाते हैं, और बहुमान से गुण प्रकट होते हैं; फिर कर्म रूपी शत्रु भक्ति द्वारा दग्ध

हो जाता है।

प्रश्न—सिद्ध परमात्मा की भक्ति किस प्रकार करनी चाहिए?

उत्तर—उनकी स्तुति करते हुए उन की आज्ञानुसार अपने आचरण की शुद्धि करना, यही उनकी भक्ति है।

प्रश्न—जब सिद्ध प्रभु अरूपी और अशरीरी हैं, तब उन की क्या आज्ञा है, यह पता किस प्रकार लग सकता है?

उत्तर—अर्हन् देव भी निश्चय पद में सिद्ध रूप ही हैं, तथा केवलज्ञान दोनों का सम है: अतएव अर्हन् देव की जो आज्ञाएं हैं, वे सर्व सिद्ध परमात्मा की ही आज्ञाएं मानी जाती हैं।

प्रश्न—क्या हम उनकी भक्ति के वश होते हुए उनके नाम पर अनुचित क्रियाएं भी कर सकते हैं?

उत्तर—जो उनकी भक्ति के नाम पर अनुचित क्रियाएं करनी हैं, वह भक्ति नहीं है: अपितु वह परम अज्ञानता है। जैसेकि-त्यागी को भोगों की आमंत्रणा करनी।

प्रश्न—स्पष्टतया भक्ति शब्द का अर्थ क्या है?

उत्तर—उन के गुणों में पूर्णतया प्रेमवश होकर उनकी सेवा में दत्त-चित्त हो जाना, और सदैव काल उनके गुणों का चिंतन करते हुए वही गुण अपने आत्मा में धारण करने की चेष्टा करते रहना।

प्रश्न—" आरोग्ग बोहिलाभं समाहि वर मुत्तमं दिन्तु " इस पाठ में जो आरोग्य बोधिलाभ, प्रधान और उत्तम समाधि की प्रार्थना भक्ति के वश हो कर की गई है, तो क्या यह प्रार्थना अनुचित नहीं है?

उत्तर—यह प्रार्थना इस लिये अनुचित नहीं है कि-एक तो यह असत्य मृषा भाषा का वाक्य है, द्वितीय पुद्गल सम्बन्धी इस में कोई भी प्रार्थना नहीं है। केवल कर्मों से रहित होने की ही प्रार्थना की गई है।

प्रश्न—क्या इस प्रकार की प्रार्थना करने से तीर्थंकर देव या सिद्ध परमात्मा उक्त पदार्थ प्रदान कर देंगे?

उत्तर—सालम्बन ध्यान द्वारा जो समाधि की प्राप्ति होती है: व्यवहार पक्ष में उस आलम्बन का भी उपकार माना जाता है। अतः इस उक्ति के वश होते हुए उन का देना माना ही जाता है।

प्रश्न—प्रधान और वर समाधि क्यों कथन की गई हैं?

उत्तर—समाधि दो प्रकार से कथन की गई है। जैसे कि-द्रव्यसमाधि और भावसमाधि।

प्रश्न—द्रव्यसमाधि किसे कहते हैं?

उत्तर--जिस पौद्गलिक पदार्थ की जिस को इच्छा हो उसके मिल जाने से ही उस आत्मा को क्षण भर के लिये समाधि आ सकती है। परन्तु वह समाधि क्षण स्थायी होने से त्याज्य है. अतएव * द्रव्यसमाधि की निवृत्ति करने के लिये ही प्रधान और वर पद दिये गए हैं. जिस से यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि-जो परम ज्ञान की समाधि है. उसी की ही मुझे प्राप्ति हो।

प्रश्न—जब सिद्ध परमात्मा से आरोग्य बोधिलाभ और सब से बढ़ कर ज्ञान की समाधि की प्रार्थना की जाती है. तो क्या यह निदानकर्म नहीं है ?

उत्तर—इन पवित्र भावनाओं को निदान कर्म नहीं कहा जाता. कारण कि-यह प्रार्थना वा भावना कर्मबन्धन का कारण नहीं है: अतएव यह निदान-कर्म नहीं है. कर्मबन्धन के कारण मिथ्यात्व. अविरत, कषाय, दुष्योग, वा प्रमादादि प्रतिपादन किये गए हैं। उक्त भावना में उक्त कारणों के न होने से इसे निदान कर्म नहीं कहा जाता।

प्रश्न—यदि निदानकर्म नहीं है तो क्या इस प्रकार के पाठ करने से आरोग्यादि पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है ?

उत्तर—सिद्ध परमात्मा तो वीतराग पद में स्थित होने से राग और द्वेष से रहित हैं: अतः वे तो फल प्रदाता हो ही नहीं सकते। तथा यदि प्रार्थना द्वारा ही वह शुभ कर्म के फल दे सकते हैं तो फिर कर्मों का फल क्या हुआ ? अतएव उक्त प्रार्थना से चित्त शुद्धि होती है और असत्यामृषा भाषा का वाक्य होने से ही उक्त पाठ युक्ति संगत माना जाता है।

प्रश्न—क्या प्रार्थना करने से परमात्मा फल न देगा ?

उत्तर—परमात्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने से फल-प्रदाता नहीं है: अतएव वह फलप्रदाता नहीं माना जाता।

प्रश्न—तो फिर प्रार्थना करने से ही क्या लाभ है ?

उत्तर—चित्त की शुद्धि, आस्तिकता तथा अपने जीवन को पवित्र और पुरुषार्थी बनाना एवं धार्मिक बल उत्पादन करना: जिस से अपना कल्याण करते हुए अन्य अनेक भव्यात्माओं का कल्याण हो।

प्रश्न—जब सिद्ध परमात्मा की भक्ति की जाती है तब क्या उस समय जीव को समाधि की प्राप्ति हो जाती है ?

उत्तर—हां ! उस आत्मा को भक्ति रस में निमग्न होने से उन के गुणों में अत्यन्त अनुराग होता है। उस अनुराग के कारण ही वह जीव भक्ति रस में

*—पदार्थों का समभाव द्वारा एकत्व हो जाना, उसे द्रव्य समाधि कहते हैं।

निमग्न होता हुआ समाधि की दशा को प्राप्त होता है।

प्रश्न—सिद्ध और अर्हन् देवों में किन २ बातों का भेद होता है?

उत्तर—केवलज्ञान और केवलदर्शन और अनंत सुख वा अनंत बल इन बातों में किसी बात का भी भेद नहीं है. किन्तु अर्हन् देव वेदनीय आयुष्य, नाम और गोत्र इन चार कर्मों से युक्त होते हैं। फिर वे देह-धारी होने से अपने पवित्र उपदेशों द्वारा जगत् वासी जीवों पर परम उपकार करते रहते हैं; परंच सिद्ध परमात्मा आठ कर्मों से रहित होने से केवल अपने ही स्वरूप में निमग्न रहते हुए लोक और अलोक पर्याएं देखते रहते हैं। क्योंकि वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं।

प्रश्न—क्या अर्हन् भगवान् को भी सिद्ध कह सकते हैं?

उत्तर—भविष्यत् नैगम नय के मत से अर्हन् देव को भी सिद्ध कह सकते हैं, क्योंकि-अर्हन् भगवान् ने आयुष्कर्म के क्षय हो जाने पर अवश्यमेव मोक्ष-गमन करलेना है।

प्रश्न—जो धर्मोपदेश अरिहन्त भगवन्तों ने दिया हुआ है तो क्या यही उपदेश सिद्ध परमात्मा ने दिया है, इस प्रकार कह सकते हैं?

उत्तर—हां! यह बात भली भांति तथा निर्विवाद सिद्ध है कि-जो धर्मोपदेश श्रीअर्हन् देवों ने किया है, वही धर्मोपदेश सिद्ध परमात्मा का भी है। क्योंकि- केवलज्ञान की अपेक्षा से श्रीअर्हन् देव और सिद्ध परमात्मा में अभेदता सिद्ध होती है, तथा दूसरी यह भी बात है कि-अर्हन् देव ने अवश्यमेव मोक्ष गमन करना है: जब वह मोक्ष गमन करता है, तब उस जीव की अर्हन् संज्ञा हटकर सिद्ध संज्ञा होजाती है। अतः वह पूर्वोक्त उपदेश सिद्ध परमात्मा का ही कहा जाता है। "सिद्धा एवं वदंति" सिद्ध इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार के वाक्य देखने से निश्चय होजाता है कि-अर्हन् देवों को ही निश्चय में गुण एक होने से सिद्ध माना गया है।

इस प्रकार ज्ञान की एकता और चार कर्मों के भाव अभाव के होने से अर्हन् देव और सिद्ध परमात्मा यह दोनों पद "देव" में माने गए हैं। कारण कि-जो सर्व प्रकार के दोषों से निवृत्त होगया है, वही देव कहलाने के योग्य होता है, फिर उसी का सत्योपदेश भव्य जीवों के कल्याण के लिये उपयोगी माना जाता है: क्योंकि-रागी आत्मा का एकान्ततः स्वार्थमय जीवन होता है. अतः वह अपने जीवन के लिये ही उपदेश करेगा. जिस प्रकार उस को दुःखों का सामना न करना पड़े, तथा उसका जीवन पौद्गलिक सुखों से वंचित न रहे: वह उसी प्रकार की चेष्टा करता रहेगा। परंच वीतरागी महात्माओं का जीवन अन्य आत्माओं के कल्याणार्थ ही होता है. वे औरों के कल्याण के लिये नाना प्रकार के कष्टों का सामना

करते हैं। अपने जीवन को भी व्युत्सर्जन कर देते हैं, परन्तु परोपकार के मार्ग से वे किंचित् मात्र भी विचलित नहीं होने पाते, अतएव वे ही देव कहला सकते हैं। अनादि काल से पांच भारत वर्ष और पांच ऐरवर्त्त वर्ष क्षेत्रों में दो प्रकार का काल चक्र वर्त्त रहा है, उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणीकाल। प्रत्येक काल दश कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण का होता है, तथा प्रत्येक काल के छः भाग होते हैं: सो दोनों कालों के मिलने से २० कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण का एक कालचक्र होता है। विशेष केवल इतना ही है कि-उत्सर्पिणी काल में प्रिय पदार्थों का प्रादुर्भाव और अप्रिय पदार्थों का शनैः २ ह्रास होता जाता है: अन्त में जीवों को पौद्गलिक सुख की पूर्णतया प्राप्ति हो जाती है।

इस से विपरीत भाव अवसर्पिणी काल का माना गया है, जिस में पुद्गल सम्बन्धी सुख का ह्रास होता हुआ शनैः २ जीव परम दुःखमयी अवस्था में हो जाते हैं। इस प्रकार इस लोक में काल चक्रों का चक्र लगा रहता है। अनादि नियम के अनुकूल प्रत्येक काल चक्र में २४ तीर्थंकर देव १२ चक्रवर्त्ती नव बलदेव नव वासुदेव और नव ही प्रतिवासुदेव ये महापुरुष उत्पन्न हुआ करते हैं। स्थानाङ्ग सूत्र में तीन प्रकार के उत्तम पुरुषों का विवरण किया गया है। जैसे कि-धर्मोत्तम पुरुष १ भोगोत्तम पुरुष २ और कर्मोत्तम पुरुष ३। सो धर्मोत्तम पुरुष तो श्रीअर्हन् देव होते हैं, जो धार्मिक क्रियाओं को प्रतिपादन करके सदैव काल जीवों का कल्याण करते रहते हैं। भोगोत्तम पुरुष चक्रवर्त्ती होते हैं, जिनके समान पौद्गलिक सुख के अनुभव करने वाली अन्य व्यक्तियां उस समय नहीं होतीं। कर्मोत्तम पुरुष राज्य धर्म के नानाप्रकार के नियमों के निर्माता होते हैं, वे वासुदेव की पदवी को धारण करके फिर साम, दाम, भेद और दण्ड इस प्रकार की नीति की स्थापना करके राज्य-धर्म को एक सूत्र में बांधते हैं। अर्द्ध भारत वर्ष में उनका एक छत्रमय राज्य होता है, क्योंकि-यावत्काल पर्यन्त एक छत्रमय राज्य नहीं होता, तावत्काल पर्यन्त प्रजा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये असमर्थता रखती है। अतएव वासुदेवों को कर्मोत्तम पुरुष माना गया है।

इस काल के पूर्व जो उत्सर्पिणी काल व्यतीत होचुका है, उसमें निम्न लिखितानुसार २४ तीर्थंकर देव हुए हैं—उनके शुभ नाम ये हैं। केवलज्ञानी १, निर्वाणी २, सागर ३, महायश ४, विमल ५, सर्वानुभूति ६, श्रीधर ७, दत्ततीर्थकृत् ८, दामोदर ९, सुतेजाः १०, स्वामी ११, मुनिसुव्रत १२, सुमति १३, शिवगति १४, अस्ताग १५, निमीश्वर १६, अनिल १७, यशोधर १८, कृतार्थ १९, जिनेश्वर २० शुद्धमति २१ शिवकर २२ स्यन्दन २३ और संप्रति २४: परंच जो आगामी काल में आनेवाली उत्सर्पिणी में भी २४ तीर्थंकर देव होंगे, उनके शुभ नाम

निम्नलिखितानुसार हैं । जैसे कि-पद्मनाभ १, शूरदेव २, सुपार्श्वक ३, स्वयंप्रभ ४, सर्वानुभूति ५, देवश्रुत ६, उदय ७, पेढाल ८ पोट्टिल ९, शतकीर्त्ति १०, सुव्रत ११, अमम १२, निष्कषाय १३, निष्पुलाक १४, निर्मम १५, चित्रगुप्त १६, समाधि १७, संवर १८, यशोधर १९, विजय २०, मल्ल २१, देव २२, अनन्तवीर्य २३, और भद्रकृत् २४। अभिधान चिन्तामणि हेमकोष में व्युत्पत्ति सहित उक्त नामों की व्याख्या की गई है। वहां से देख लेनी चाहिए।

वर्त्तमान काल (इस समय) में जो अवसर्पिणी काल वर्त्त रहा है, उसमें भी चतुर्विंशति तीर्थंकर देव हुए हैं, उनके शुभ नाम अभिधानचिन्तामणि से व्युत्पत्ति सहित लिखता हूं। जैसे कि-ऋषति गच्छति परमपदमिति 'ऋषिवृषि लुसिभ्यः कित्'' (उणा. ३३१) इत्यभे ऋषभः यद्वा ऊर्वोर्वृषभलाञ्छनमभूद्भगवतो, जनन्या च चतुर्दशानां स्वप्नानामादावृषभो दृष्टस्तेन ऋषभः १—जो परम पद के विषय जाता है, उसे ही ऋषभ कहते हैं सो यह अर्थ तो सर्व जिनेश्वर देवों के विषय संघटित होजाता है। परंच श्रीभगवान् के दोनों उरुओं में वृषभ का लक्षण था, तथा श्रीभगवत् की माता ने चतुर्दश स्वप्नों के देखे जाने पर प्रथम स्वप्न वृषभ का ही देखा था, इसी लिये श्रीभगवान् का शुभ नाम ऋषभदेव भगवान् स्थापन किया गया। परिषहादिभिर्न जितः इति अजितः यद्वा गर्भस्थे अस्मिन्यूते राज्ञा जननी न जितेत्याजितः जो परिषहादि से न जीता गया, उसी का नाम अजित है, अर्थात् २२ परीषह, चार कषाय ८ मद और ४ प्रकार के उपसर्ग ये सब श्रीभगवान् को जीत न सके; इसलिये श्रीभगवान् का शुभ नाम अजित हुआ; किन्तु यह सर्व जिनेश्वर देवों में व्यापक हो जाता है। अतएव विशेष अर्थ यह भी है कि-जब श्रीभगवान् गर्भावास में विराजमान थे उस समय राजा और रानी चित्त विनोद के लिये एक प्रकार का द्यूत (सारपाशादि) खेलते थे, तब राजा रानी को जीत न सका, इसलिये श्री भगवान् का नाम अजितनाथ रक्खा गया। शं सुखं भवत्यस्मिन् स्तुते शंभवः यद्वागर्भगतेऽप्यस्मिन्नभ्यधिकसस्यसंभवात् सम्भवोऽपि—श नाम सुख का वाचक है, सो जिस के करने से सुखकी प्राप्ति हो उसे ही शंभव कहते हैं। तथा जिस समय श्रीभगवान् गर्भ में आए थे, उस समय पृथ्वी पर धान्यों की अत्यन्त उत्पत्ति हुई थी, अतः श्री भगवान् का नाम संभवनाथ हुआ। अभिनन्द्यते देवेन्द्रादिभिरित्यभिनन्दनः भुज्यादित्वादनटः यद्वा गर्भात्प्रभृत्येव अभीक्ष्णं शक्रेणाभिनन्दनादाभिनंदनः जिस की इन्द्रादि द्वारा स्तुति की गयी है, उसी का नाम अभिनन्दन है तथा जब से श्रीभगवान् गर्भ में आए थे, उसी दिन से पुनः २ शक्रेन्द्र द्वारा स्तुति की गई; अतः श्रीभगवान् का नाम अभिनन्दन है। शोभनामतिरस्य सुमतिः यद्वा गर्भस्थे जनन्याः सुनिश्चिता मतिरभूदिति सुमतिः सुन्दर है बुद्धि जिस की उसी का नाम है सुमति, तथा जब से श्रीभगवान् गर्भ में आए थे,

उसी समय से माता की बुद्धि सुनिश्चित होगई थी: अतः श्रीभगवान् का नाम सुमति हुआ। निष्पङ्कतामङ्गीकृत्य पद्मस्येव प्रभाऽस्यपद्मप्रभः यद्वा पद्मशयेन देहदो मातुर्देवतया पूरित इति, पद्मवर्णश्च भगवानिति वा पद्मप्रभः विषय–वासना रूपी कीचड़ से रहित और पद्म के समान प्रभा है जिस की उसी का नाम पद्मप्रभ है। तथा पद्मशय्या में शयन करने का दोहद उत्पन्न हो गया था वह देवता द्वारा पूर्ण कियागया तथा पद्मकमल के समान जिन के शरीर का वर्ण था इसी से श्रीभगवान् का नाम पद्मप्रभ हुआ शोभनौ पार्श्वावस्य सुपार्श्वः यद्वा गर्भस्थे भगवति जनन्यपि सुपार्श्वाभूदिति सुपार्श्वः शोभनीय दोनों तरफ हैं जिन के वह सुपार्श्व है अथवा जब श्रीभगवान् गर्भ में थे. तब उसी समय से माता के दोनों तरफ शोभनीय हो गए थे अतः श्रीभगवान् का नाम सुपार्श्व हुआ। चन्द्रस्येव प्रभा ज्योत्स्ना सौम्य-लेश्याविशेषोऽस्य चन्द्रप्रभः तथा गर्भस्थे देव्याः चन्द्रपानदोहदोऽभूदिति चन्द्रप्रभः चन्द्रमा के समान है सौम्यलेश्या जिन की वही चन्द्रप्रभ है तथा जब श्रीभगवान् गर्भ में आए थे तब माता को चन्द्रपान करने का दोहद उत्पन्न हुआ था। अतएव श्रीभगवान् का नाम चन्द्रप्रभ हुआ। शोभनो विधिर्विधानमस्य सुविधिर्यद्वा गर्भस्थे भगवति जनन्यप्येवमासीत सुविधिः सुन्दर है विधि विधान जिस का वह सुविधि तथा जब श्री भगवान् गर्भ में थे तब माता अत्यन्त सुन्दर विधि विधान करने वाली हो गई थी, अतः श्रीभगवान् का नाम सुविधि रक्खा गया। सकलसत्वसंतापहरणात् शीतलः तथा गर्भस्थे भगवति पितुः पूर्वोत्पन्नाचिकित्स्यपित्तदाहो जननीकरस्पर्शादुपशान्तः इति शीतलः सकल जीवों का सन्ताप हरने से शीतल तथा जब श्रीभगवान् गर्भ में स्थित थे, तब श्रीभगवान् के पिता को पित्तदाह का रोग था, जो वैद्यों द्वारा भी शान्त न हो सका था, तब श्रीभगवान् की माता ने राजा के शरीर को स्पर्श किया, तब रोग शान्त हो गया। इस प्रकार गर्भस्थ जीव का माहात्म्य जान कर श्रीभगवान् का नाम शीतल रक्खा गया है। श्रेयांसावंसावस्य श्रेयांसः पृषोदरादित्वात् यथा गर्भस्थेऽस्मिन् केनाप्यनाक्रान्तपूर्वदेवताधिष्ठितशय्या जनन्याक्रान्तेति श्रेयो जातमिति श्रेयांसः। सर्व जगत्–वासी जीवों के हित करने से श्रीभगवान् का नाम श्रेयांस तथा जब श्रीभगवान् गर्भावास में थे, तब श्री भगवत् के पिता के घर में एक देवाधिष्ठित शय्या थी, उस पर कोई भी बैठ नहीं सकता था यदि बैठता था तो उसको असमाधि उत्पन्न हो जाती थी: किन्तु गर्भ के प्रभाव से रानी जी को उस शय्या पर शयन करने का दोहद उत्पन्न हुआ, तब वह उस शय्या पर शयन कर गई। तब देवता ने कोई भी उपसर्ग नहीं किया अतः श्रेयांस नाम स्थापित हुआ। वसुपूज्यनृपतेरयं वासुपूज्यः यद्वा गर्भस्थेऽस्मिन् वसु हिरण्यं तेन वासवो राजकुलं पूजितवानिति वसवो देवविशेषास्तेषां पूज्यो वा वसुपूज्यः प्रज्ञादित्वात् वासुपूज्यः जो देवतों द्वारा पूजनीय है वही वासुपूज्य है तथा वसुपूज्य राजा का जो पुत्र है, उसी का नाम वासुपूज्य है तथा जब श्रीभगवान् गर्भ

वास में थे, तब हिरण्य वा सुवर्ण द्वारा वैश्रवण देवता ने घर को पूर्ण भर दिया; इसलिये श्रीभगवान् का नाम वासुपूज्य हुआ तथा वासव नामक इन्द्रों द्वारा जो पूजित है उसी का नाम वासुपूज्य है। विगतो मलोऽस्य विमलज्ञानादियोगाद्वा विमलः यद्वा गर्भस्थे मातुर्मतिस्तनुश्चविमला जातेति विमलः **दूर हो गया है आठ कर्मरूपी मल जिन का तथा निर्मल ज्ञानादि के योग से विमल नाम हुआ, तथा जब श्रीभगवान् गर्भ में थे तब भगवान् की माता की मति तथा माता का शरीर निर्मल हो गया था, इस लिये श्रीभगवान् का नाम विमलनाथ स्थापन किया गया** न विद्यते गुणानामन्तोऽस्य अनंतः अनंतजिदेकदेशो वा अनंतभीमो भीमसेन इति न्यायात् सचासौ तीर्थकृच्च अनंततीर्थकृत् **जिन के गुणों का अन्त नहीं होता, उन्हें अनंत कहते हैं, तथा अनंत कर्मों के अंश जीतने से अनंत ज्ञान जो उत्पन्न हो गया है, इसी कारण अनंत कहते हैं।** दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्वसंघातं धारयति धर्मः, तथा गर्भस्थे जननी दानादिधर्मपरा जातेति धर्मः **दुर्गति में गिरते हुए प्राणियों को जो धारण करता है, उसे ही धर्म कहते हैं तथा जब श्री भगवान् गर्भावास में थे तब माता की रुचि दानादि धर्मों में विशेष हो गई थी। अतएव श्रीभगवान् का नाम धर्मनाथ रक्खा गया।** शांतियोगात् तदात्मकत्वात् तत्कर्तृकत्वाच्चायं शांतिः तथा गर्भस्थे पूर्वोत्पन्नाऽशिवशांतिरभूत् इति शांतिः। **शांति के योग से वा शांति रूप होने से तथा शांति करने से शांति तथा जब श्री भगवान् गर्भावास में थे, तब देश में जो पूर्व-उत्पन्न अशिव (रोग) था उस की शांति होगई थी, इसी लिये शांतिनाथ नाम रक्खा गया।** कुः पृथ्वी तस्यां स्थितवान् इति कुंथुः पृषोदरादित्वात् तथा गर्भस्थे भगवति जननी रत्नानां कुन्थुराशिं दृष्टवतीति कुंथुः **पृथ्वी पर ठहरने से कुंथुनाथ तथा जब श्रीभगवान् गर्भावास में थे तब माता ने रत्नमय कुंथुओं की राशि को देखा था, इसी कारण कुंथुनाथ नाम स्थापन किया गया।** सर्वोन्निामसत्वकुले यः उपजायते तस्याभिवृद्धये वृद्धैरसावर उदाहृतः इति वचनादरः तथा गर्भस्थे भगवति जनन्या स्वप्ने सर्वरत्नमयोऽरो दृष्ट इत्यरः **सब से उत्तम महासात्विक कुल में जो उत्पन्न होता है तथा जो कुल की वृद्धि करने वाला होता है उस को वृद्ध पुरुष प्रधान अर कहते हैं। तथा जब श्रीभगवान् गर्भावास में थे, तब माता ने स्वप्नावस्था में सर्वरत्नमय अर (करवत) देखा था, इसी कारण से श्रीभगवान् का शुभ नाम अरनाथ रक्खा गया।** परीषहादि मल्लजयान्निरुक्तान्मल्लिः तथा गर्भस्थे भगवति मातुः सुरभिकुसुममाल्यशयनीये दोहदो देवतया पूरितइति मल्लिः। **परीषहादिमल्लों के जीतने से मल्लि तथा जब श्रीभगवान् गर्भावास में थे तब माता को सुगंध वाले पुष्पों की माला की शय्या में शयन करने का दोहद उत्पन्न हुआ था, सो वह दोहद देवता द्वारा पूरा किया गया इस कारण से श्रीभगवान् का नाम मल्लिनाथ रक्खा गया।** मन्यते जगतस्त्रिकालावस्था-

मिति मुनिः "मनेरुदेतौ चास्य वा" (उणा० ३ १२) इति इ प्रत्यये उपान्त्यस्योत्वं शोभनानि व्रतान्यस्य सुव्रतः मुनिश्चासौ सुव्रतश्च मुनिसुव्रतः तथा गर्भस्थे जननी मुनिवत् सुव्रता जातेति मुनिसुव्रतः **तीन काल में जो जगत् को मानता है उसी का नाम मुनि है तथा सुन्दर हैं व्रत जिस के, सो दोनों पदों के एकत्र करने से मुनिसुव्रत शब्द बन गया तथा जब श्रीभगवान् गर्भावास में थे तब भगवन्त की माता मुनि के समान सुन्दर व्रत वाली हो गई थीः इसी कारण से श्रीभगवान् का नाम सुव्रत रक्खा गया** । परीषहोपसर्गादिनामनात् नमेस्तु वा (उणा-३ १३) इति विकल्पनेनान्त्येकारभाव पक्षे नमिः यद्वा गर्भस्थे भगवति परचक्रनृपैः अपि प्रणतिः कृतेति नमिः । **परीषहादि वैरियों को नमन करने से नमि तथा जब श्रीभगवान् गर्भावास में थे तब वैरी राजे भी आकर श्रीभगवान् के पिता को नमस्कार करने लग गये इसी कारण से नमिनाथ नाम संस्कार किया गया** । धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः नेमीतोऽनन्तोऽपि दृश्यते यथा वन्दे सुव्रतनेमिनौ इति । **धर्म चक्र की धारा के समान वह नेमि है तथा जब श्री भगवान् गर्भावास में थे तब माता ने अरिष्टरत्नमय नेमि (चक्र धारा) आकाश में उत्पन्न हुई देखी इसी लिये अरिष्टनेमिनाथ नाम संस्कार किया गया तथा च प्राकृतपाठः**— गम्भगए तस्स मायाए रिट्ठरयणामउ महति महालउनेमि उप्पयमाणो सुमिणे दिट्ठोत्ति तेण से रिट्ठ नेमित्ति नाम कयंति" **अर्थ प्राग् लिखा गया है** स्पृशति ज्ञानेन सर्वभावानिति पार्श्वः तथा गर्भस्थे जनन्या निशि शयनीयस्थयाऽन्धकारे सर्पो दृष्ट इति गर्भानुभावोऽयम् इति मत्वा पश्यतीतिनिरुक्तात् पार्श्वः पार्श्वोऽस्य वैयावृत्यकरो यक्षस्तस्य नाथः पार्श्वनाथः भीमोभीमसेनः इति न्यायाद् वा पार्श्वः **सर्वभावों को जो ज्ञान से जानता है उसे ही पार्श्व कहते हैं, सो यह लक्षण तो सर्व तीर्थंकरों में संघटित होता है, परंच जब श्रीभगवान् गर्भावास में थे तब श्रीभगवान् की माता ने अपनी शय्या पर बैठ अंधकार में जाते हुए सर्प को देख लियाः तब माता ने विचार किया यह सब गर्भ का प्रभाव है तथा पार्श्व नाम वाला यक्ष श्रीभगवान् की अत्यन्त भक्ति करता था इसी कारण पार्श्वनाथ नाम हुआ** । विशेषेण ईरयति प्रेरयति कर्माणीति वीरः **विशेषतया जो कर्मों को प्रेरते हैं इसी कारण उन्हें वीर कहा जाता है तथा महा उपसर्गों के सहन करने से श्रीभगवान् का नाम श्रीश्रमण भगवान् महावीर प्रसिद्ध हुआ । इस प्रकार वर्त्तमान अवसर्प्पिणी काल में मोक्ष को प्राप्त हुए २ चतुर्विंशति तीर्थंकरों के व्युत्पत्ति युक्त नामोत्कीर्त्तन कथन किये गए हैं । अब जिन २ तीर्थंकरों के अपर नाम भी हैं उन का विवरण किया जाता है । जैसे कि**— ऋषभो वृषभः **वृषभ का लक्षण होने से ऋषभ देव को वृषभदेव (नाथ) कहते हैं** । श्रेयान् श्रेयांसः **सकल भुवन में प्रशस्यतम होने से श्रेयांस को " श्रेयान् " कहते हैं** । स्यादनन्त जिदनन्तः **अनन्त कर्मों के अंशों को जीतने से अथवा अनन्त ज्ञानादि के होने से**

तथा राग द्वेष रूपी शत्रुओं के जीतने से अनन्तनाथ प्रभु को अनन्तजित् भी कहते हैं तथा जब श्रीभगवान् गर्भस्थ थे तब माता ने अनन्तरत्नदाम को देखा वा जीता इस कारण भी अनन्तजित् कहते हैं। सुविधिस्तु पुष्पदन्तः पुष्प कलिका के समान अति मनोहर दन्त होने से सुविधिनाथ स्वामी को पुष्पदन्त भी कहते हैं। मुनिसुव्रतसुव्रतौ तुल्यौ मुनिसुव्रत स्वामी को सुव्रत भी कहते हैं। जैसे–समास में सत्यभामा " भामा " इस प्रकार प्रयोग सिद्ध किया जाता है। अरिष्टनेमिस्तु नेमिः अशुभ पदार्थों के नेमिवत् प्रध्वंस करने से अरिष्टनेमि तथा जब श्री भगवान् गर्भावास में थे तब माता ने स्वप्न में अरिष्टरत्नमय महानेमि (चक्रधारा) को देखा था इसी कारण अरिष्टनेमि नाम स्थापन किया गया। अपश्चिमादिशब्दवन्नञ् पूर्वत्वेऽरिष्टनेमिः अपश्चिमादिशब्दवत् नञ्पूर्वक होने से अरिष्टनेमि शब्द की व्युत्पत्ति सिद्ध होती है। वीरश्चरमतीर्थकृत् महावीरो वर्द्धमानो देवार्यो ज्ञातनन्दनः वीर भगवान् को चरमतीर्थकृत् अन्तरंग शत्रुओं के जीतने से महावीर, उत्पत्ति से लेकर ज्ञानादि की वृद्धि होने से वर्द्धमान तथा जब श्रीभगवान् गर्भावास में थे तब उन के कुल में धन धान्यादि अनेक पदार्थों की वृद्धि हुई, इस कारण वर्द्धमान नाम संस्कार किया गया। देवों वा इन्द्रों का स्वामी होने से देवार्य तथा ज्ञात कुल में उत्पन्न होने से वा ज्ञात जो सिद्धार्थ राजा है उसका नन्दन होने से ज्ञात नन्दन भी कहते हैं।

श्री तीर्थंकर देवों के सर्व नाम गुणनिष्पन्न होते हैं इन नामों का भव्य प्राणी अवलम्बन करते हुए वा इन नामों के गुणों में अनुराग करते हुए इतना ही नहीं किन्तु अपने आत्मा में उन गुणों को स्थापन करते हुए तथा यथावत् उन गुणों का अनुकरण करके अपने आत्मा को पवित्र करें। अतएव देवपद में श्री सिद्ध परमात्मा और अर्हन् देव दोनों लिये गए हैं। देहधारी वा परमोपकारी होने से प्रथम पद में श्री अर्हन् देवों का ही आसन लिया गया है, इस लिये चतुर्विंशति तीर्थंकरों के विषय में कुछ आवश्यकीय बातों का विषय लिखा जाता है।

तीर्थंकर नाम	नगरी	जन्म	पिता	माता	लक्षण	दीक्षा तिथि	केवल ज्ञान नगरी	केवल ज्ञान तिथि	कुल
श्रीऋषभदेव	विनीता नगरी	चैत्र वदी ८	नाभि-कुलकर	मरुदेवी	वृषभ	चैत्रवदि ८	पुरिमताल	फा. व. ११	इक्ष्वाकु
अजितनाथ	अयोध्या	माघ शु. ८	जितशत्रु	विजया	हस्ती	महा व. ९	अयोध्या	पौष व. ११	,,
संभवनाथ	श्रावस्ती	महा शु. १४	जितारि	सेना	अश्व	मृग. शु. १५	श्रावस्ती	का. व. ११	,,
अभिनंदन	अयोध्या	माघ शु. २	संवरराजा	सिद्धार्थ	कपि	माघ शु. १२	अयोध्या	पौ. व. १२	,,
सुमतिनाथ	अयोध्या	वैशाख शु. ८	मेघराजा	मंगला	क्रौंच पक्षी	वैशाख शु. ९	अयोध्या	चैत्र शु. ११	,,
पद्मप्रभु	कौशुम्बी-	कार्त्ति. व. १२	श्रीधर राजा	सुसीमा	पद्म-कमल	कार्त्तिक व. १३	कौसुम्बी	चैत्र शु. १५	,
सुपार्श्वनाथ	वाराणसी	ज्येष्ठ शु. १२	प्रतिष्ठ राजा	पृथ्वी माता	स्वस्तिकलक्षण	ज्येष्ठ शु. १३	वाराणसी	फा. व. ६	,,
चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	पौष व. १२	महासेनराजा	लक्ष्मणा माता	चन्द्रलक्षण	पौष व. १३	चन्द्रपुरीनगरी	फा. व. ७	,,
सुविधिनाथ	काकंदी नगरी	मृग. व. ५	सुग्रीव राजा	रामा राणी	मगरमत्स्य का	मृग. व. ६	काकंदी नगरी	का. शु. ३	,,
शीतलनाथ	भद्दिलपुर	माघ व. १२	दृढरथ राजा	नंदा माता	श्रीवत्स	माघ व. १२	भद्दिलपुर	पौष व. १४	,,
श्रेयांसनाथ	सिंहपुरी	फा. व. १२	विष्णु राजा	विष्णु माता	गैंडा का लक्षण	फाल्गुन व. १३	सिंहपुरी	माघ व. ३	,,

वासु- पूज्य	चम्पा पुरी	फा. व१४	वसुपू- ज्यरा.	जया माता	पाडा- काल.	फाल्गुन शु. १५	चंपा पुरी	माघ शु. २	इक्ष्वाकु
विमल नाथ	कंपिल पुरी	माघ शु. ३	कृतव- र्माराजा	श्यामा माता	वराह- कालक्ष.	माघ शु. ४	कंपिल पुरी	पौष शु. ६	,,
अनंत- नाथ	अयो- ध्या	वैशाख व. १३	सिंहसे- नराजा	सुयशा- माता	श्येन क.	वैशाख व. १४	अयो- ध्या	वैशाख व. १४	,,
धर्म- नाथ	रत्नपुरी	माघ शु. ३	भानु- राजा	सुव्रता माता	वज्र- लक्षण	माघ शु. १३	रत्नपु.	पौष शु. १५	,,
शांति- नाथ	गजपुर	ज्येष्ठ व. १३	विश्वसे- न राजा	अचिरा राणी	मृग- लक्षण	ज्येष्ठव. १२	गजपुर	पौष शु. ६	,,
कुंथु- नाथ	गजपुर	वैशाख व. १४	सूर- राजा	श्री राणी	अज	चैत्र व. ५	गजपुर	चैत्र शु. ३	,,
अर- नाथ	गजपुर	मृगशी. शु. १०	सुदर्शन राजा	देवा राणी	नंदाव- र्तन का	मृग. शु. १२	गजपुर	का. शु. १२	,,
मल्लि- नाथ	मिथि ला न.	मृग- शु. ११	कुंभ राजा	प्रभाव- ती रा.	कलश	मृग. शु. ११	मिथि ला न.	मृग. शु. ११	,,
सुव्रत- स्वामी	राजगृ- ही	ज्येष्ठ व. ८	सुमित्र राजा	पद्माव- ती रा.	कूर्म- लक्षण	फा. शु. १२	राज- गृही न.	फाल्गु. व. १२	,,
नमि नाथ	मथुरा- नगरी	श्रावण व. ८	विजय राजा	विप्रा- रानी	कमल-	आषाढ़ व. ६	मथुरा- नगरी	मृग. शु. ११	,,
अरिष्टने मि नाथ	सौरि- पुर	श्रावण शु. ५	समुद्र विजय	शिवा- देवी	शंख	श्रावण शु. ६	गिर- नार	आश्वि. व. १५	,,
पार्श्व- नाथ	वाराण- सी	पौष व. १०	अश्व- सेन	वामा- देवी	सर्प का लक्षण	पौष व. ११	वारा- णसी	चैत्रव. ४	,,
महावी- रस्वामी	क्षत्रिय- कुंड	चैत्र व. १३	सिद्धा- र्थराजा	त्रिश- ला देवी	सिंह- काल.	मृग. व. ११	ऋजुवा लकान.	वैशाख शु. १०	,,

अब नीचे श्री भगवन्तों की निर्वाण तिथियां वर्णन की जाती हैं यथाः—

तीर्थंकर देव	निर्वाणकाल
श्रीऋषभदेव जी	माघ कृष्णा १३
,, अजितनाथ जी	चैत्र शुक्ला ५
,, संभवनाथ जी	चैत्र शुक्ला ५
,, अभिनन्दन जी	वैशाख शुक्ला ८
,, सुमतिनाथ जी	चैत्र शुक्ला ६
,, पद्म प्रभु स्वामी	मार्गशीर्ष कृष्णा ११
,, सुपार्श्वनाथ जी	फाल्गुन कृष्णा ७
,, चन्द्रप्रभु जी	भाद्रपद कृष्णा ७
,, सुविधिनाथ जी	भाद्रपद शुक्ला ६
,, शीतलनाथ जी	वैशाख कृष्णा २
,, श्रेयांस नाथ जी	श्रावण कृष्णा ३
,, वासुपूज्य स्वामी	आषाढ़ शुक्ला १४
,, विमलनाथ जी	आषाढ़ कृष्णा ७
,, अनंतनाथ जी	चैत्र शुक्ला ५
,, धर्मनाथ जी	ज्येष्ठशुक्ला ५
,, शान्ति नाथ जी	ज्येष्ठ कृष्णा १३
,, कुंथुनाथ जी	वैशाख कृष्णा १
,, अरनाथ जी	मार्गशीर्ष शुक्ला १०
,, मल्लिनाथ जी	फाल्गुन शुक्ला १२
,, मुनिसुव्रत स्वामी	ज्येष्ठकृष्णा ६
,, नमिनाथ जी	वैशाखकृष्णा १०
,, अरिष्टनेमि नाथ जी	आषाढ़ शुक्ला ८
,, पार्श्वनाथ जी	श्रावण शुक्ला ८
,, महावीर स्वामी जी	कार्त्तिक कृष्णा १५

सो तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये पांचों ही कल्याण भव्य प्राणियों के लिये उपादेय हैं, और उक्त तिथियों में धर्म-ध्यान विशेष करना चाहिए क्योंकि- जब देव का पूर्णतया स्वरूप जान लिया गया तब आत्म-शुद्धि के लिये देव की उपासना तथा देव को 'ध्येय' स्वरूप में रख कर आत्म-विशुद्धि अवश्यमेव करनी चाहिए।

॥ इति श्री जैनतत्त्वकलिकाविकासे देवस्वरूपवर्णनं नाम प्रथमा कलिका समाप्ता ॥

अथ द्वितीया कलिका

धम्म देवा! से केणट्ठेणं भंते ? एवं वुच्चइ धम्मदेवा धम्मदेवा ? गोयमा! जे इमे अणगारा भगवंतो ईरिया समिया जाव गुत्त बंभयारी से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ धम्मदेवा।

भगवतीसूत्र ० शतक १२ उद्देश ६।

भावार्थ—श्रीगौतम स्वामी जी श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से पूछते हैं कि-हे भगवन् ! धर्मदेव किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् कहने लगे कि-हे गौतम ! जो ये साधु भगवंत हैं ईर्यापथ की समिति वाले यावत् साधुओं के समग्र गुणों से युक्त गुप्त ब्रह्मचारी उन्हीं पवित्र आत्माओं को धर्मदेव कहा जाता है; क्योंकि-वे मुमुक्षु आत्माओं के लिये आराध्य हैं और धर्मपथ के दर्शक हैं, इसी कारण वे धर्मदेव हैं। अतएव देवाधिदेव के कथन के पश्चात् अब गुरुविषय में कहा जाता है। यद्यपि सूत्र पाठ में साधु का नाम धर्मदेव प्रतिपादन किया गया है तथापि इस स्थान पर गुरु पद ही विशेष ग्रहण किया जायगा कारण कि-यह पद जनता में सुप्रचलित और सुप्रसिद्ध है ।

जिस प्रकार देव पद में अरहंत और सिद्ध यह दोनों ग्रहण किये गए हैं; उसी प्रकार गुरुपद में आचार्य उपाध्याय और साधु ये तीनों पद ग्रहण किये गए हैं। इस प्रकार देव और गुरुपद में पांच परमेष्ठीपद का समावेश हो जाता है तथा गणि गणावच्छेदक प्रवर्त्तक और स्थविरादि साधुगण भी साधु शब्द में संगृहीत किये गये हैं। अतः ये सब गुरु पद में ग्रहण करने से इनकी व्याख्या भी गुरुपद में ही की जायगी। साथ में यह भी कहना अनुचित न होगा कि यावत् काल आत्मा देव और गुरु से परिचित नहीं होता. तावत् काल पर्यन्त वह धर्म के स्वरूप से भी अपरिचित ही रहता है, क्योंकि-जब तक उसको देव और गुरु का पूर्णतया बोध नहीं होगा तब तक वह उनके प्रतिपादन किये हुए तत्त्वों से भी अनभिज्ञ रहेगा।

शास्त्रों का वाक्य है कि-दो प्रकार से आत्मा धर्म के स्वरूप को जान सकता है। जैसे कि-"सोच्चाचेव अभिसमेच्चा चेव" अर्थात् सुनने और विचार करने

से धर्म की प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि–जब धार्मिक शास्त्रों को सुनता ही नहीं तो भला फिर धार्मिक विषयों पर विचार किस प्रकार कर सकता है? अतएव धार्मिक विषयों को यदि विचार पूर्वक श्रवण किया जाय तब आत्मा को सद्-विचारों से धर्म की प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार ज्ञान और क्रिया से मोक्ष प्रतिपादन किया गया है, ठीक उसी प्रकार श्रवण और मनन से भी धर्मादि पदार्थों की प्राप्ति हो जाती है। यदि ऐसे कहा जाय कि–बहुत से आत्माओं ने भावनाओं द्वारा ही अपना कल्याण कर लिया है, इस लिये शास्त्र श्रवण की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि–भावना श्रवण किये हुए ही पदार्थों की होगी क्योंकि–जब तक उसने प्रथम कल्याणकारी वा पापमय मार्ग को सुना ही नहीं तब तक कल्याणकारी मार्ग में गमन करना और पापकारी मार्ग से निवृत्त होना यह भावना होही नहीं सकती। अतः सिद्ध हुआ कि–जिन आत्माओं ने पूर्व किसी धार्मिक विषयों को श्रवण किया हुआ है, वे उनकी अनुप्रेक्षा पूर्वक विचार करते हुए अपने उद्देश्य की पूर्त्ति में सफल हो जाते हैं।

धर्म का श्रवण प्रायः धर्मदेवों के मुख से ही हो सकता है, इस लिये इस स्थान पर आचार्य उपध्याय और साधु ये तीनों धर्म देव हैं। इन के विषय में कहते हैं। श्री तीर्थंकर देवों के प्रतिपादन किये हुए तत्वों के दिखलाने वाले, तथा उन के पद को सुशोभित करने वाले, गण के नायक, सम्यग् प्रकार से गण की रक्षा करने वाले, गण में किसी प्रकार की शिथिलता आ गई हो तो उसको सम्यग् प्रकार से दूर करने वाले, इतना ही नहीं किन्तु मधुर वाक्यों से चतुर्विध श्रीसंघ को सुशिक्षित करने वाले, गच्छवासी साधु वर्ग वा आर्य वर्ग की सम्यग् प्रकार से रक्षा करने वाले श्री जिन–शासन के शृंगार स्तंभरूप, जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी को अपनी दोनों आखों का आधार होता है, उसी प्रकार संघ में आधार रूप, वाद लब्धि-सम्पन्न नाना प्रकार के सूक्ष्म ज्ञान के धारण करने वाले अलौकिक लक्ष्मी के धारण करने वाले, इस प्रकार के गुणों से विभूषित श्री आचार्य महाराज के शास्त्रों में ३६ गुण कथन किये गए हैं। जो उन गुणों से युक्त होते हैं, वे ही आचार्य पद के योग्य प्रतिपादन किये गए हैं, सो वे गुण निम्न लिखितानुसार हैं जैसे कि–

१ देश—आर्य देश में उत्पन्न होने वाला, यद्यपि धर्म पक्ष में देश कुलादि की विशेष कोई आवश्यकता नहीं है, तथापि प्रायः आर्य देश में उत्पन्न होने वाला जीव सुलभ-बोधि वा गांभीर्यादि गुणों से सहज में ही विभूषित हो सकता है, तथा परम्परागत आर्यता आत्मविकास में एक मात्र कारण बन जाती है जैसे कि–भारतवर्ष में ३२ सहस्र देश प्रतिपादन किये गए हैं, परन्तु उन में

वर्त्तमान कालीन २५½ साढे पच्चीस आर्य कथन किये गये हैं, जैसे कि-राजगृहनगर-मगधजनपद १ अंगदेश-चंपानगरी २ बंगदेश-ताम्रलिप्ती नगरी ३ कलिंग देश-कंचनपुर नगर ४ काशी देश-वाराणसी नगरी ५ कोशल देश-साकेतपुर अपरनाम अयोध्या नगर ६ कुरुदेश-गजपुर (हस्तिनापुर) नगर ७ कुशावर्त्त देश-सौरिकपुर नगर ८ पंचाल देश-कांपिलपुर नगर ९ जंगलदेश-अहिछत्ता नगरी १० सुराष्ट्र देश-द्वारावती (द्वारिका) नगरी ११ विदेह देश-मिथिला नगरी १२ वत्सदेश-कौशांबी नगरी १३ शांडिल्य देश-नंदिपुर नगर १४ मलय देश-भद्दिलपुर नगर १५ वच्छदेश-वैराट नगर १६ वरुण देश- अच्छापुरी नगरी १७ दशार्ण देश-मृत्तिकावती नगरी १८ चेदिदेश-शौक्तिकावती नगरी १९ सिंधुदेश-वीतभय नगर २० सौवीरदेश-मथुरा नगरी २१ सूरसेन देश-पापानगरी २२ भंगदेश-मासपुरिवहा नगरी २३ कुणाल देश-श्रावस्ती नगरी २४ लाढदेश-कोटिवर्ष नगर २५ श्वेतंबिका नगरी-केकय आधा (०॥) देश ये साढे पच्चीस (२५½) आर्य देश हैं। इन देशों में ही जिन-तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, बलदेव वासुदेवादि आर्य-श्रेष्ठ पुरुषों का जन्म होता है, इस वास्ते इनको आर्य देश कहते हैं। ये सब आर्य देश विंध्याचल और हिमालय के बीच में हैं। यद्यपि कतिपय ग्रंथों में उक्त नगरियों के साथ ग्रामों की संख्या भी दी हुई है; किन्तु सूत्र में केवल देश और नगरी का ही नामोल्लेख किया हुआ है। इस लिये यहां ग्रामों की संख्या नहीं दी गई। साथ में इस के अपवाद में यह भी समझ लेना चाहिए कि-देश आर्य और पुरुष भी आर्य १, देश आर्य पुरुष अनार्य २, देश अनार्य पुरुष आर्य ३, और चतुर्थ भंग में देश भी अनार्य और पुरुष भी अनार्य ४ तात्पर्य यह है कि-देश आर्य और पुरुष आर्य यह भंग तो अत्यन्त उपादेय है, यदि देश अनार्य और पुरुष आर्य हो तो वह भंग सर्वथा उपेक्ष्य नहीं है अतएव व्यवहार पक्ष में देश आर्य होना आचार्य का प्रथम गुण है।

२ कुलार्य—जिस प्रकार आर्य देश की आवश्यकता है उसी प्रकार कुलार्य की भी अत्यन्त आवश्यकता है, कारण कि-आर्य कुलों में धर्म-सामग्री, विनय और अभक्ष्य पदार्थों का परित्याग यह गुण स्वाभाविक ही होते हैं और पितृ-पक्ष से जो वंश शुद्ध चला आ रहा है उसे ही आर्य कुल कहते हैं।

३ शुद्ध जाति—जिस प्रकार शुद्ध भूमि विना बीज भी प्रफुल्लित नहीं हो सकता; ठीक उसी प्रकार प्रायः शुद्ध जाति विना समग्र गुणों की प्राप्ति भी कठिन है क्योंकि-यदि जाति शुद्ध होगी तो लज्जा भी स्वाभाविक होगी जिस के कारण बहुत से अवगुण दूर हो कर गुणों की प्राप्ति हो जाती है अतएव

जाति शुद्ध होनी चाहिए।

४ रूपवान्—शरीराकृति ठीक होने पर ही महाप्राभाविक पुरुष हो सकता है। क्योंकि-शरीर की लक्ष्मी दूसरों के मन को प्रफुल्लित करने वाली होती है: जैसे श्री केशीकुमार श्रमण के रूप को देख कर प्रदेशी राजा, और श्रीअनाथी मुनि के रूप को देख कर राजा श्रेणिक आश्चर्यमय हो गए। इतना ही नहीं किन्तु उन के मुख से वाणी को सुन कर धर्म पथ में आ गए। इस लिये आचार्य महाराज का शरीर अवश्यमेव सुडौल और सुन्दर होना चाहिए जिस से वादी और प्रतिवादी जन को विस्मय हो और वे धर्म पथ में शीघ्र आ सकें।

५ दृढसंहनन—जिस प्रकार शरीराकृति की अत्यन्त आवश्यकता है, उसी प्रकार संहनन दृढ होना चाहिए। क्योंकि-यावत्काल पर्यन्त शरीर की समर्थता ठीक नहीं है, तावत्काल पर्यन्त भली प्रकार अध्ययन और अध्यापनादि क्रियाएं ठीक नहीं हो सकतीं। अतएव गच्छाधिपति के करणीय क्रियाओं के लिये दृढ़संहनन की अत्यन्त आवश्यकता है तथा उक्त गुण के विना शीत वा उष्णादि परीषह भी भली प्रकार सहन नहीं किये जा सकते। अतएव आचार्य में उक्त गुण अवश्य होने चाहिएं।

६ धृतिसंपन्न—साथ ही आचार्य में धैर्य गुण पूर्णतया होना चाहिए। क्योंकि-जब मन का साहस ठीक होगा तब गच्छ का भार भली प्रकार वह उठा लेंगे, कठोर प्रकृति वाले साधुओं का भी निर्वाह कर सकेंगे: क्योंकि-जब गच्छाधिपति न्याय मार्ग में स्थित होकर न्याय करने में उद्यत होता है, तब उस को पक्षी और प्रतिपक्षियों के नाना प्रकार के शब्द सुनने पड़ते हैं। सो यदि वे उक्त गुण युक्त होंगे तो उन शब्दों को सम्यक्तया सहन करके न्याय मार्ग से विचलित नहीं होंगे। यदि उन में धैर्यगुण स्वल्पतर होगा, तब लाभ के स्थान पर प्रायः हानि होगी। कारण कि-क्षणिक चित्त वाला आत्मा किसी कार्य के भी सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकता। यद्यपि यह गुण प्रत्येक व्यक्ति में होना चाहिए, परन्तु जो गच्छाधिपति हों उन्हें तो यह गुण अवश्यमेव धारण करना चाहिए।

७ अनाशंसी—अशन पानादि वा सुंदर वस्त्रादि की आशंसा (आशा) न करे; क्योंकि-जिस स्थान पर लोभ संज्ञा विशेष होती है वहां पर मोक्ष-मार्ग में विघ्न उपस्थित हो जाता है, तथा जब गणी लोभ के वश हो जायगा, तब अन्य भिक्षुओं को सन्मार्ग में लाना कठिन हो जायगा। यह नियम की बात है कि-जो आप भली प्रकार सुशिक्षित होगा वही अन्य व्यक्तियों को सुशिक्षित कर सकेगा। अतएव अनाशंस गुण आचार्य में अवश्यमेव होना चाहिए।

८ अविकत्थन—यथायोग्य दण्ड प्रायश्चित्त के देने वाले हों; क्योंकि-अपराध के अनुसार दण्ड देना, यही न्यायशीलता है। यदि पक्षपात द्वारा प्रायश्चित्त दिया जायगा तो वह अन्याय होगा, अपराधी के अपराध के अनुसार जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह केवल आत्म-शुद्धि के लिये ही दिया जाता है। जैसे कि-"चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः"—जिस प्रकार जो वैद्य चिकित्सा करता है वह सब सन्निपातादि रोगों की विशुद्धि के लिये ही करता है, उसी प्रकार जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह सब दोषों की विशुद्धि के लिये ही दिया जाता है। परन्तु साथ ही यह नियम भी है कि-"यथादोषं दण्डप्रणयनं दण्डनीतिः दोष के अनुसार दण्ड प्रदान करना यह तो दण्डनीति कहलाती है. यदि इस के विपरीत किया जाय तब वह न्यायशीलता नहीं कहलाती किन्तु उसे अन्यायशीलता कहा जाता है। अतएव आचार्य में यह गुण अवश्यमेव होना चाहिए। अपितु उसे प्रकाशन भी करना चाहिए; क्योंकि विकत्थन नाम है स्वल्पतर अपराध को भी पुनः २ उच्चारण करना सो जो पुनः २ न कहा जाए किन्तु उस की विशुद्धि का यत्न किया जाय, उसका नाम है "अविकत्थन" सो आचार्य अविकत्थन गुण वाला अवश्यमेव होना चाहिए।

९ अमायी—छल से रहित होना; क्योंकि-मायावी पुरुष धर्ममार्ग से विचलित हो जाता है, और कपट को शुभ कर्म के नाश करने में वा उस क्रिया की सिद्धि में प्रथम विघ्न माना गया है। इतना ही नहीं किन्तु जहां पर कपट उत्पन्न होता है, उसी स्थान पर फिर असत्य का भी जन्म हो जाता है, इसलिये गणी को आर्जव भाव से काम लेना चाहिए, नतु वक्रता से।

शास्त्रों में यह बात भली प्रकार से सुप्रसिद्ध है कि-श्रीमल्लिनाथ भगवान् ने पूर्व जन्म में छल पूर्वक तपोऽनुष्ठान किया था, उसका यह फल हुआ कि-तीर्थंकर गोत्र बन्ध जाने पर भी स्त्रीत्व भाव प्राप्त हुआ। अतएव माया कदापि न करनी चाहिए, किन्तु जिस व्यक्ति ने किसी प्रकार की अध्यक्षता स्वीकार की हो उसे तो इस पाप कर्म से अवश्यमेव बचना चाहिये। क्योंकि-जब वह उक्त कर्म से बच जायगा तब ही उसका किया हुआ न्याय प्रमाण हो जायगा।

१० स्थिरपरिपाटी—'कोष्ठक बुद्धिलब्धिसम्पन्न होवे' अर्थात् जिस प्रकार सुरक्षित कोष्ठक में धान्यादि पदार्थ भली प्रकार रह सकते हैं, विकृति भाव को प्राप्त नहीं होते, ठीक उसी प्रकार शास्त्रीय ज्ञान हृदय रूपी कोष्ठक में भली प्रकार स्थिर रहे। प्रमादादि द्वारा वह ज्ञान विस्मृत न हो जाना चाहिये। ताकि-जिस समय किसी पदार्थ के निर्णय करने की आवश्यकता हो उसी समय हृदय रूपी कोष्ठक से शास्त्रीय प्रमाण शीघ्र ही प्रकट

किये जासकें, उसी का नाम " स्थिरपरिपाटि " कहा जाता है तथा चरणकरणानुयोग के सिद्धान्त तो आचार्य के अस्खलित भाव से कण्ठस्थ होने चाहियें, कारण कि-गच्छ की सारणा और वारणादि क्रियाएं प्रायः इसी अनुयोग के सिद्धान्तों पर अवलम्बित होती हैं, तथा व्यवहारसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र, दशाश्रुतस्कंधसूत्र तथा नशीथसूत्र इत्यादि क्रिया-विशुद्धि के सूत्रों का अभ्यास आचार्य को अस्खलित भाव से होना चाहिए। जो श्रुतज्ञान स्थिर-परिपाटि से ग्रहण किया जाता है, वह इस जन्म और परलोक में भी कल्याण करने वाला होता है।

११ गृहीतवाक्य—आचार्य के मुख से इस प्रकार के वचन निकलने चाहिएं कि-जो सब भव्य प्राणियों को उपादेय (मनन करने योग्य) हों; क्योंकि-जो वचन पक्षपात रहित और भव्य जीवों का कल्याणकारी होता है, वह सादर लोक में अवश्य मानने योग्य हो जाता है। अतएव गणि का वाक्य राग द्वेष से रहित तथा सत्पथ का प्रदर्शक होना चाहिए।

१२ जितपरिषत्—आचार्य सभा के समक्ष न्याय पूर्वक और सत्य कथन करने वाले हों। क्योंकि-जब परिषद् में अक्षोभ चित्त होकर बैठेंगे तब प्रत्येक विषय पर शांत चित्त से ईहा अपोह कर सकेंगे, किन्तु जब चित्त भ्रम युक्त होगा, तब निर्णय तो दूर रहा स्वसिद्धान्त से भी स्खलित हो जाने की सम्भावना है, अतएव शांतचित्त, न्यायपक्षी, बहुश्रुत, समयज्ञ, पुरुष ही "जितपरिषद्" के गुण वाला हो सकता है।

१३ जितनिद्रः—निद्रा के जीतने वाला हो। कारणकि-आलस्य युक्त वा अप्रमाण से निद्रा लेने वाला पुरुष अपूर्व ज्ञान के ग्रहण से वंचित ही रहता है, इस के अतिरिक्त जो पूर्वपठित ज्ञान होता है, वह भी विस्मृत होने लग जाता है; क्योंकि-सदैव निद्रा में रहने वाला जब अपने शरीर की भली प्रकार रक्षा नहीं कर सकता तो ज्ञान की रक्षा क्या करेगा? जब वह ज्ञान की रक्षा से शून्य चित्त हो गया तो फिर वह गच्छ की रक्षा में किस प्रकार उद्यत हो सकता है? इसलिये "जितनिद्र" अवश्यमेव होना चाहिए।

१४ मध्यस्थ—संसार पक्ष में बहुत से आत्मा राग द्वेष के वशीभूत होकर न्याय के स्थान पर अन्याय कर बैठते हैं, इसी कारण वे सत्पथ का अवलम्बन नहीं कर सकते, अतएव आचार्य प्रत्येक पदार्थ को माध्यस्थ भाव से देखने वाला हो, क्योंकि-जब समभाव से हर एक पदार्थ पर विचार किया जायगा, तब उस का निष्कर्ष शीघ्र उपलब्ध हो जायगा, इस लिये माध्यस्थता का गुण अवश्यमेव धारण करना चाहिए; जिस के द्वारा राग द्वेष न्यून होकर आत्म विकाश प्रकट हो।

१५ देशज्ञ—जिस देश में आचार्य की विहारादि क्रियाएं हो रही हैं; उस देश के गुण कर्म और स्वभाव के जानने वाला हो तथा-देश भाषा वा देश का वेश तथा देश के यथोचित कार्यों का भली प्रकार ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि-जब देश का परिज्ञान ठीक होगा तब वह किसी भी कार्य में स्खलित नहीं हो सकेगा।

१६ कालज्ञ—जिस प्रकार देश के बोध से परिचित होना अत्यावश्यकीय है, उसी प्रकार काल ज्ञान से भी परिचित होना चाहिए। क्योंकि-स्वाध्याय ध्यान, गोचरी, प्रतिलेखना तथा प्रतिक्रमणादि क्रियाएं सब काल के काल ही की जा सकती हैं। जब काल ज्ञान ठीक होगा तब उक्त क्रियाओं के करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकेगी। जिस का परिणाम आत्म-विकाश के होने में सहायक होगा। अतएव आचार्य कालज्ञ अवश्य होना चाहिए तथा बहुत से क्षेत्रों में भिक्षा का समय पृथक् २ होता है, जब उस क्षेत्र का भिक्षा का समय ठीक विदित होगा, तब आत्म-समाधि में किसी प्रकार भी बाधा उपस्थित नहीं होगी। यदि समय का भली प्रकार से बोध न होगा, तब अपने आत्मा में असमाधि और क्षेत्र की अवहेलना करने का उस को अवकाश प्राप्त हो जायगा। ये सब कारण समयज्ञ न होने के ही लक्षण हैं।

१७ भावज्ञ—दूसरों के भावों का जानने वाला हो। क्योंकि-जब अंग-चेष्टाओं द्वारा पर पुरुष के भावों का बोध हो जाता है, तब उस आत्मा को सुबोधित करना सुगम हो जाता है: क्योंकि-जब तक भावज्ञ नहीं हुआ जाता तब तक उस व्यक्ति पर किया हुआ परिश्रम सफलता करने में संशयात्मक ही रहता है। जिस प्रकार लक्ष्य के स्थापन किये विना परिश्रम व्यर्थ हो जाता है, तथा उद्देश्य के ग्रहण किये बिना निर्देश नहीं किया जाता, ठीक तद्वत् भावों के जाने बिना किसी समय अर्थों के स्थान पर अनर्थों के उत्पादन करने की सम्भावना की जा सकती है। जिस प्रकार क्षुद्र परिषद् के सन्मुख समभाव युक्त उपदेश फलप्रद नहीं होता, किन्तु किसी समय लाभ के स्थान पर हानि का उत्पन्न करने वाला हो जाता है। अतएव सिद्ध हुआ कि-"भावज्ञ" ही होकर प्रत्येक कार्य करना चाहिए। जब भावों के परिचित हो जाने पर कार्य किया जायगा तब उसकी सफलता में विलम्ब नहीं लगेगा वा अल्प परिश्रम के द्वारा महत् लाभ का कारण उपस्थित हो जायगा।

१८ आसन्नलब्धप्रतिभ—वादी द्वारा प्रश्न किये जाने पर अतीव योग्यता के साथ युक्ति पूर्वक समाधान करने की जो शक्ति है, उसको "आसन्नलब्धप्रतिभ" कहते हैं। युक्ति-संगत समाधान द्वारा जो ज्ञान विशद रूप में प्रकट हो गया है

उस से अनेक भव्यात्माओं को अपना कल्याण करने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार महाराज प्रदेशी के किये हुए प्रश्नों का समाधान श्री केशी-कुमार श्रमण ने युक्ति पूर्वक किया है और उन प्रश्नोत्तरों को देख कर जीव-तत्त्व की परम आस्तिकता सिद्ध हो जाती है, एवं बद्ध और मुक्त का भी भली भांति ज्ञान हो जाता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति में निर्ग्रन्थी पुत्र आदि श्रमणों के प्रश्नोत्तर को पढ़ कर "आसन्नलब्धप्रतिभ" का शीघ्र पता लग जाता है। अतएव सिद्ध हुआ कि-आचार्य में यह गुण अवश्य होना चाहिए, जिस के द्वारा संघ-रक्षा और श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रतिपादन किये हुए सत्य सिद्धान्त का अतीव प्रचार हो, जिस से भव्य आत्माएं अपना कल्याण करने में समर्थ हो सकें।

१६ नानाविधदेशभाषाज्ञ—आचार्य महाराज को नाना प्रकार के देशों की भाषाओं का भी ज्ञाता होना चाहिए, ताकि वह प्रत्येक देश में जाकर वहीं की भाषा में भगवदुक्त धर्म का प्रचार भली भांति कर सकें।

२० ज्ञानाचारयुक्त—ज्ञान के आचरण से युक्त अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव, और केवल यथासंभव इन पांचों ज्ञानों से संयुक्त होना चाहिए, ताकि ज्ञान की आराधना हो सके और भव्य आत्माएं श्रुताध्ययन में लग सकें। उदात्त अनुदात्त और स्वरित, इत्यादि घोष स्वरों की शुद्धता पूर्वक ज्ञान-वृद्धि की चेष्टा करता रहे: क्योंकि-स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म क्षय हो जाता है।

२१ दर्शनाचारयुक्त—दर्शन के आचार से युक्त अर्थात् सम्यक्त्व में पूर्ण-तया दृढ़ता तथा देव, गुरु और धर्म में सर्वथा प्रीति तथा जीवादि का यथार्थ ज्ञान हो जाने से दर्शनाचार की शुद्धि कही जाती है। जीवादि का यथार्थ ज्ञान होने पर उस में फिर शङ्कादि न करनी चाहिए, तभी आत्मा दर्शनाचार से युक्त हो सकता है, क्योंकि-शङ्कादि के हो जाने से फिर दर्शनाचार की शुद्धि नहीं रह सकती। जब तक दृढ़ता में किसी भी प्रकार का सन्देह उत्पन्न नहीं होता तब तक दर्शनाचार की विशुद्धि की सब क्रियाएं की जा सकती हैं। यदि यहां यह शङ्का की जाय कि-जब दृढ़ता ही फल श्रेष्ठ है तब प्रत्येक प्राणी स्वमत की दृढ़ता में निपुण हो रहा है तो क्या उनको दर्शनाचारयुक्त कहा जा सकता है? इस शंका का समाधान इस प्रकार है कि-जब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो गया है तब उस यथार्थ ज्ञान द्वारा देखे हुए पदार्थों में यथार्थ ही निश्चय है, उसी को सम्यग् दर्शन कहा जाता है। किन्तु जब अयथार्थ ज्ञान होगा तो उस में अतद्रूप ही निश्चय होगा, उसको मिथ्यादर्शन कहा जाता है। अतएव सिद्धान्त यह निकला कि-यथार्थ निश्चय का नाम सम्यग्

दर्शन है; परंच जो सम्यग् दर्शन से अनभिज्ञता रखने वाले अनेक जीव यह कहा करते हैं कि-हम को तो अपने निश्चय का फल हो जाता है चाहे पदार्थ कैसे हों। उन भद्र प्रकृति वाले प्राणियों को जानना चाहिए कि-यह अन्ध-विश्वास आप का कार्य-साधक न होगा. अपितु अन्त में शोक प्रदर्शक बन जायगा। जैसे कि-किसी व्यक्ति ने पीतल में सुवर्ण बुद्धि धारण करली, जब परीक्षक के सन्मुख पीतल रक्खा जायगा, तब वह सुवर्ण पद का धारक कदापि न रहेगा। फल उसका यह होगा कि-वह पश्चात्ताप करने लगेगा तथा जिस प्रकार मृग नदी के रेत में जल बुद्धि धारण करके भाग २ कर प्राणों से विमुक्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार मिथ्या दर्शन के प्रभाव से प्राणी दुर्गति में जा गिरता है। यथार्थ निश्चय के लिये पदार्थों का ज्ञान सूक्ष्म बुद्धि से निरीक्षण करना चाहिए; क्योंकि-मिथ्यादर्शन के कारण ही जगत् में नाना प्रकार के मत उत्पन्न हो रहे हैं, जो मुमुक्षु आत्माओं को मुक्ति पथ में बाधक होते हैं।

इस प्रकार सम्यग् दर्शन के तत्त्व को जान कर प्रत्येक प्राणी को सम्यग् दर्शन से अपने आत्मा को विभूषित करना चाहिए। यह भी बात हृदय में अंकित कर लेनी चाहिए कि-सम्यग्दर्शन के बिना कभी सम्यग्ज्ञान और न्याय नहीं हो सकता।

२२ चारित्राचारयुक्त-चारित्र ही आचार है जिसका, उसी का नाम चारित्राचार है। आचार्य में चारित्राचार अर्थात् सामायिकादि तथा आत्म-कल्याण करने वाली शुभ क्रियाएं सर्वदा स्थिर रहनी चाहिएं।

२३ तपआचारयुक्त-जिस प्रकार वस्त्र के तन्तुओं में मल के परमाणु प्रविष्ट होजाते हैं, फिर उनको लोग क्षार वा उष्ण जल के प्रयोग से बाहिर निकालते हैं, ठीक उसी प्रकार आत्म-प्रदेशों पर जो कर्मों के परमाणु सम्मिलित हो रहे हैं उनको तप रूपी आग की उष्णता से आत्म विशुद्धि के अर्थ बाहिर निकाला जाता है। उसी का नाम तप आचार है, क्योंकि-यावत्काल सुवर्ण तप्त नहीं होता, तप्त ही नहीं बल्कि तप कर पानी रूप नहीं हो जाता तब तक वह मल से विमुक्त नहीं होता, ठीक उसी प्रकार जब आत्मा तप के द्वारा आत्म-शुद्धि करता है, तभी यह कर्म मल से विमुक्त हो कर मोक्षपद प्राप्त करता है। शास्त्रों ने मुख्यतया तप कर्म के १२ भेद वर्णन किये हैं, परंच सब तप उत्तमता रखते हुए भी उन में ध्यान तप सर्वोत्तम प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि-केवल ज्ञान और मोक्षपद ध्यानतप के ही द्वारा उपलब्ध हो सकता है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि-आचार्य तप आचार से अवश्य युक्त होना चाहिए, जिस से वह कर्म मल से शुद्धि पा सके।

२४ वीर्याचार- मन वचन और काय के वीर्य से युक्त होना चाहिए अर्थात् मन में सदैव काल शुभ ध्यान और शुभ संकल्प ही होने चाहिएं, कारण कि-जब मन में सत्य संकल्प और कुशल विचार उत्पन्न होते रहते हैं तब मन सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की ओर ही झुका रहता है, अन्य आत्माओं पर अशुभ विचार उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः जब मन में शुभ संकल्प उत्पन्न होगए तब प्रायः अशुभ वाक्य का भी प्रयोग नहीं होता, अपितु मित और मधुर वाक्य ही मुख से निकलता है। जब मन और वाणी की भली प्रकार विशुद्धि हो जाती है, तब कायिक अशुभ व्यापार प्रायः निरोध किया जा सकता है। अतः आचार्य के तीनों योग सदैव काल शुभ वर्त्तने चाहिएं। बल-वीर्य तीन प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। जैसे कि-पंडितबलवीर्य १ बाल-बलवीर्य २ और बालपंडित-बलवीर्य ३। जिन-आज्ञा के अनुसार जो यावन्मात्र क्रिया कलाप किया जाता है, उसी का नाम पंडितबलवीर्य है, और यावन्मात्र मिथ्यात्वबल से क्रिया कलाप किया जाता है वह सब बालवीर्य होता है कारण कि-बालवीर्य के द्वारा कर्म क्षय नहीं होते, बल्कि कर्मों का समुदाय विशेषतया एकत्र हो जाता है। इसी कारण उसे बालवीर्य कहा जाता है। जब आत्मा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त होता है किन्तु साथ ही वह देश-व्रति (श्रावक) धर्म का पालन करने वाला भी हो जावे तो उस की क्रिया को बालपंडितवीर्य कहते हैं; कारण कि-यावन्मात्र संवरमार्ग में क्रियाएं करता है, वह पंडितबलवीर्य, और यावन्मात्र वह संसारी दशा में क्रियाएं करता है, वह बालवीर्य; सो दोनों के एकत्र करने से बालपंडितवीर्य कहलाता है। अतएव आचार्य पंडित वीर्याचार से युक्त हो; जिस से संघ की रक्षा और कर्म प्रकृतियों का क्षय होता रहे।

जब पंडितबलवीर्य द्वारा शिक्षा पद्धति की जायगी, तब बहुत से भव्य आत्माएं संसार चक्र से अति शीघ्र पार होने के उद्योग में लग जाएंगे।

२६ आहरणनिपुण-आहरण दृष्टान्त का नाम है; सो न्याय शास्त्र के अनु-सार जब किसी विवादास्पद विषय की व्याख्या करने का समय उपलब्ध हो जावे तो अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्तों द्वारा उस विषय के स्फुट करने में परिश्रम करे। कारण कि-यावत्काल युक्ति युक्त दृष्टान्तों से उस विषय को स्फुट न किया जायगा, तावत्काल पर्यन्त वह विषय अस्खलित भाव में नहीं आ सकेगा, और ना ही श्रोतागण को उस से कुछ लाभ होगा। अतएव विषय के अनुसार दृष्टान्त होना चाहिए। जैसे कि- किसी ने कहा कि -" पापं दुःखाय भवति ब्रह्मदत्तवत् " अर्थात् पाप दुःख के लिये होता है, जिस प्रकार ब्रह्मदत्त को हुआ, इस

कथन से सर्व प्रकार के पाप कर्म दुःख के लिये प्रतिपादन किये गये हैं. दृष्टान्त में यह सिद्ध कर दिया है कि-जिस प्रकार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को पाप कर्म का फल भोगना पड़ा है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी पाप कर्म के अशुभ फल का अनुभव करता रहता है। अतएव पाप कर्म सर्वथा त्याज्य है तथा सूत्र में लिखा है कि- "हिंसपसुयाणि दुहाणि मत्ता" यावन्मात्र दुःख हैं वे हिंसा से प्रसूत हैं अर्थात् सर्व प्रकार के दुःखों की जननी हिंसा ही है, इस लिये हिंसा का सर्वथा परित्याग करना चाहिए। सो आचार्य आहरण के विधान को पूर्णतया जानने वाला हो।

२७ हेतुनिपुण—जिस के द्वारा साध्य का ज्ञान हो जावे उसे हेतु कहते हैं तथा जो साध्य के साथ अन्वय वा व्यतिरेक रूप से रह सके उसी का नाम हेतु है, सो आचार्य हेतुवाद में निपुण होना चाहिए। जब हेतु और हेत्वाभास का पूर्णतया बोध होता है, तब ज्ञान के प्रतिपादन में किसी प्रकार से भी शंका का स्थान नहीं रहता। क्योंकि-वितण्डावाद विवाद और धर्मवाद इन तीन प्रकार के वादों में से धर्मवाद करने की शास्त्रों में विधि देखी जाती है. सो धर्मवाद करते समय हेतु में निपुणता अवश्यमेव होनी चाहिए, जैसे किसी ने कहा कि-यह पर्वत अग्नि युक्त प्रतीत होता है. तब किसी दूसरे ने पूछा कि-किस हेतु से? तब उस ने उत्तर में कहा कि-धूम के देखने से, इस प्रकार हेतु से पूर्णतया पदार्थों का बोध हो जाता है। अतः आचार्यवर्य हेतु निपुण अवश्यमेव होने चाहिएं।

२८ उपनयनिपुण—जिस अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ किया जाता है उसी को उपनय कहते हैं, इस का अपर नाम दार्ष्टान्तिक भी है। जब किसी अर्थ की व्याख्या में प्रमाण पूर्वक उपनय की संयोजना की जाती है तब वह व्याख्या सामान्य व्यक्तियों के लिये फलप्रद हो जाती है, क्योंकि-उस के द्वारा अनेक भव्य आत्माएं सुमार्ग पर आरूढ़ हो जाती हैं। जिस प्रकार जंबूचरित्र में उपनय के द्वारा परस्पर दृष्टान्तों की रचना की गई है, क्योंकि-जंबूकुमार जी अपनी धर्मपत्नियों के बोध के लिये जो दृष्टान्त दे रहे हैं, वे सर्व उपनय के द्वारा ही कथन किए गए हैं। इस प्रकार के कथन से श्रोताओं को ज्ञान का लाभ भली प्रकार से हो सकता है।

२९ नयनिपुण—नय सात प्रकार से वर्णन किये गए हैं, जैसे कि-नैगमनय १ संग्रहनय २ व्यवहारनय ३ ऋजुसूत्र ४ शब्दनय ५ समभिरूढ़-नय ६ एवं भूतनय ७ इन के अर्थों में जो निपुणता रखने वाला है उसी का नाम नयनिपुण है। अनंत धर्मात्मक वस्तुओं में से किसी एक विशिष्ट धर्म को लेकर जो पदार्थों की व्याख्या करनी है, उसी को नयवाक्य कहा जाता है जैसे कि— नयकर्णिका में संक्षेप से नयों का स्वरूप निम्न प्रकार से लिखा है:-

वर्द्धमानं स्तुमः सर्वनयनद्यर्णवागमम् ।
संक्षेपतरतदुन्नीतनयभेदानुवादतः ॥

टीका—नीयन्ते प्राप्यन्ते सदंशाङ्गीकारेणेतरांशौदासीन्येन वस्तु-बोधमार्गा यैस्ते नया नैगमादयः सर्वे च ते नयाश्च सर्वनयास्त एव नद्यः सरितस्तासामर्णवस्समुद्रस्तत्तुल्य आगमो वाक्पथो यस्य स तथा तं वर्द्धमानं चरमजिनवरं वयं स्तुमः स्तुतिविषयीकुर्मः कुतः कस्मात् तदुन्नीतनयभेदानु-वादतः तत्तस्य श्रीवर्द्धमानस्य उत्प्राबल्येन नीता वचनरूपेण प्राप्ता ये नयानां भेदविशेषास्तेषामनुवादतः कथितस्यैव यत्कथनं तदनुवादस्तस्मादनुवादतः कुर्मः, इति शेषः। कथं ? संक्षेपतोऽल्पविस्तरत इति ॥ १ ॥

भावार्थ—अनंत धर्मात्मक वस्तुओं में से किसी एक विशिष्ट धर्म को लेकर अन्य धर्मों की ओर उदासीन भाव रखते हुए जो पदार्थों का वर्णन करना है, उसी का नाम नय है। वे नैगमादि सर्व नय ही नदियों के तुल्य हैं, उन नदी तुल्य नयों के समुद्र तुल्य आगम (वचनमार्ग) जिनका है उन चरम तीर्थ-कर महावीर भगवान् को स्तुति का विषय करते हैं—अर्थात् उनकी स्तुति करते हैं। किस प्रकार स्तुति करते हैं ? सो ही दिखलाते हैं—उस वर्द्धमान स्वामी के वचन रूप को प्राप्त हुए जो नय के भेद-उन के अनुवाद से-अर्थात् कथन किए को पुनः कथन करने से ही उन की स्तुति करते हैं।

नैगमः संग्रहश्चैव व्यवहारर्जुसूत्रकौ
शब्दः समभिरूढैवंभूतौ चेति नयाः स्मृताः ॥२॥

टीका—नैगमेति। न एको गमो विकल्पो यस्य स नैगमः पृथक् पृथक् सामान्यविशेषयोर्ग्रहणात् ॥ १ ॥ संगृह्णाति विशेषान् सामान्यतया सत्तायां क्रोडीकरोति यः स संग्रहः ॥ २ ॥ वि विशेषतयैव सामान्यमवहरति मन्यते यो-ऽसो व्यवहारः ॥३॥ ऋजु वर्त्तमानमेव सूत्रयति वस्तुतया विकल्पयति यः स ऋजुसूत्रको द्वन्द्वे व्यवहारर्जुसूत्रकौ ॥४॥ काललिंगवचनैर्वाचकेन शब्देन समं तुल्यं पर्यायभेदेऽपि एकमेव वाच्यं मन्यमानः शब्दो नयः ॥५॥ सं सम्यक् प्रकारेण यथापर्यायैरारूढमर्थं तथैव भिन्नवाच्यं मन्यमानः समभिरूढो नयः ॥६॥ भूत शब्दोऽत्र तुल्यवाची एवं यथा वाचके शब्दे यो व्युत्पत्तिरूपो विद्य-मानोऽर्थोऽस्ति तथाभूततत्तुल्याऽर्थक्रियाकारिणमेव वस्तु वस्तुवन्मन्यमान एवं भूतो नयो द्वन्द्वे द्विवचनमित्यमुना प्रकारेण हे विभो ! त्वया नया स्मृताः स्वागमे कथिता इति शेषः ॥२॥

भा०—अनेक प्रकार से सामान्य और विशेष ग्रहण करने से नैगम कहा जाता है ॥१॥ विशेष पदार्थों को जो सामान्यतया ग्रहण करलेना है, उसी का नाम संग्रहनय है ॥२॥ जो सामान्य को विशेषतया ग्रहण करना है

वही व्यवहारनय है ॥३॥ जो मुख्यतया वर्त्तमान काल के द्रव्य को ही स्वीकार करना है, उसी का नाम ऋजुसूत्र नय है॥४॥पर्याय भेद होने पर भी जो काललिंग वाचक शब्दों को एक रूप से मानना है, वही शब्दनय है ॥५॥ सम्यग् प्रकार से यथारूढ़ अर्थ को उसी प्रकार भिन्न वाच्य जो मानना है, उसी को समभिरूढ़ नय कहते हैं ॥६॥ भूत शब्द तुल्य अर्थ का वाची है इसलिये जो शब्द विद्यमान अर्थों का वाची है और अर्थक्रियाकारी में बरावारी रखने वाला है उसी को एवंभूतनय कहते हैं ॥७॥ अतः हे विभो ! तूने स्व आगम में इस प्रकार सात नय प्रतिपादन किये हैं अर्थात् तेरा आगम सात नयों का समूह रूप है।

अर्थाः सर्वेऽपि सामान्यविशेषावयवात्मकाः
सामान्यं तत्र जात्यादि विशेषाश्च विभेदकाः ॥३॥

टीका—अर्था इति सर्वेऽपि निर्विशेषा अर्था जीवादयः पदार्थाः सामान्यं च विशेषश्च तावेव सामान्यविशेषौ उभौ अवयवौ आत्मा स्वरूपं येषां त सामान्यविशेषोभयात्मकाः संति नान्यथा इति त्वया प्रतिपादितम् । तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये यद्वस्तुनो जात्यादिकं रूपं तत्सामान्यं जातिर्जीवत्वाजीवत्वरूपा सा आदिर्यस्य तद् जात्यादि आदि शब्दाद् द्रव्यत्वप्रमेयत्वादयो ग्राह्याः । वि विशेषेण भेदकाः पृथक्त्वस्य ज्ञापका ये चेतनत्वाचेतनत्वादयोऽसाधारणरूपा विशेषधर्मास्ते त्वया विभेदका विशेषाः प्रोक्ता इत्यर्थः ॥३॥

भावार्थ—हे भगवन् ! आपने जीव आदि सर्व पदार्थ सामान्य और विशेषात्मक रूप से प्रतिपादन किये हैं, परंच उन दोनों में जो पदार्थों का जात्यादि धर्म है उस को सामान्य धर्म कहा जाता है और जो फिर उस जाति में भेदादि किये जाते हैं, उसी का नाम विशेष धर्म है।

ऐक्यबुद्धिर्घटशते भवेत्सामान्यधर्मतः
विशेषाच्च निजं निजं लक्षयंति घटं जनाः ॥४॥

टीका-हे विभो ! त्वदुक्तसामान्यधर्मत एकाकारप्रतीतिः एकशब्दवाच्यता सामान्यं जीवत्वघटत्वचेतनत्वादिकं सामान्यमेव धर्मः सामान्यधर्मस्तस्माद् घटशतेऽपि घटानां शतं घटशतं तस्मिन्नपि एकाकारा या बुद्धिर्मतिः सा जाता यस्य स ऐक्यबुद्धिरीदृशो जनो भवेत् त्वदुक्तसामान्यधर्मतो घटशतेऽपि घटत्वं लक्षयेदिति भावः। पुनर्विशेषात् त्वदुक्तविशेषधर्मतो जनाः सर्वे नृसुरादयः प्राणिनो निजं निजं स्वकीयं स्वकीयं रक्तपीतवर्णादिविशेषणविशिष्टं घटं लक्षयन्तीत्यर्थः। समुदायमध्येऽपि भेदकलक्षणैर्विभिद्य गृह्णन्ति न मुह्यन्तीति संमोहहारी महांस्तवोपकारः ॥४॥

भा—हे भगवन् ! सामान्य धर्म विशेष रूप धर्म से भिन्न होता है, जिस प्रकार १०० सौ घट को एकाकार प्रकृति होने से सामान्यबुद्धि रूप से एका-

कार से देखा जाता है, ठीक उसी प्रकार विशेष रूप धर्म को छोड़ कर जीवादि तत्त्वों को सामान्यतया एक रूप से देखा जाता है, परंच उक्त शत १०० घटों को जब जन पृथक् २ भाव से ग्रहण करते हैं, तब वे अपने २ स्वीकार किये हुए घट को पृथक् २ रूप से देखते हैं। जैसे कि-यह हमारा घट पीतवर्ण वाला है तथा यह इस का घट कृष्ण रंग वाला है अर्थात् समुदाय में भेदक लक्षण द्वारा वे मूढ़ता को प्राप्त नहीं होते, यही आप का परम उपकार है, जो पदार्थों का यथार्थ स्वरूप वर्णन किया है।

नैगमो मन्यते वस्तु तदेतदुभयात्मकम्
निर्विशेषं न सामान्यं विशेषोऽपि न तद्विना ॥५॥

तदेतत्त्वदुक्तपूर्वो नैगमो नैगमनामा नय उभयात्मकं वस्तु मन्यते उभौ द्वौ सामान्यविशेषौ अवयवौ आत्मा स्वरूपं यस्य वस्तुनस्तदुभयात्मकं तत्तादृग्‌रूपं वस्तु पदार्थं मन्यते स्वीकरोति। कुतस्त्वदाज्ञायां निर्विशेषं सामान्यं न निर्गतो दूरीभूतो विशेषो विशेषणं पर्यायो वा यस्य तन्निर्विशेषमीदृग्‌रूपं सामान्यं न विद्यते तद्विना सामान्यं विशेषं वा द्रव्यं विना रहितो विशेषो न विद्यतेऽत उभयात्मकं गृह्णाति। यदि सम्यग्‌दृष्टिरयमितिचेन्न-अयं हि द्रव्यं पर्यायं च द्वयमपि सामान्यविशेषयुक्तं मन्यते, ततो नायं सम्यग्‌दृष्टिरित्यर्थः ॥५॥

भा०—नैगम नय पदार्थ के दोनों धर्म मानता है अर्थात् पदार्थ सामान्यधर्म और विशेषधर्म दोनों धर्मों के धारण करने वाला होता है, परन्तु सामान्य धर्म से विशेष धर्म पृथक् नहीं हो सकता और नाहीं विशेषधर्म सामान्यधर्म से पृथक् हो सकता है। अतएव नैगमनय के मत से सर्व पदार्थ उक्त दोनों धर्मों के धारण करने वाले देखे जाते हैं, किन्तु द्रव्य और पर्याय रूप प्रक्रियाओं को सम्यग्‌दृष्टि सामान्य और विशेष रूप धर्मों से युक्त मानता है। तात्पर्य यह है कि-द्रव्य पर्याय युक्त तो होता ही है; अतएव सर्व द्रव्य सामान्य और विशेष रूप धर्मों से युक्त प्रतिपादन किया गया है।

अब संग्रह नय का विषय कहते हैं।

संग्रहो मन्यते वस्तु सामान्यात्मकमेव हि
सामान्यव्यतिरिक्तोऽस्ति न विशेषः खपुष्पवत् ॥६॥

संग्रहः-संग्रह नामा नयस्तु सामान्यं द्रव्यसत्तामात्रं जातिमात्रं वा यत्तत् सामान्यं तदेवात्मा स्वरूपं यस्य तत्तथा तद्वस्तु एव वस्तुतया मन्यते कस्माद्धि यस्मात् सामान्यव्यतिरिक्तः सामान्यात् पृथक्‌भूतो विशेषो नास्ति न विद्यते तद्विना विशेषः खपुष्पवद् आकाशकुसुमतुल्योऽस्तीति न चोपदेशो वर्त्तते तस्मात् ॥६॥

भा०—संग्रह नय सामान्य धर्म को ही स्वीकार करता है, क्योंकि-संग्रह नय का मन्तव्य है कि-सामान्य धर्म युक्त ही द्रव्य का सत् लक्षण है। कारण कि-सामन्य धर्म से व्यतिरिक्त कोई विशेष रूप धर्म पृथक् देखा नहीं जाता। यदि कोई यह कह देवे कि सामान्य धर्म से व्यतिरिक्त कोई विशेष रूप धर्म और भी है, तो यह कथन उस का आकाश के पुष्प के सदृश है क्योंकि-जिस प्रकार आकाश के पुष्प वास्तव में असत्य होते हैं, ठीक उसी प्रकार सामान्य धर्म से व्यतिरिक्त विशेष धर्म को भी स्वीकार करना असत्य रूप ही है।

अब संग्रहनय उक्त कथन को दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करता है—

विना वनस्पतिं कोऽपि निम्बाम्रादिर्न दृश्यते

हस्ताद्यन्तर्भाविन्यो हि नाङ्गुल्याद्यास्ततः पृथक् ॥ ७ ॥

अस्यैवाभिप्रायं दृष्टान्तेन द्रढयन्नाह-वनस्पतिं सामान्याभिधाना या वनस्पतेर्जातिस्तां विना तरुत्वत्यागेन निम्बाम्रादिर्निम्बश्च आम्रश्च निम्बाम्रौ तावादी यत्र दृग्व्यापारे स निम्बाम्रादिः कोऽपि न दृश्यते दृङ्मार्गे नावतरति यत्र यत्र वृक्षे दृग् व्याप्रियते तत्र तत्र वनस्पतित्वमेव दृश्यतेऽतः सामान्यमेव वस्तु एनमेव द्रढयति हि-यस्माद्धस्तादिष्वङ्गेष्वन्तर्भाविन्योऽगुंल्य आदिशब्देन हस्ततललेखानखदन्ताक्षिपत्रादीनि यथा ततो हस्ताद्यङ्गतः पृथङ् न भवंति तथा सामान्यतः पृथग् विशेषो नास्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

भावार्थ-सामान्य धर्म से पृथक् कोई भी विशेष धर्म नहीं है, जिस प्रकार वनस्पति से पृथक् कोई भी फल वा वृक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। जब आम्र वा निम्बादि वृक्ष दृष्टिगोचर होते हैं, तब ही वनस्पति का बोध हो जाता है. परंच वनस्पति से पृथक् कोई भी वृक्ष नहीं देखाजाता। जिस प्रकार हस्त में अंगुलियां और नखादि अन्तर्भूत हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार सर्व वृक्षादि वनस्पति के अन्तर्भूत हैं। क्योंकि-वनस्पति एक सामान्य धर्म है, और आम्रादि वृक्ष उसके विशेष धर्म हैं; परन्तु वे वनस्पति से पृथक् नहीं देखे जाते, अतएव सामान्य धर्म ही मानना युक्ति संगत सिद्ध होता है।

अब संग्रहनय के प्रति व्यवहार नय कहता है—

विशेषात्मकमेवार्थं व्यवहारश्च मन्यते

विशेषभिन्नं सामान्यमसत् खराविषाणवत् ॥८॥

टीका—व्यवहारश्च व्यवहारनामा नयः विशेषात्मकं पर्यायस्वरूपमेवार्थं पदार्थं मन्यते कक्षीकुरुते कुतो जिनोपदेशे विशेषभिन्नं विशेषात्

पृथग्भूतं सामान्यमसद् नास्ति खरविषाणवत् रासभशृङ्गवत् तर्हि विशेषमात्र एव पदार्थः ॥ ८ ॥

भा० व्यवहारनय विशेषात्मकरूप पर्यायस्वरूप वस्तु को स्वीकार करता है. उसका यह भी मन्तव्य है कि-विशेष से भिन्न सामान्यपदार्थ खर के विषाणों (सींग) के समान असद् होता है ।

अब वह अपने सिद्धान्त को दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करता है-

वनस्पतिं गृहाणेति प्रोक्तं गृह्णाति कोऽपि किम्
विना विशेषान्नाम्रादींस्तन्निरर्थकमेव तत् ॥९॥

एनमेवोदाहरति—यदा केनचिद्वक्त्रा कश्चिदादिष्टः भो ! त्वं वनस्पतिं गृहाणेति प्रोक्ते कथिते सति किं कोऽपि निम्बाम्रादीन् विशेषान् विना गृह्णाति न कोऽपि गृह्णाति तत्तस्मात् कारणाद् ग्रहणाभावात्तत्सामान्यं निरर्थकं निष्फलमेवेति ॥ ९ ॥

भा०—जैसे किसी ने कहा कि-हे आर्य ! पुत्र ! वनस्पति लाओ, तो क्या आम्र वा निम्बादि के नाम लिये विना वह किसी फल विशेष को ला सकता है ? कदापि नहीं, तब सिद्ध हुआ कि-विशेष के विना ग्रहण किये सामान्यभाव निर्थक ही होता है । अब उक्त ही विषय में फिर कहते हैं-

व्रणपिण्डीपादलेपादिके लोकप्रयोजने
उपयोगो विशेषैः स्यात् सामान्ये नहि कर्हिचित् ॥ १० ॥

टीका-तथा च व्रणपिण्डीव्रणं मनुष्यादीनां शरीरे प्रहारादिजातक्षतं तस्मै पिण्डी पट्टिकादिकरणं तथा पादलेपः पादलेपकरणं तयोर्द्वन्द्व आदिपदाच्चक्षुरञ्जनादिके लोकानां जनानां प्रयोजनं कार्यं तस्मिन् विशेषैःपर्यायैरुपयोगः साधनं स्याद्भवति सामान्ये सत्तामात्रे सति कर्हिचित् कदाचिदपि न कार्यसिद्धिर्भवतीत्यतो विशेष एव वस्तु ॥ १० ॥

भा०—मनुष्यादि के शरीर में प्रहारादि के लग जाने से पट्टिकादि करना तथा पादलेप करना आदि शब्द से चक्षुरंजनादि करना इत्यादि प्रयोजनों के उपस्थित हो जाने पर विशेष भाव से ही कार्य सिद्ध हो सकेगा । अर्थात् जिस रोग के लिये जिस औषध का प्रयोग किया जाता है उस औषध का नाम लेने से ही वह औषधि प्राप्त हो सकेगी । केवल औषधि ही दे दो इतने ही कथन मात्र से काम नहीं चलेगा । अतः सिद्ध हुआ कि विशेष ही कार्य साधक हो सकता है । नतु सामान्य पदार्थ ।

अब व्यवहार नय के प्रति ऋजुसूत्र नय कहता है-

ऋजुसूत्रनयो वस्तु नातीतं नाप्यनागतम्
मन्यते केवलं किन्तु वर्त्तमानं तथा निजम् ॥११॥

टीका-ऋजुसूत्रनयस्तु ऋजु सरलं वर्त्तमानं सूत्रयति संकल्पयति इति ऋजुसूत्रः स चासौ नयश्च नातीतमतीतः पूर्वानुभूतपर्यायस्तं वस्तुतया न मन्यते तस्य विनष्टत्वाद्, नापि अनागतं भविष्यभावं तस्याद्याप्यनुत्पन्नत्वात्, किन्तु केवलमेकं वर्त्तमानपर्यायं तथा निजं स्वकीयं च भावं वस्तुतया मन्यते कार्यकारित्वात् ॥११॥

भा०--ऋजुसूत्र नय पदार्थ के वर्त्तमान काल के पर्याय को ही स्वीकार करता है। क्योंकि-उस का मन्तव्य है कि-जो पदार्थ-का भूत पर्याय हो चुका है, वह तो नष्ट हो चुका है, और जो उस पदार्थ का भविष्य में पर्याय उत्पन्न होने वाला है, वह अभी तक अनुत्पन्न दशा में है। अतएव जो वर्त्तमान काल में उस पदार्थ का पर्याय विद्यमान है, वही कार्य-साधक माना जासकता है। इसलिये सिद्ध हुआ कि-वर्त्तमान काल के पर्याय को ही ग्रहण करना चाहिये।

अब उक्त ही विषय में फिर कहते हैं-

अतीतेनानागतेन परकीयेन वस्तुना
न कार्यसिद्धिरित्येतदसद्गगनपद्मवत् ॥१२॥

टीका--कस्मादेवमित्यत आह। अतीतो विगतो भावस्तेन अनागतो भविष्यमाणो यो भावस्तेनापि परकीयो यथा सामान्यनरस्य पूर्वतनो वा भविष्यत् पुत्रजीवोऽधुना राजपुत्रत्वं प्राप्तः परं सः परकीयस्तेन वस्तुना जिनैः कार्यसिद्धिर्नोक्ता इति कृत्वा एतदतीतानागतपरकीयपर्यायरूपं वस्तु गगनपद्मवदाकाशारविन्दवदसदविद्यमानं मन्यते ॥१२॥

भा.--जो अतीत काल के भाव हैं, वे विनष्ट हो चुके हैं, और जो भविष्य काल के हैं, वे वर्त्तमान काल में अनुत्पन्न हैं। अतएव जो वर्त्तमान काल का पर्याय विद्यमान है, वही कार्य साधक हो सकता है, क्योंकि-जैसे किसी का पुत्र पूर्वावस्था में राज्यपद प्राप्त कर चुका हो परन्तु वर्त्तमान काल में वह राज्यपद से च्युत हो चुका है. अतएव उसकी पूर्वराज्यावस्था वर्त्तमान काल में कार्य-साधक नहीं हो सकती तथा जो भविष्यत् काल में किसी व्यक्ति को राज्यावस्था की प्राप्ति की संभावना हो तो भी वह राज्यावस्था वर्त्तमान काल में कार्य साधक नहीं है अतएव वर्त्तमान काल के विना भूत और भविष्य अवस्था आकाश के पुष्प सदृश ही मानी जासकती है। फिर उक्त ही विषय में कहते हैं-

नामादिषु चतुर्ष्वेषु भावमेव च मन्यते ।
न नामस्थापनाद्रव्याण्येवमग्रेतना अपि ॥ १३ ॥

टीका—अयमृजुसूत्रनय एष्वनन्तरं वक्ष्यमाणेषु चतुर्षु निक्षेपेषु एकं भावनिक्षेपमेव वास्तवं मन्यते, नामस्थापनाद्रव्याणि न मन्यते, तेषां परकीयत्वादनुत्पन्नविनष्टत्वाच्च. तत्र नाम वक्तुरुल्लापरूपं वा गोपालदारकादिषु गतामिन्द्राभिधानं परकीयं स्थापना चित्रपटादिरूपा परकीया द्रव्यं पुनर्भाविभावस्य कारणं तच्चानुत्पन्नं भूतभावस्य कारणं तु विनष्टम् एवमग्रेतनाः शब्दादयस्त्रयो नया भावनिक्षेपमेव स्वीकुर्वन्तीत्यर्थः॥ १३ ॥

भा—यह ऋजुसूत्रनय नाम स्थापना द्रव्य और भाव इन चारों निक्षेपों में से केवल भाव निक्षेप को ही स्वीकार करता है, क्योंकि--उसका यह मन्तव्य है कि—परकीय वस्तु अनुत्पन्न और विनष्ट रूप है, अतः वह कार्य साधक नहीं हो सकती। गोपालदारकादि में इन्द्रादि का नाम स्थापन किया हुआ कार्य साधक नहीं होता है। इसी प्रकार चित्र पटादि रूप भी परकीय पर्यायों के सिद्ध करने में असमर्थ देखे जाते हैं। जैसे-किसी ने किसी का चित्र किसी वस्तु पर अंकित करदिया, तब वह चित्र उस व्यक्ति की क्रियाओं के करने में असमर्थ है। केवल वह देखने रूप ही है। अतएव इस नय का मन्तव्य यही निकलता है। भाव निक्षेप ही जो वर्त्तमान काल में विद्यमान है वही अभीष्ट कार्य की सिद्धि करने में समर्थता रखता है। नतु प्रथम तीन निक्षेप कार्य साधक हो सकते हैं। इसी प्रकार अगले तीन नय भावनिक्षेप को ही स्वीकार करते हैं। तथा च

अर्थं शब्द नयोऽनेकैः पर्यायैरेकमेव च
मन्यते कुम्भकलशघटाद्येकार्थवाचकाः ॥ १४ ॥

टीका—शब्दनामा नयः शब्दः पुंस्त्री-नपुंसकाद्याभिधायकोल्लाप स्तत्प्रधानो नयः शब्दनयः स अनेकैः शब्दपर्यायैरुक्तोऽपि अर्थं वाच्यं पदार्थमेकमेव मन्यते, कुतः? हि यस्मात् कुम्भः कलशो घटः एते शब्दाः सर्वदर्शिभिर्जिनैरेकस्य घटाख्यपदार्थस्य वाचकाः कथितास्ततः सिद्धमनेकैः पर्यायैरुक्तोऽप्यभिधेय एक एवेत्यर्थः-- ॥ १४ ॥

भा०—शब्दनय पुल्लिंग स्त्री नपुंसकलिंग आदि अनेक प्रकार के शब्दों के अर्थों को जानकर जो अर्थों को प्रधान रखता है, उसी का नाम अर्थ है। जैसे कि-कुंभ कलश घट यह सब भिन्न शब्द होने पर भी घट शब्द के अर्थ के ही बोधक हैं: अतएव अनेक पर्यायों के शब्द अनेक होने पर भी अर्थनय अर्थ (अभिधेय) को ही मुख्य रख कर एक ही मानता है।

ब्रूते समभिरूढोऽर्थं भिन्नपर्यायभेदतः
भिन्नार्थाः कुंभकलशघटाघटपटादिवत् ॥ १५ ॥

टी०-समभिरूढः समतिशयेन व्याकरणव्युत्पत्त्याद्यारूढमेवार्थमभि-मन्वानः समभिरूढो नयः पर्यायभेदतः पर्यायशब्देन भेदः पर्यायभेदस्तस्माद् भिन्नं पृथक् भूतमेवार्थवाच्यं ब्रूते मन्यते कुतो ? वर्द्धमानस्वामिना कुंभकलश-घटशब्दाभिन्नार्थाः पृथगर्थवाचकाः कथिता यथा-कुम्भनात् कुम्भः कलनात् कलशः घटनात् घटस्ततः सिद्धं शब्दभेदे वस्तुभेदो घटपटादिवत् ॥ १५ ॥

भा०—समभिरूढनय व्याकरण शास्त्र की व्युत्पत्ति के साथ भिन्न पर्याय के शब्दों के भिन्न २ अर्थ के होने से पदार्थों को मानता है, जैसे कि-कुंभन होने स कुंभ कलन होने से भिन्न कलश चेष्टा करने से घट, सो शब्दभेद होने स वस्तु भेद इस नय के मत से स्वयमेव ही हो जाता है। सारांश इसका इतनाही है कि-यावन्मात्र पर्यायवाची शब्दों के नाम हैं तावन्मात्र ही वस्तु भेद और अर्थ भेद इस नय के मत से माने जाते हैं क्योंकि-इस नय का अर्थ केवल अभिधेय ही नहीं है, किन्तु पर्याय वाची शब्द, फिर उन शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थों को स्वीकार करना इस नय का मुख्योद्देश्य है।

यदि पर्यायभेदेऽपि न भेदो वस्तुनो भवेत्
भिन्नपर्याययोर्न स्यात् सकुम्भ-पटयोरपि ॥१६॥

टी०—यदि शब्दपर्याय भेदेऽपि वस्तुनः पदार्थस्य भेदो न भवेन्न-जातस्तर्हि भिन्नः पर्यायः शब्दो ययोस्तौ भिन्नपर्यायौ तयोः कुंभ-पटयोरपि स भेदो नस्यादित्यर्थः ॥१६॥

अर्थ—यदि शब्द और पर्याय के भेद होने पर भी वस्तु का भेद न माना जाय तो फिर पर्यायभेद और शब्दभेद होने पर भी वस्तुओं का भेद न होना चाहिए। जैसे कि-घट और पट यह दोनों पदार्थ भिन्न २ पर्यायों और भिन्न २ शब्दों वाले हैं, यदि अर्थ भेद न माना जायगा तो उक्त दोनों का भेद भी सिद्ध न हो सकेगा। अतएव इस नय के मत में शब्द भेद के द्वारा वस्तु के अर्थभेद का होना आवश्यकीय मानागया है।

अब एवंभूत नय के विषय में कहते हैं।

एकपर्यायाभिधेयमपि वस्तु च मन्यते
कार्यं स्वकीयं कुर्वाणमेवंभूतनयो ध्रुवम् ॥१७॥

टी०—एवम्भूतनामा नयः एकपर्यायाभिधेयमपि एक एव यः पर्यायः शब्दः स एकपर्याय एक शब्दस्तेनाभिधेयमपि वस्तु वाच्यम्। च पुनर्विद्यमानं भाव रूपमपि ध्रुवं निश्चयेन स्वकीयमात्मीय कार्यं निजार्थ क्रियां कुर्वाणं पश्यति तदैव तद्वस्तु वस्तुवन्मन्यते नान्यदा "अर्थक्रियाकारिसत्" इति जिनोपदेशो वर्त्तते अतो यत् स्वार्थक्रियाकारि तदेव वस्तु इत्यर्थः ॥१७॥

भा०—एवंभूतनामा नय के मत में एक पर्याय के अभिधेय होने पर भी

एक ही पर्याय का वाची जो शब्द है: वही एक शब्द उस अभिधेय का वाची है, क्योंकि-विद्यमान भाव ही (ध्रुव) निश्चय से आत्मीय कार्य के करने वाला देखा जाता है। अतएव तद्रूप वही वस्तु है, अन्य नहीं तथा शास्त्र में स्वार्थक्रियाकारी वस्तु मानागया है। इस कारिका का सारांश केवल इतना ही है कि-एवंभूत नय केवल स्वार्थक्रियाकारी वस्तु को ही वस्तु मानता है, अन्य को नहीं अर्थात् जो अपने गुण में पूर्ण है वही वस्तु है, यही इस नय का तात्पर्य है।

यदि कार्यमकुर्वाणोऽपीष्यते तत्तया स चेत्।
तदा पटेऽपि न घटव्यपदेशः किमिष्यते ॥१८॥

वृत्तिः—यदि स पदार्थस्तदा तस्मिन् काले कार्यमकुर्वाणोऽपि स्वार्थक्रियामकुर्वन्नपि चेत् तत्तया वस्तुतया इष्यते अभ्युपगम्यते भवता तर्हिपटेऽपि घटव्यपदेशो घटशब्दवाच्यता कथं नेष्यते कस्मान्नेच्छाविषयीक्रियते। किमत्रापराधः यथा स्वार्थक्रियामकुर्वाणो घटो घटत्वव्यपदेशभाग् भवति तथा घटक्रियाऽभाववान् पटोऽपि घटो भवतु स्वकार्यकारणाभावस्योभयत्रापि समानत्वादित्यर्थः ॥ १८ ॥

अर्थ-यदि वह पदार्थ उस काल में कार्य न करता हुआ भी अर्थात् स्वार्थ क्रिया न करने पर भी उस वस्तु को वस्तुतया मानता है अर्थात् वस्तु के भाव को स्वीकृत किया जाता है तो फिर पट में भी घट शब्द की वाच्यता क्यों नहीं स्वीकार की जाती? तथा क्यों उक्त पदार्थ को इच्छा विषयक नहीं किया जाता इस प्रकार मानने में उक्त पदार्थ ने क्या अपराध किया है? क्योंकि-जिस प्रकार स्वार्थ क्रिया न करने पर भी घट घटत्व के व्यपदेश का भागी बनता है उसी प्रकार घट क्रिया का अभाव वाला पट भी घट होजावे कारण कि स्वकार्य के अभाव होने से दोनों को ही समान होने से पक्षसमसिद्ध हो जाता है इस कारिका का सारांश इतना ही है कि-जब घट स्वक्रिया के न करने पर भी घटत्व का भागी बन जाता है तो फिर घटक्रिया के अभाव वाला पट भी स्वक्रिया के अभाव के सम होने से घट हो जाना चाहिए। कारण कि—

यथोत्तरविशुद्धाः स्युर्नयाः सप्ताप्यमी तथा।
एकैकः स्याच्छतं भेदस्ततः सप्तशताप्यमी ॥ १९॥

वृत्तिः—अमी साक्षादुक्तपूर्वाः सप्तापि सप्तसंख्याका अपि समुच्चयार्थः। नया यथोत्तरविशुद्धा यथा २ उत्तरा उपर्युपरि वर्त्तन्ते तथा २ विशुद्धा येऽन्ते यथोत्तरविशुद्धाः स्युर्भवन्ति। तथा एकैकः एकश्च एकश्च एकैको नयः शतं शतप्रमाणं भेदः प्रकारतः स्याद्भवति। ततो अमी नयाः सप्त इति संख्या-

का अपि भवन्तीत्यर्थः ।

अर्थ-ऊपर जो सप्त संख्यक नय कहे गये हैं। वे उत्तर २ संख्या में विशुद्ध माने जाते हैं। अर्थात् पूर्व नय से उत्तर नय अत्यन्त विशुद्ध हैं। इतना ही नहीं किन्तु एक एक नय के उत्तर भेद सौ २ होते हैं इसलिये सात मूल नयों के उत्तर भेद सात सौ होते हैं।

अथैवंभूतसमभिरूढयोः शब्द एव चेत् ।
अन्तर्भावस्तदा पञ्च नयाः पंचशतीभिदः ॥ २० ॥

वृत्तिः—अथ चेद् यदि एवम्भूत-समभिरूढयोः एवंभूतश्च समभिरूढश्च तौ तथा तयोर्द्वयोः' शब्दे-शब्दनयेऽन्तर्भावो भवेत्, तदा एवेत्यवधारणात् पंच नया भवंति। तदा पञ्चशतीभिदः-पञ्चानां शतानां समाहारः पञ्चशती। भिद्यन्ते आभिस्ताभिदः, पंचशती च ताः भिदश्चेति तथा नयानां भवन्तीत्यर्थः।

अर्थ—यदि एवंभूत और समभिरूढ़ यह दोनों नय, तथा यह दोनों शब्दनय शब्दनय में अन्तर्भाव हो जावें तब फिर पांच नय होते हैं और सात सौ भेदों के विना केवल पांच नयों के ५०० भेद हो जाते हैं तात्पर्य इस कारिका का इतना ही है कि जब शब्दनय के ही अन्तर्भूत समभिरूढ़ और एवंभूत नय किये जायें तब मूल पांच नय ही रह जाते हैं। अतः फिर उनके उत्तर भेद भी ५०० सौ रह जाते हैं। एवं शब्द सूत्र में अवधारण अर्थ में आया हुआ है।

द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकयोरन्तर्भवन्त्यमी ।
आदावादिचतुष्टयमन्त्ये चान्त्याऽस्त्रयस्ततः ॥ २१ ॥

वृत्तिः—अमी सप्तापि नया द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकयोरन्तर्भवन्ति. द्रव्यमेवास्तितया प्ररूपयन् द्रव्यास्तिकः पर्यायभावमेवास्तितया अभिदधत् पर्यायास्तिकः द्रव्यास्तिकश्च पर्यायास्तिकश्च तौ तथा तयोर्द्वयो मध्ये अन्तर्भवन्त्यवतरन्ति। आदौ द्रव्यास्तिके आदिचतुष्टयं नैगमादिचत्वारो भवन्ति। अन्तेभवोन्त्यस्तस्मिन्नन्त्ये पर्यायास्तिके अन्त्यास्त्रयः शब्दाद्याः भवन्तीत्यर्थः।

अर्थ—यह सातों नय द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नयों के अन्तभूत भी हो जाते हैं। क्योंकि-द्रव्य के प्रतिपादन करने से द्रव्यास्तिक नय कहा जाता है। और पर्याय के वर्णन करने से पर्यायास्तिक नय कहा जाता है सो इस प्रकार सातों नय उन दोनों नयों के अन्तर्भूत माने जा सकते हैं अपितु आदि के चारों नय द्रव्यार्थिक नय के नाम से कहे जाते हैं अन्त के तीनों नय पर्यायार्थिक नय के नाम से कथन किये गए हैं क्योंकि-नैगमादि चारों नय द्रव्य को मुख्य रखते हैं। शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय यह तीनों नय पर्याय को मुख्य रखते हैं। इसी वास्ते इन को पर्यायार्थिक नय कहा गया है।

अब सूत्रकार उपसंहार करते हुए श्री भगवान् की स्तुति इस प्रकार से करते हैं ।

सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते ।
संभूय साधु समयं भगवन् भजन्ते ॥
भूपा इव प्रतिभटा भुवि सार्वभौम-
पादाम्बुजं प्रधनयुक्तिपराजिताः द्राक् ॥२२॥

वृत्तिः—हे भगवन् ! हे श्री वर्द्धमान स्वामिन् ! मिथः परस्परंविरोधभृतोऽपि विरोधो विरुद्धाऽभिप्रायस्तं बिभ्रति धारयन्ति ये ते तथा विधा सर्वे समस्ता अपि नयाः सम्भूय एकीभूय साधु समीचीनं सुन्दरं ते तव समयं सिद्धान्तं भजन्ते सेवन्ते, कं के इव भुवि प्रधनयुक्तिपराजिता भुवि पृथ्व्यां प्रधनाय युद्धाय युक्तिः प्रबलपुण्यबलेनापूर्वसैन्यरचना तया पराजिताः पराजयं प्राप्ताः प्रतिभटा विपक्षजेतारो भूपा द्राक्शीघ्रं सर्वा परिपूर्णषट्खण्ड-भूमी भोग्या यस्य स सार्वभौमश्चक्रवर्ती तस्य पादाम्बुजं चरणकमलमिवे-त्यर्थः ॥२२॥

अर्थ—हे श्रीभगवान् वर्द्धमानस्वामिन् ! जिस प्रकार परस्पर विरोध रखने वाले राजा लोग सम्राट् चक्रवर्त्ती के चरण कमलों को सेवन करते हैं उसी प्रकार यह सातों नय परस्पर विरोध धारण करते हुए भी जब आप के पवित्र शासन को एकीभूत होकर सेवन करते हैं तब यह सातों नय शान्त भाव धारण करलेते हैं क्योंकि—आपकी वाणी 'स्यात् शब्द" परस्पर के विरोध को मिटाने वाली है अतएव जिस प्रकार विरोध छोड़ कर राजागण चक्रवर्त्ती के चरणकमलों की सेवा करते हैं उसी प्रकार सातों नय आप के शासन की सेवा करते हैं अर्थात् सातों नयों का समूहरूप आपका मुख्य सिद्धान्त है ।

इत्थं नयार्थकवचःकुसुमैर्जिनेन्दुर्वीरोऽर्चितः सविनयं विनयाभिधेन ।
श्रीद्वीपबन्दरवरे विजयादिदेवसूरीशितुर्विजयसिंहगुरोश्चतुष्ट्यै ॥२३॥

नयकर्णिका समाप्ता ॥

वृत्तिः—इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण नयानामर्थो नयार्थाः सोऽस्ति येषां तानि नयार्थकानि, नयार्थकानि च तानि वचांसि चेति तान्येव कुसुमानि पुष्प-वृन्दं तैर्नयार्थकवचःकुसुमैः, जिनश्चासौ इन्दुश्च जिनेन्दुर्जिनचन्द्रो वीरो वर्द्धमान-स्वामी विनेयन सहितो यथास्यात् तथा सविनयं भूत्वा विनयाभिधेन विनय-विजयेतिनामकेन मयाऽर्चितः पूजितः कुत्र कस्मै । श्रिया युक्ते द्वीपाख्यबन्दरवरे जलधितटवर्त्ति नगर श्रेष्ठ यस्य नाम्नि विजयपदमादौ वर्त्तते स तथा विजय-देव सूरिस्तस्य सूरीशितुः शिष्यो विजयसिंहो यो मद्गुरुस्तस्य तुष्ट्यै सन्तु-

ष्टिकरणाय वीरविभुः पूजित इत्यर्थः-

अर्थ-इस प्रकार नयों के अर्थों के कुसुमों के वृन्द से जिनेन्दु अर्थात् जिनचन्द्र श्री महावीर स्वामी विनय के साथ और विनीतभाव से विनयविजय नामक आचार्य द्वारा अर्चित किया गया है जो श्री भगवान् आध्यात्मिक लक्ष्मी संयुक्त हैं तथा समुद्र के तटवर्ती श्री द्वीपाख्य नामक प्रधान नगर में इस स्तवन की रचना की गई है श्री विजयदेवसूरि के जो विजयसिंह नामक शिष्य हैं वह मेरे सद्गुरु हैं उन की संतुष्टि के लिये श्री वीरप्रभु की अर्चना की गई है अर्थात् अपने सद्गुरु की कृपासे सातों नयों के पवित्र वचन रूपी पुष्पों से श्रीभगवान् महावीर स्वामी की अत्यन्त विनीतभावसे विनयविजय आचार्यद्वारा पूजा कीगई है सो इस प्रकार की अर्चना की कृति का करना यह सब महाराज की कृपा का ही फल है।

वृद्धिविजयशिष्येण गम्भीरविजयेन च
टीका कृतेयं कृतिभिर्वाच्यमानाऽस्तु शंकरी ॥१॥

वृद्धि विजय के शिष्य ने तथा गंभीरविजयने यह टीका निर्माण की है जो पढ़ने वालों के लिये सुख करने वाली हो "इति नयकर्णिका समाप्ता' इस प्रकार से समाप्त की गई है॥

३० ग्राहणा कुशल--अन्य आत्माओं को धर्मशिक्षाएँ ग्रहण कराने में समर्थ होना चाहिए यद्यपि बहुत आत्माएँ स्वयं शिक्षाओं द्वारा अपना कल्याण कर सकती हैं परन्तु अपने से भिन्न अन्य आत्माओं को धर्म पथ में आरूढ़ कराना एक अनुपम शक्तिसपन्न आत्मा का गुण है क्योंकि यावत् काल उसका स्वआत्मा उस विषय पर आरूढ़ नहीं हो जाता तावत्काल पर्यन्त वह अन्य आत्माओं को शिक्षा देने में समर्थ नहीं हो सकता तथा यदि स्वयं किसी धार्मिक क्रिया को द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के न मिलने से ग्रहण करने में शक्ति संपन्न न होसके तो फिर अन्य आत्माओं को तो अवश्यमेव धार्मिक क्रियाओं में आरूढ़ कराने में सामर्थ्य होना चाहिए अतएव आचार्य का ३० वां गुण इसी वास्ते प्रतिपादन किया गया है कि वह धर्म पथ का नेता है उसमें उक्त गुण अवश्यमेव होना चाहिए।

३१ स्वसमयवित्--जैनमत के सिद्धान्तों में निपुण होना चाहिए जो स्वमत के सिद्धान्तों से ही अपरिचित है वह उसमत का प्रचारक किस प्रकार बनसकता है अथवा जब उस को अपने सिद्धान्त का ही कुछ पता नहीं तब वह उस मत की प्रभावना किस प्रकार कर सकता है अतएव स्वमत से परिचित होना चाहिए तथा यावन्मात्र पदार्थ हैं उन को स्याद्वाद के द्वारा प्रतिपादन करना चाहिए-जैसे कि-अपने गुण की अपेक्षा सर्वपदार्थ सत्रूप

है परन्तु पर गुण की अपेक्षा असत्‌रूप है इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सत् और असत् इन दोनों धर्मों के धारण करने वाला होता है जिस प्रकार एक पुरुष पिता और पुत्र दोनों धर्मों को धारण करलेता है यद्यपि यह दोनों धर्म परस्पर विरोधी भाव को उत्पादन करने वाले हैं तथापि सापेक्षिक होने से दोनों सत्‌रूप माने जासकते हैं क्योंकि वह पुरुष अपने पिता की अपेक्षा से पुत्रत्व भाव को प्राप्त है और अपने पुत्र की अपेक्षा से उसमें पितृत्व भाव भी ठहरा हुआ है इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ स्वगुण में सत्‌रूप और परगुण में असत् रूप से माना जासकता है तथा अनेकान्त वाद में जिस प्रकार सम्यग ज्ञान. सम्यगदर्शन और सम्यक चरित्र का वर्णन किया गया है उसका उसी प्रकार परिचय होना चाहिए। इसी का नाम स्वसमयवित् है।

३२ पर समयवित्--पर समय का भी वेत्ता होना चाहिए, अर्थात् जैनमत के इलावा यावन्मात्र अन्यमत हैं, उनका भी भली भांति वोध होना चाहिए, कारण कि-जबतक उस का आत्मा परमत से परिचित नहीं हुआ, तबतक वह स्वमत में भी पूर्णतया दृढता धारण नहीं कर सकता अतः स्वमत में दृढ़ता तब ही हो सकती है जब कि परमतका भली भांति बोध प्राप्त किया जाए। श्रीसिद्धसेन दिवाकरने लिखा है कि-जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया तावतश्चैव परसमयाः १ इस कथन का यह सारांश है, कि यावन्मात्र वचन के मार्ग हैं, तावन्मात्र ही नयवाक्य हैं, सो यावन्मात्र नयवाक्य हैं, तावन्मात्र ही परसमय हैं, अर्थात् तावन्मात्र ही परसमय के वाक्य हैं। अतएव पर समय से अवश्यमेव परिचित होना चाहिए। एवं क्रियावादी १ अक्रियावादी २ अज्ञानवादी ३ और विनयवादी४ इन मतों का भी बोध होना चाहिए। क्रिया वादी के मत में जीव की अस्ति मानी जाती है, क्योंकि-कर्ता की चेष्टा का ही नाम क्रिया है सो कर्त्ता सिद्ध होने पर ही क्रिया की सिद्धि की जा सकती है। अतएव क्रिया वादी के मत में जीव की अस्ति मानी जाती हैं परन्तु इस मत के १८४ भेद हैं उन भेदों में जीव की अस्ति कई प्रकार से वर्णन की गई है, जैसे कि-किसीने जीवकी अस्ति कालाधीन स्वीकार की है, और किसीने ईश्वराधीन ही मान ली है। अस्तु, परन्तु जीव की अस्ति अवश्य स्वीकार की है द्वितीय अक्रियावाद है उसका मन्तव्य है कि-जीव की अस्ति नहीं है जब जीव की ही अस्ति नहीं है तो फिर क्रिया की अस्ति उस के मत में किस प्रकार हो सक्ती है अतएव यह अक्रियावाद नास्तिकवाद है अर्थात् इसका दूसरानाम नास्तिकवाद भी है तृतीय अज्ञान वादी है वह इस प्रकार से अपने मत का वर्णन कररहा है कि-आत्मा में अज्ञानता ही श्रेयस्कर है क्योंकि-यावन्मात्र जगत् में संक्लेश उत्पन्न

हो रहे हैं वे सर्वज्ञानयुक्त आत्मा के ही उत्पन्न किये हुए हैं अतएव अज्ञानता ही श्रेयस्कर है इस के मत में अज्ञानता को ही परमोक्ष पद दिया गया है इतना ही नहीं किन्तु अज्ञानी बनने का प्राणीमात्र को वे उपदेश करते रहते हैं। और सदैवकाल ज्ञानका निषेध और अज्ञानता की प्रशंसा करना यही उनका मुख्योद्देश होता है। चतुर्थ वैनयिकवादी हैं-उनका मन्तव्य है. सब की विनय करनी चाहिए। इनके हां योग्य वा अयोग्य व्यक्तियों की लक्ष्यता नहीं की जाती, परन्तु ऊंच वा नीच सब की विनय करना ही बतलाया जाता है, यद्यपि विनयधर्म सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन किया गया है परन्तु योग्य और अयोग्य की लक्ष्यता करना भी परमावश्यक है अतएव यदि योग्यता पूर्वक विनय किया जायगा, तब तो उसे सम्यग् दर्शन कहा जायगा। यदि योग्यता से रहित हो कर विनय करता है तब वह उपहास का पात्र बन जाता है. जैसे कि-कोई पुरुष अपनी माता की विनयभक्ति करता है वह मनुष्यमात्र में विनीत और सुशील कहा जाता है, किन्तु जो सब के सन्मुख वैश्या वा अपनी धर्मपत्नी आदि के चरणों पर मस्तक रखता है, इतना ही नहीं किन्तु उनकी आज्ञा का उल्लंघन किसी समय में भी नहीं करता, वह मनुष्य लोक में उपहास का ही पात्र बनता है अतएव सिद्ध हुआ, कि--विनय भी योग्यता से ही शोभा देती है जिस कारण इसे धर्म का एक अंग गिना जाता है, विनय वादिके मत में योग्यता का विचार नहीं किया गया है। अतः वह मत भी त्याज्यरूप ही माना गया है। जब इनके मत को सर्वप्रकार से जान लिया। तब षट् दर्शनों के मत का भी आचार्य पूर्णवेत्ता हो, और उनके कथन किए हुए तत्वों को सूक्ष्मबुद्धि से अन्वीक्षण करे, परन्तु षट् दर्शनों की संख्या में कई मतभेद हैं। षट् दर्शन समुच्चय की प्रस्तावनामें दामोदर लाल गोस्वामी लिखते हैं कि—

दर्शनगतषट्संख्याविधायां तु तैर्थकानां भूयांसि मतानि केचित् खलु पूर्वोत्तरमीमांसाद्वयं निरीश्वरसेश्वरसांख्यद्वयं, षोडशसप्तपदार्थाख्यायिन्यायद्वयमितिमिलितानि दर्शनषट्कं प्राहुः। अन्ये पुनः सौत्रान्तिका वैभाषिकयोगाचारमाध्यमिकप्रभेदबौद्धनजैनलौकायतिकाभ्यां च पूर्वदर्शनषट्कं द्वादशदर्शनी प्रति जानते। परंतु मीमांसकसांख्यनैयायिकबौद्धजैनचारवाकाणां दर्शनाति षड्दर्शनीतिसंगिरन्ते। प्रकृतनिबन्धकारस्तु— बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा जैमिनीयञ्च नामानि दर्शनानाम मून्य हो।

अपराणि चापि दर्शनान्येकेऽमन्यन्त, यानि सर्वदर्शनसंग्रहसर्वदर्शन शिरोमण्यादिनिबन्धेषु व्यक्तानि॥ इत्यादि--इस प्रस्तावना का यह कथन है। कि—दर्शनों की संख्याविषय कई मत भेद हैं, और उनकी संख्या विद्वान्

भिन्न २ प्रकार से मानते हैं जैसे कि कोई २ तो षट् दर्शन इस प्रकार से मानता है कि पूर्वमीमांसा १ और उत्तरमीमांसा २ निरीश्वर सांख्य ३ और सेश्वरसांख्य४षोडश पदार्थ के मानने वाला नैयायिक ५और सप्त पदार्थ के मानने वाला नैयायिक ६ इस प्रकार से दर्शन षट् होते हैं। कोई इस प्रकार से मानता है कि-बौद्ध मत की चार शाखाएं हैं जैसे कि-सौत्रान्तिक १ वैभाषिक २ योगाचार ३ और माध्यमिक ४ जैन ५ और लौकायतिक ६ इस प्रकार षट् दर्शन होते हैं तथा पूर्वोक्त और यह षट् दर्शन मिल कर सर्व दर्शन द्वादश होते हैं। अपितु कोई २ तो यह भी कहता है कि-मीमांसक १ सांख्य २ नैयायिक ३ बौद्ध ४ जैन ५ और चार्वाक ६ इस प्रकार षट् दर्शन होते हैं। परं च प्रकृत निबंधकार ने तो-बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय--इस प्रकार षट्दर्शन प्रतिपादन किये हैं, किन्तु--सर्व दर्शन संग्रह और सर्व शिरोमणि आदि निबंधों में तो अनेक दर्शन कथन किये गए हैं अर्थात् यह नियम नहीं देखा जाता कि केवल दर्शन इतने ही होते हैं। इसी वास्ते आचार्य के लिये "परसमयवित्" शब्द लिखा गया है कि--वह जैनमत के अतिरिक्त परमतके शास्त्रों का भी भलीप्रकार से परिचित हो. जैसे कि-षट्दर्शनों से बाहिर इसाई और मुसलमान आदि अनेक प्रकार के मत प्रचलित हो रहे हैं। उनके सिद्धान्तोंको भी जानना चाहिए,तथा सूक्ष्म बुद्धिसे अन्वेषण करना चाहिए। अतएव यावन्मात्र परमत के सिद्धान्त हों या उनके सिद्धान्तों की शाखाएं बन गई हों सब का भलीभांति बोध होना चाहिए। षट् दर्शनों के विषय में इसलिए नहीं लिखा गया है. कि--इन दर्शनों की पुस्तकें कतिपय भाषाओं में मुद्रित हो चुकी हैं अतएव पाठकगण उन पुस्तकों से वा सूयगडाङ्ग-सूत्र, स्याद्वाद मंजरी आदि जैनग्रथों से उक्तदर्शनों के सिद्धांतों का भली भांति बोध कर सकते हैं। इस स्थान पर तो केवल इतना ही विषय है कि आचार्य को उक्त मतोंके सिद्धान्तों का भी जानकार होना चाहिए।

३३ गांभीर्य्य-इस गुण में आचार्य की गंभीरता सिद्ध की गई है, क्योंकि जिसमें गांभीर्य्य गुण होता है. उसी में अन्य गुण भी आश्रित होजाते हैं, वही आचार्य अन्य व्यक्तियों की आलोचनादि को सुनने के योग्य होता है वही आचार्य अन्य आत्मा की शुद्धि कराने की योग्यता रखता है जो उस प्रायश्चित्ती का दोष सुनकर किसी और के आगे प्रकाश नहीं करता यही उसकी गंभीरता है। कारण कि-जब वह स्वयं गंभीर होगा तभी वह कष्टों को सहन करता हुआ अन्य आत्माओं को धर्म पथ में स्थापन कर सकेगा, और आप भी पवित्र गुणों का आश्रयीभूत बन जायगा। अतएव आचार्य को द्वेष बुद्धि से किसी का मर्म प्रकाशित न करना चाहिए

३४ दीप्तिमान्—आचार्य तेजस्वी होना चाहिए, जिस आत्मा में सत्य और ब्रह्मचर्य पूर्णतया निवास करते हैं, वह आत्मा तेजस्वी होजाता है, तथा यावन्मात्र बल हैं, उनमें श्रद्धा का परमोत्कृष्ट बल माना जाता है अतएव श्रद्धा सत्य और ब्रह्मचर्य जब इनका एक स्थान पर पूर्णतया निवास हो जावे तब उस आत्मा का आत्मिक बल बढ़ जाता है जिस कारण कोई भी वादी आक्रमण नहीं कर सकता और ना ही उसके तेज को सहन कर सकता है।

३५ शिव–आचार्य संघ पर आए हुए कष्ट के निवारण करने में समर्थ हो क्योंकि आत्मशक्ति द्वारा तथा उपदेशादि द्वारा जिस प्रकार श्रीसंघ में शांति हो सके उसी प्रकार आचार्य को करना चाहिए, उपद्रवों का नाश करना और श्री संघ में शांति स्थापन करना आचार्य का गुण है क्योंकि शांति के होने से ही ज्ञान दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो सकती है। इतना ही नहीं किन्तु अनेक आत्माएँ धर्म पथ में लग सकती हैं। अपना तथा पर का फिर वे कल्याण भी कर सकती हैं। इस लिए यह गुण भी आचार्य में अवश्य होना चाहिए।

३६ सौम्यगुणयुक्त—आचार्य सौम्यगुणयुक्त होना चाहिए--अर्थात् सौम्य-गुणयुक्त होकर साधुवर्ग को सम्यक्तया शिक्षित करे–इस प्रकार पूर्वोक्त छत्तीस गुणों से युक्त होकर आचार्य चार क्रियाओं से भी युक्त होवे–जैसेकि–सारणा १ वारणा २ चोदना ३ और प्रतिचोदना ४॥ सारणा–साधुओं को नैतिक क्रियाओं की संस्मृति कराता रहे। वारणा-यदि कोई साधु अतिचार वा अनाचार सेवन करे तो उसे सम्यक् शिक्षा द्वारा हटा देवे।

चोदना-साधुओं को प्रमाद के हटाने की प्रेरणा करता रहे, प्रति चोदना यदि कोई मृदु वाक्यों से शिक्षा न मानता हो तो उसे कठिन वाक्यों से भी शिक्षा देवे क्योंकि-आचार्य की इच्छा उसके आत्मा की शुद्धि करने की है। परन्तु उक्त क्रियायें आचार्य राग द्वेष के वश होकर कदापि न करे इस प्रकार पूर्व सूरिविरचित ग्रंथों में आचार्य के छत्तीस गुण कथन किए गए हैं परन्तु दशाश्रुतस्कंधसूत्र के चतुर्थाध्याय में आचार्य की आठ संपत् वर्णन की गई हैं संपत् दो प्रकार से वर्णित हैं-जैसे कि द्रव्य संपत् और भाव संपत्। द्रव्य संपत् तो प्रायः प्रत्येक गृहस्थ के पास होती है परन्तु वह चिरस्थायी नहीं है परंच जो भाव संपत् है, वह सदैव आत्मा के साथ ही रहता है इसीलिए उस संपत् को आचार्य की संपत् प्रतिपादन किया गया है।

भव्यजनों के प्रतिबोध के लिये और सूत्र की महत्ता दिखलाने के लिये श्री दशाश्रुतस्कंधसूत्र के चतुर्थाध्ययन को ही इस स्थान पर उद्धृत किया जाता है, जैसे कि–

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अठविहा गणि संपया पएणत्ता ॥

अर्थ—हे आयुष्मन् शिष्य ! मैंने उस श्री भगवान् को इस प्रकार प्रतिपादन करते हुए सुना है कि इस जिनशासन में स्थविर भगवंतों ने आठ प्रकार की गणि (आचार्य) संपत् प्रतिपादन की है।

उक्त वचन को सुनकर शिष्य ने प्रश्न किया। अब इस विषय में सूत्रकार कहते हैं।

कयरा खलु अठविहा गणिसंपया पएणत्ता।

अर्थ--शिष्य ने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! कौनसी आठ प्रकार की गणि संपत् प्रतिपादन की गई है ?

शिष्य के प्रश्न का गुरु उत्तर देते हैं। अब सूत्रकार इस विषय में कहते हैं।

इमा खलु अठविहा गणिसंपया पएणत्ता तंजहा—

अर्थ-गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! आठ प्रकारकी गणिसंपत् इस प्रकार प्रतिपादन की गई है जैसे कि-

अब सूत्रकार आठ संपत् के नाम विषय में कहते हैं।

आयार संपया १ सुय संपया २ सरीर संपया ३ वयण संपया ४ वायणा संपया ५ मइ संपया ६ पओग संपया ७ संगाह परिणाम अठमा ॥८॥

अर्थ-आचार संपत् १ श्रुतसंपत् २ शरीर संपत् ३ वचन संपत् ४ वाचना संपत् ५ मति संपत् ६ प्रयोग संपत् ७ और संग्रह परिज्ञा ॥८॥

अब सूत्रकार आचार संपत् के विषय में कहते हैं।

सेकिंतं आयार संपया ? आयार संपया चउव्विहा पएणत्ता तंजहा—संजम धुवजोग जुत्ते यावि भवइ १ असंप्पगाहिऽप्पा २ अणियवत्ती ३ बुढि सीलियावि भवइ ४ । सेतं आयार संपया।

अर्थ- शिष्यने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! आचार संपत् किसे कहते हैं ? इसके उत्तर में गुरु कहने लगे कि-हे शिष्य! आचार संपत् चार प्रकार की वर्णन की गई है जैसे कि-संयम में निश्चल योग युक्त होवे १ आचार्य की आत्मा अभिमानरहित होवे २ अनियतविहारी होवे ३ चंचलता से रहित वृद्धों जैसा स्वभाव होवे ४ यही आचार संपत् के भेद हैं। सारांश-प्रथम संपत् सदाचार ही है। जो आत्मा आचार से पतित हो गया है वह आत्मिक गुणों से भी

प्रायः पतित हो जाता है अतः सूत्रकारने प्रथम संपत् सदाचार कोही प्रतिपादन किया है परन्तु सदाचार के मुख्यतया चार भेद वर्णन किये गए हैं जैसे कि-अपने ग्रहण किये हुए संयम के भावों में योगों को निश्चल करना चाहिए १ अति प्रतिष्ठा वा प्रशंसा हो जाने के कारण अहंकार न करना चाहिए २ परोपकार के लिये एक स्थान पर ही न बैठना चाहिये अर्थात् देश और प्रदेश में अप्रतिबद्ध हो कर विचरना चाहिए ३ चंचलता वा चपलता को छोड़कर वृद्धों जैसा स्वभाव धारण करना चाहिए ४ इस कथन का यह सारांश है कि-यदि लघु अवस्था में आचार्य पद की प्राप्ति हो गई है तो फिर स्वभाव तो वृद्धों जैसा अवश्य होना चाहिए अर्थात् गम्भीरता विशेष होनी चाहिए ।

अब सूत्रकार श्रुतसंपत् विषय कहते हैं।

से किंतं सुय संपया? सुय संपया चउव्विहा पण्णत्ता तंजहा-बहु सुयyावि भवइ १ परिचिय सुत्ते यावि भवइ २ विचित्त सुत्ते यावि भवइ ३ घोस विसुद्धि कारए यावि भवइ ४ सेतं सुय संपया ॥२॥

अर्थ—शिष्यने प्रश्न किया-हे भगवन्! श्रुतसंपत् किसे कहते हैं? गुरु उत्तर में कहने लगे कि-हे शिष्य! श्रुत संपत् चार प्रकार से प्रतिपादन की गई है जैसे कि-बहुश्रुत हो १ परिचित श्रुत हो २ विचित्र प्रकार के श्रुतों (सूत्रों) का ज्ञाता हो ३ विशुद्ध घोष से सूत्र उच्चारण करने वाला हो ४ यही श्रुत संपत् है ॥

सारांश—शिष्यने प्रश्न किया-हे भगवन्! श्रुत संपत् किसे कहते हैं? इसके उत्तर में गुरु महाराज बोले, कि-आचार्य आचार संपन्न होता हुआ श्रुत संपन्न भी हो अर्थात् परम विद्वान् हो किन्तु श्रुत संपत् चार प्रकार से वर्णन की गई है जैसे कि बहुत से सूत्रों का ज्ञाता हो उसी का नाम बहु श्रुत है अर्थात् यावन्मात्र मुख्य २ सिद्धान्त हैं उनका सर्वथा वेत्ता होना चाहिए परन्तु सूत्र अस्खलित वा परिचित हों इस कथन का तात्पर्य यह है कि-प्रायः सूत्र सदैव काल स्मृति पथमें ही रहें, साथ ही विचित्र प्रकार के सूत्रों का ज्ञाता भी होना चाहिए जैसे कि—जैनमत के सूत्र वा जैनेतर मत के सूत्र इन सर्व सूत्रों का भली प्रकार से विद्वान् होना चाहिए तथा जिस प्रकार से श्रोतागण को विस्मय हो उस प्रकार के सूत्रों का परिचित होवे। विचित्र शब्द के कई अर्थ किये जासकते हैं परन्तु मुख्य अर्थ इसका यही है कि-स्वमत वा परमत के शास्त्रों का भली प्रकार से परिचित होवे। इतना ही नहीं किन्तु जब श्रुत के

उच्चारण का समय आजावे तब उदात्त १ अनुदात्त २ और स्वरित ३ इन तीन घोषों से युक्त और परम विशुद्ध श्रुत को उच्चारण करे अपितु यावन्मात्र श्रुत उच्चारण के दोष हैं उनको सर्वथा छोड़कर केवल विशुद्ध घोष से ही श्रुत उच्चारण करे ।

श्रुत संपत् के पश्चात् अब सूत्रकार तृतीय शरीर संपत् विषय कहते हैं ।

सेकिंतं सरीर संपया ? सरीर संपया चउव्विहा पण्णत्ता तंजहा। आरोह परिणाय संपण्णेयावि भवइ १ अणोत्तए सरीरे २ थिर संघयणे ३ बहु पडिपुन्निंदिएयावि भवइ ४ सेतं सरीर संपया ॥

अर्थ—शिष्यने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! शरीर संपत् किसे कहते हैं ? गुरुने उत्तर में कहा कि—हे शिष्य ! शरीर संपत् चार प्रकार से प्रतिपादन की गई है जैसेकि-शरीर दीर्घ और विस्तार युक्त हो १ निर्मल और सुंदराकार शरीर हो २ शरीर का संगठन बलयुक्त हो ३ सर्व प्रकार से पंचेंद्रिय बलयुक्त वा प्रतिपूर्ण हों ४ यही शरीर संपत् है ।

सारांश—द्वितीय संपत् के पश्चात् शिष्य ने तृतीय संपत् के विषयमें प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! शरीर संपत् किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में गुरु ने प्रतिपादन किया कि-हे शिष्य ! शरीर का सुंदराकार होना यही शरीर की संपत् है किन्तु वह संपत् चार प्रकार से वर्णन की गई है जैसे कि-शरीर दीर्घ और विस्तीर्ण होना चाहिए जो वर्त्तमान समय में सौंदर्य धारण करसके । साथ ही सभा में बैठा हुआ शरीर कांति को धारण करने वाला हो अपितु लज्जा युक्त भी न हो अर्थात् शरीर सुंदराकार हो । इतना ही नहीं किन्तु शरीर का संहनन स्थिर होना चाहिए क्योंकि-जिसके शरीर की अस्थिएं दृढ़ होंगी उस के शरीर का संहनन भी बलयुक्त ही होता है । साथही पंचेंद्रिय प्रतिपूर्ण होवें । किसी इंद्रियमें भी किसी प्रकार की क्षति न हो जैसे कि-चक्षुओं में निर्बलता, श्रुतेंद्रिय में निर्बलता वा शरीर रोगों के कारण विकृत होगया हो इत्यादि कारण शरीर संपत् के विघातक हो जाते हैं अतएव पांचों इंद्रिय प्रतिपूर्ण और बलयुक्त होनी चाहिएं क्योंकि शरीर संपत् का प्रतिवादी पर परम प्रभाव पड़ जाता है तथा धर्म कथादि के समय शरीरसंपत् के द्वारा धर्म का महत्व बढ़ जाता है ॥४॥

शरीर संपत् के पश्चात् अब सूत्रकार चतुर्थ वचनसंपत् के विषय में कहते हैं :—

सेकिंतं वयण संपया ? वयण संपया चउव्विहा पएणत्ता तंजहा । आदेय वयणेयावि भवइ १ महुरवयणयावि भवइ २ अणिस्सिय वयणेयावि भवइ ३ असंदिद्ध वयणेयावि भवइ ४ सेतं वयण संपया ॥

अर्थ--शिष्य ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! वचन संपत् किसे कहते हैं ? गुरु ने उत्तर में कहा कि-वचन संपत् चार प्रकार से प्रतिपादन की गई है जैसे कि-आदेय वाक्य युक्त हो १ मधुरभाषी हो २ पक्षपात से रहित होकर भाषण करे ३ संदेह रहित वचन बोले ४ यही वचन संपत् के भेद हैं ॥

सारांश—तृतीय संपत् के पश्चात् शिष्य ने चतुर्थ संपत् विषय प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! वचन संपत् किसे कहते हैं ? इसके उत्तर में गुरु ने कहा कि-हे शिष्य ! शास्त्रोक्त रीतिसे भाषण करना यही वचन संपत् का अर्थ है परन्तु इस के भी चार ही भेद प्रतिपादन किये गये हैं जैसेकि जिस वाक्य को वादी प्रतिवादी सब ही ग्रहण करें ऐसा वचन बोलनेवाला होवे अर्थात् समयानुकूल सबके ग्रहण करने योग्य वाक्य को उच्चारण करे १ मधुर और गंभीरता युक्त वचन को भाषण करे जिससे श्रोतागण को परम प्रसन्नता वा सुख उत्पन्न होवे २ परन्तु भाषण करते समय पक्षपात से रहित होकरही वचन का प्रयोग करे क्योंकि जो वाणी पक्षपात से युक्त होती है वह सर्व ग्राह्य वा प्रसन्नता उत्पन्न करने वाली नहीं होती किन्तु क्लेश के उत्पादन करने वाली हो जाती है अतः पक्षपात से रहित वचन उच्चारण करे ३ । साथ ही जो वचन संदेह रहित व जो प्रकरण संशय रहित होवे उसी की व्याख्या करे क्योंकि जिस विषय अपने मन में ही संशय उत्पन्न होरहा है उस प्रकरण को सुनकर श्रोतागण किस प्रकार निःसंदेह होसकते हैं तथा मिश्रित वाणी भाषण न करे किन्तु स्पष्टवक्ता होना चाहिए ॥

चौथी वचन संपत् के पश्चात् अब सूत्रकार पंचम वाचना संपत् के विषय में कहते हैं :—

सेकिंतं वायणा संपया ? वायणा संपया चउव्विहा पएणत्ता तंजहा । विजय उद्दिस्सइ १ विजय वायइ २ परिनिव्वा वियएइ वा ३ अत्थ निज्जावएयाविभवइ ४ सेतं वायणा संपया ॥

अर्थ—शिष्य ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! वाचना संपत् किसे कहते हैं ? गुरु ने उत्तर दिया कि हे शिष्य ! वाचना संपत् चार प्रकार से प्रतिपादन की गई है जैसे कि-शिष्य की योग्यता देख कर पठन विषय आज्ञा देनी चाहिए १ योग्यता देखकर ही वाचना देनी चाहिए २ सूत्रपाठ अस्खलित और संहिता-

द्विगुण युक्त पठन कराना चाहिए ३ यावन्मात्र अर्थ का निर्वाह कर सके तावन्मात्र ही योग्यतानुसार अर्थवाचना देनी चाहिए ४ यही वाचना संपत् के भेद हैं।

सारांश—शिष्य ने प्रश्न किया हे भगवन् ! वाचना संपत् किसे कहते हैं ? इसके उत्तर में गुरु ने प्रतिपादन किया कि हे शिष्य ! जिस प्रकार शिष्य को सूत्र वा अर्थ का वोध होसके उसी प्रकार पठन व्यवस्था की जाए उसी का नाम वाचना संपत् है परन्तु इस संपत् के चार भेद हैं जैसे कि-शिष्य की योग्यता देखकर ही उस को सूत्र के पठन की आज्ञा देनी चाहिए जैसे कि-यह शिष्य इस के योग्य है अतः इसको यही सूत्र पढ़ाना चाहिए १ योग्यता देखकर ही वाचना देनी चाहिए जैसकि-यह शिष्य इतनी वाचना सुखपूर्वक संभाल सकता है २ फिर योग्यता देखकर ही संहिता १ पद २ पदार्थ ३ पदविग्रह ४ शंका ५ और समाधानादि ६ विषय परिश्रम करना चाहिए ३ तथा यावन्मात्र वह अर्थका निर्वाह कर सके तावन्मात्र ही उसे अर्थ प्रदान करना चाहिए ४ कारण कि योग्यता पूर्वक पाठ्य व्यवस्था की हुई हो तो शिष्य के हृदय में अर्थ अधिगत हो जाता है यदि योग्यता विना वाचना दीजायगी तो सूत्र की आशातना [अविनय] होगी और पठन करने वाले के चित्त को विक्षेप उत्पन्न हो जायगा।

पांचवीं वाचना संपत् के पश्चात् अब छठी मतिसंपत् के विषय में सूत्रकार कहते हैं :—

से किंतं मइ संपया ? मइ संपया चउव्विहा पण्णत्ता तंजहा–उग्गह मइ संपया १ ईहामइसंपया २ अवायमइ संपया ३ धारणामइ संपया ४ ॥

अर्थ-शिष्यने प्रश्न कियाकि–हेभगवन्! मति संपत् किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में गुरु ने कहा कि हे शिष्य ! मति संपत् चार प्रकार से प्रतिपादन की गई है जैसे कि-अवग्रहमति १ ईहामति २ अवायमति ३ और धारणामति ४ ।

सारांश--सामान्य अवबोधका नाम अवग्रहमति है अर्थात् पदार्थों का सामान्य प्रकार से जो वोध होता है उसे अवग्रहमति कहते हैं परन्तु सामान्य वोधमें जो फिर विचार उत्पन्नहोता है उस विचार से जो विशिष्ट वोधकी प्राप्ति होती है उसीका नाम ईहामति है फिर ईहामति से जो पदार्थों का भाव अवगत होता है उसी का नाम अवायमति है। अवगत होने के पश्चात् जो फिर उस ज्ञानकी धारणा कीजाती है उसी का नाम धारणामति है । पूर्व

से उत्तर विशिष्ट बोध होता चला जाता है इसी लिये मति के चार भेद किये गए हैं परन्तु मध्य में अस्खलित भावसे वा अन्तर्भावको छोड़कर ही जो विशिष्ट अवबोध प्राप्त होता चला गया है इसी लिये मति ज्ञान प्रामाणिक माना गया है किन्तु अविच्छिन्न भावसे संकलाबद्ध उत्तरोत्तर विशिष्ट भाव की वृद्धि होती चली गई है जैसे कि-किसी व्यक्ति को स्वप्न आगया जब वह उठकर बैठा तब वह कहने लगा कि- मुझे कोई स्वप्न आया है इस अव्यक्त दशा का नाम अवग्रहमति है फिर ईहाविशिष्ट विचार में प्रविष्ट होकर कहता है कि हाँ, मुझे स्वप्न अवश्य आया है जब स्वप्न का आना अवश्य सिद्ध हो गया तब फिर वह उस स्वप्न को स्मृति पथ में लाता है जब ठीक स्मृति पथ में आगया उसी का नाम अवायमति है फिर अवायमति द्वारा जो स्वप्न स्मृति पथ में किया था फिर उसका दृढ़तापूर्वक निश्चय करलेना कि-हां, अमुक स्वप्न आया है उसी का नाम धारणामति है इस प्रकार मति के मुख्य चार भेद वर्णन किये गये हैं अब सूत्रकार अवग्रहादि मतियों के उत्तर भेदों के विषय में कहते हैं:—

सेकिंतं ओग्गह मइसंपया ? ओग्गहमइसंपया छव्विहा पएणत्ता तंजहा-खिप्पं उगिएहइ १ बहु उगिएहइ २ बहु विहं उगिएहइ ३ धूवं उगिएहइ ४ अणिस्सियं उगिएहइ ५ असंदिद्धं उगिएहइ ६ सेतं उग्गह मइसंपया एवं ईहामइ वि एवं अवायमइ वि सेकिंतं धारणा मइ संपया। धारणामइ संपया छव्विहा पएणत्ता तंजहा—बहुधरेति १ बहु विहं धरेति २ पोराणं धरेइ ३ दुधरं धरेइ ४ अणिस्सियं धरेइ ५ असंदिद्धं धरेइ ४ सेतं धारणाम-इसंपया ॥ ६ ॥

अर्थ-शिष्य ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! अवग्रहमति किसे कहते हैं ? इसके उत्तर में गुरु कहने लगे कि हे शिष्य ! अवग्रहमति के छः भेद वर्णन किए गए हैं जैसे कि-शीघ्र ही अन्य के द्वारा प्रश्न किये जाने पर उसके भावों को अवगत कर लेना १ बहुत प्रश्नों के भावों को एक ही बार अवगत करलेना २ पृथक् २ प्रकार से प्रश्नों के भावों को समझ लेना ३ निश्चल भाव से प्रश्नों के भाव को अधिगत कर लेना ४ बिना किसी की सहायता के प्रश्नों के भावों को जान लेना अर्थात् विस्मरणशील न होना ५ विना संदेह प्रश्नों के भावों को अवगत कर लेना अर्थात् स्पष्टतया प्रश्नों के भावों को जान लेना सो इसी प्रकार ईहामति और अवायमति के विषय में भी जान लेना चाहिए ।

पुनःशिष्य ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! धारणामति किसे कहते हैं ? गुरु ने उत्तर में प्रतिपादन किया कि हे शिष्य ! धारणामति के भी छः भेद वर्णन किए गए हैं जैसे कि एकही वार बहुत से प्रश्नों को धारण करले । बहुत प्रकार से प्रश्नों के भावों को धारण करले २ पुरातन ज्ञान (प्राचीन) को धारण करे ३ नय और भंग तथा सप्तभंगी आदि के भावों को धारण करे । ४ परन्तु सूत्र वा शिष्यादि के निश्राय (आश्रय) विना ज्ञान को धारण करे ५ फिर बिना सन्देह ज्ञान को धारण करे अर्थात् संशय रहित ज्ञान की धारणा करे ६ सो इसी को धारणामति संपत् कहते हैं ।

सारांश—जो सूत्र में मतिसंपत् के मुख्य चार भेद किये गए थे अब शिष्य ने चार भेदों के उत्तर भेदों के विषय प्रश्न किया है कि-हे भगवन् ! अवग्रहमति के कितने भेद किये गये हैं ? इस के उत्तर में गुरु ने कथन किया कि—हे शिष्य ! अवग्रह मति के छः भेद प्रतिपादन किये गये हैं जैसेकि- जब ही किसी ने कोई प्रश्न किया उसी समय उसके भावोंको जान लेना यह अवग्रहमति का प्रथम भेद है इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिए जैसेकि-एक ही वार बहुत से प्रश्न कर दिये उनको एक ही वार सुनकर अवगत कर लेना २ किन्तु अपनी बुद्धि में उन प्रश्नों को भिन्न २ प्रकार से ही स्थापन करना अर्थात् विस्मृत न होने देना ३ अपितु दृढ़तापूर्वक उन प्रश्नों को धारण करना जिससे वे अस्खलित रूपसे बने रहें ४ फिर किसी की सहायता बिना उन प्रश्नों को धारण करना जैसे-ऐसे न हो कि-हे शिष्य ! तू ने इसको स्मृति रखना वा पत्र संचिकादि में स्मृति रूप लिख लेना तथा किसी ग्रंथ के देखने की जिज्ञासा प्रगट करना ५ साथ ही जिस प्रश्नको स्मृति किया है उसमें किसी प्रकार से भी संशय न होवे जैसे कि उसने क्या कहा था? क्या यह था-वा कुछ और भी पूछा था? इसप्रकार के संशय न होने चाहिएं ६ यही अवग्रहमति संपत् के षट् भेद हैं । परन्तु धारणामति संपत् के षट् भेद निम्न प्रकार वर्णित हैं जैसेकि एक वार सुनकर बहुत ही धारण कर लेवे १ वा बहुत प्रकार से धारण करे २ जिस वात को हुए चिरकाल होगया हो उसे भी स्मृति पथ में रखे कारण कि-पुरातन वातों के आधारपर ही नूतन नियमों की सृष्टि रची जासकती है पुरातन वातें ही नूतन क्रियाओं के करने में सहायक होती हैं जैसेकि-अमुक समय यह वात इस प्रकार की गई थी ३ तथा जो ज्ञान दुर्द्धरहो जैसेकि-भंग नय निक्षेपादि, उस ज्ञान को भी धारण कर रक्खे क्योंकि भंगादिका ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति सहज में ही धारण नहीं कर सकता अतएव आचार्य को अवश्यमेव उक्त प्रकार के ज्ञान को स्मृति में रखना चाहिए ॥४॥

साथ ही जिस ज्ञान को स्मृति में रखे वह किसी शिष्य वा पुस्तकादि के आश्रय न होवे क्योंकि—इस प्रकार करने से स्मरणशक्ति की निर्बलता पाई जाती है अतः अनिश्चित ज्ञान धारण करे '५ उस ज्ञान में संदेह नहो; सारांश यह है कि बिना संशय उस ज्ञान को धारण करे । क्योंकि—सांशयिक ज्ञान अप्रामाणिक माना जाता है ६ इस प्रकार धारणामति के छै भेद वर्णन किये गये हैं । सो इसी को मतिसंपत् कहते हैं । छठी मतिसंपत् के कहे जाने के पश्चात् अब सूत्रकार सातवीं प्रयोग मतिसंपत् विषय कहते हैं :—

सेकिंतं पओग मइ संपया ? पओगमइ संपया चउव्विहा पण्णत्ता तंजहा-आयविदाय वायं पउंजित्ता भवइ १ परिसं विदायवायं पउञ्जित्ता भवइ २ खेतं विदायवायं पउंज्जित्ता भवइ ३ वत्थुविदायवायं पउञ्जित्ता भवइ ४ सेतं पओगमइ संपया ॥७॥

अर्थ—शिष्यने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! प्रयोग मतिसंपत् किसे कहते हैं ? गुरु ने उत्तर में कहा कि-प्रयोगमातिसंपत् चार प्रकार से प्रतिपादन की गई है जैसे कि-अपनी आत्मा की शक्ति देखकर वाद विवाद करना चाहिए १ परिषत् भाव देखकर वाद करना चाहिए २ तथा क्षेत्र को देखकर ही वाद करना चाहिए ३ वाद के प्रकरण विषय को देखकरही वाद करना चाहिए यही प्रयोग मतिसंपत् के भेद हैं ।

सारांश—छठी संपत् के पश्चात् शिष्य ने सातवीं प्रयोगमातिसंपत् के विषय में प्रश्न किया कि—हे भगवन् ! प्रयोगमतिसंपत् किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ? इस के उत्तर में गुरुने कहा कि- हे शिष्य ! प्रयोगमति-संपत् का यह अर्थ है कि-यदि धर्म चर्चादि करने का सुअवसर प्राप्त हो जावे तब मति से विचार कर ही उक्त क्रियाओं में प्रवृत्त होना चाहिए क्योंकि—धर्म चर्चा करने के मुख्य दो उद्देश्य होते हैं एकतो पदार्थों का निर्णय १ द्वितीय धर्म प्रभावना २ । दोनों बातों को ठीक समझ कर उक्त काम में कटिबद्ध होना चाहिए ।

इसके चार भेद प्रतिपादन किए गये हैं जैसेकि-जब वाद करने का समय उपस्थित हो तब अपनी आत्मा की शक्ति को अवश्यमेव अवलोकन करना चाहिए जिससे पीछे उपहास न हो । परिषत् के भाव को देखकर वाद का प्रयोग करे जैसे कि—क्या यह सभा ज्ञात है वा अज्ञात है अथवा दुर्विदग्ध है तथा उपहासादि करने वाली है क्योंकि जानकार परिषद् पदार्थ के निर्णय को चाहती है १ अनजान सभा केवल समझना चाहती है २ दुर्विदग्ध सभा अपना

ही कोलाहल करना चाहती है. यदि दर्शक उपहासादि के लिए ही एकत्र हुए हों तो केवल किसी समय स्खलित भावादि को देखकर उपहास ही करना चाहते हैं अतएव परिषत् भावों को देख कर ही वाद में प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥

क्षेत्र को देखकर ही वाद करना चाहिए क्योंकि-यदि क्षेत्राधिपति धर्म का द्वेषी है वा उस समय उस क्षेत्र में जो माननीय पुरुष है वह अनार्य है अथवा धर्म चर्चा के उद्देश्य को नहीं जानता, एवं उसको सभापति बनाने की संभावना हो तथा निर्णय उसके हाथ में हो इत्यादि सर्व भावों को देखकर ही वाद के लिए प्रवृत्ति करनी चाहिए । ३ । षद् द्रव्यों में से किस द्रव्य विषय वाद करना है, उस विषय में मेरा सत्व है या नहीं इसका अनुभव करके तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप पदार्थों के स्वरूप को जानकर ही वाद करना चाहिए जैसाकि द्रव्य से धर्म अधर्म आकाश काल पुद्गल और जीव यह छै द्रव्य हैं १ क्षेत्र से ऊर्ध्व १ अधो २ और तिर्यक् यह तीन लोक हैं २ काल से-भूत भविष्यत् और वर्तमान यह तीनों काल हैं ३ भाव से-औदयिक २ औपशमिक २ क्षायिक ३ क्षयोपशमिक ४ पारिणामिक ५ और सन्निपात ६ यह भाव हैं तथा सात नय प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और आगम यह चार प्रमाण नाम स्थापना द्रव्य और भाव यही चारों निक्षेप वा निश्चय पक्ष वा व्यवहार पक्ष सामान्य भाव वा विशेष भाव कारण और कार्य इस प्रकार अनेक शास्त्रोक्त भावों को जानकर और अपनी शक्ति को देखकर ही वाद विषय में उद्यत होना चाहिए क्योंकि इस प्रकार करने से किसी प्रकार की भी क्षति होने की संभावना नहीं है अपितु धर्मप्रभावना तो अवश्यमेव होजायगी इसी का नाम प्रयोगमतिसंपत् है अब सूत्रकार प्रयोगमति के पश्चात् संग्रहपरिज्ञा नामक आठवीं संपत् विषय कहते हैं:—

सेकिंतं संग्गह परिणा नामं संपया ? संग्गहपरिणा नामं संपया चउव्विहा पएणत्ता तंजहा-वासा सुखेत्ते पाडिलेहित्ता भवइ; वहुजण पाउगत्ताए १ वहुजण पाउगत्ताए पाडिहारिय पीढ फलग सेज्जा संथारयं उगिण्हित्ताभवइ २ कोलणं कालं समाणइत्ता भवइ ३ आहागुरू संपूएत्ता भवइ ४ सेतं संग्गह-परिणा नामं संपया ॥ ८ ॥

अर्थ—शिष्य ने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! संग्रहपरिज्ञा नामक संपत् किसे कहते हैं ? तब गुरु ने उत्तर में प्रतिपादन किया कि-हे शिष्य ! संग्रह परिज्ञा नामक संपत् के चार भेद हैं जैसाकि-आचार्य वहुत से भिक्षुओं के लिए वर्षाकाल में ठहरने के लिए क्षेत्रों को प्रतिलेखन करनेवाला हो १

वहुत से मुनियों के वास्ते वर्षाकाल के लिये प्रातिहारिक पीठ फलक-शय्या और संस्तारक ग्रहण करने वाला हो २ जो क्रियानुष्ठान जिस काल में करना है वह उसी काल में विधिपूर्वक क्रियानुष्ठान करनेवाला हो ॥ ३ ॥ दीक्षागुरु वा श्रुतगुरु तथा रत्नाकर की पूजा सत्कार करने वाला हो ॥४॥ सो इसी का नाम संग्रहपरिज्ञा नामक संपत् है ॥ ८ ॥

सारांश—सातवीं संपत् के पश्चात् शिष्यने आठवीं संग्रह परिज्ञा नामक संपत् के विषय प्रश्न किया कि हे भगवन् ! संग्रहपरिज्ञा संपत् किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ? गुरु ने इसके उत्तर में प्रतिपादन किया कि-पदार्थों का संग्रह करना उसी को संग्रहपरिज्ञा नामक संपत् कहते हैं परन्तु इसके चार भेद हैं जैसे कि-आचार्य अपने गच्छवासी साधुओं के लिए क्षेत्रों का वर्षा-काल के लिये ध्यान रक्खे जैसे कि-अमुक साधु के लिए अमुक क्षेत्र की आवश्यकता है क्योंकि—वह साधु विद्वान् है वा तपस्वी है अथवा रोगी है इत्यादि कारणों को समझकर क्षेत्रोंका ध्यान अवश्य रक्खे ।

यदि साधुओं को यथायोग्य क्षेत्र की प्राप्ति आचार्य के द्वारा नहीं हो सकती तब वे उस आचार्य के गच्छ को छोड़कर अन्यत्र जाने की इच्छा करेंगे अतएव आचार्य योग्य क्षेत्रों का संग्रह अपनी बुद्धि से अवश्यमेव करले जिस-से वर्षाकाल (चतुर्मास) के आने पर उन साधुओं को संगृहीत क्षेत्रों में चतु-र्मास करने की आज्ञा प्रदान की जा सके । साथही वर्षाकाल के लिये पीठ (चौंकी) फलक (पाटा) शय्या-(वस्ती) संस्तारक, जो लेकर फिर गृहस्थ को प्रत्यर्पण किये जाते हैं उक्त पदार्थों के ग्रहण करने वाला हो क्योंकि—चतु-र्मास में वर्षा के प्रयोग से बहुत से सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाती है सो उन जीवों की रक्षा के लिये उक्त पदार्थों के ग्रहण करने की अत्यन्त आवश्य-कता रहती है तथा सूक्ष्म निगोद वा सूक्ष्मत्रस जीव (कुंथु आदि) चतुर्मास के काल में विशेष उत्पन्न हो जाते हैं अतः उक्त पदार्थों का अवश्यमेव साधुओं के लिये संग्रह करे । यदि पीठादि के विना चतुर्मास काल में निवास किया जाएगा तो भूमि आदि में विशेषतया त्रसजीवों के संहार होने की संभावना की जा सकती है क्योंकि-उक्त काल में संमूर्च्छिम जीव विशेष उत्पन्न होते रहते हैं पुनः जिस २ काल में जिन २ क्रियाओं को करना है जैसे कि-प्रतिलेखना, प्रतिक्रमण और स्वाध्याय तथा ध्यान कायोत्सर्गादि वे क्रियाएँ उसी २ काल में समाप्त करनी चाहिएं अर्थात् समय विभाग के द्वारा कालक्षेप करना चाहिये । जब समय विभाग के द्वारा कालक्षेप किया जाता है तब आत्मा ज्ञानावरणीयादि कर्मों को क्षयकर निजानन्द में प्रविष्ट हो जाता है; साथ ही आलस्य का परित्याग

हो जाने से आचार्य फिर गच्छ की सारणा वारणादि क्रियाएँ सुखपूर्वक कर सकेगा ३ फिर अहंकार भाव को छोड़ कर दीक्षा गुरु वा श्रुत गुरु तथा दीक्षा में वड़ा उनकी विनय भक्ति करने वाला हो जैसे कि-जब उन का पधारणा होवे तब उनको आते हुए देखकर अभ्युत्थानादि सम्यग् रीति से करना चाहिए फिर आहार वा औषधि तथा उनकी इच्छानुसार उपाधि आदि के द्वारा उनका सत्कार करना चाहिए। सारांश इस का इतना ही है कि-अंहकार भाव से सर्वथा रहित हो।

गुरुओं की विधिपूर्वक पर्युपासना करनी चाहिये यदि ऐसे कहा जाए कि-गुरु पंचम साधु पदमें है और शिष्य तृतीय आचार्य पदमें है तो फिर वह तृतीय पदवाला पंचम पदकी पर्युपासना किस प्रकार करसकता है? इसका समाधान यह है कि-जैनमत का मुख्य विनयधर्म है अतएव सिद्धान्त में लिखा है कि-जहाहि अग्गि जलणं नमंसे। नाणाहुइ मंत्र पयाभिसित्तं एवायरियं उवचिट्ठइज्जा अणंत नाणोवगओविसंतो (दशवैकालिक सूत्र० अ. ९ उद्देश १ गाथा ११)

अर्थ—जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि को नमस्कार करता है तथा नाना प्रकार आहुति, और मंत्र पदों से अग्नि को अभिसिक्त करता है उसी प्रकार शिष्य आचार्य (गुरु) की अनंत ज्ञानके उत्पन्न होजाने पर भी भक्ति और विनय करे तथा जिसप्रकार अग्निहोत्रीपुरुष सदैव अग्नि के ही पास रहता है उसी प्रकार शिष्य गुरुकुलवासी रहे, तथा जिस प्रकार राज्य अवस्था के मिलजाने पर फिर वह राजकुमार अपने मातापिता की विनय करता है ठीक उसीप्रकार आचार्य पदके मिलजाने पर दीक्षावृद्धों की पर्युपासना करता रहे क्योंकि-आचार्य पद केवल गच्छवासी साधु-और साध्वियों की तथा श्रावक वा श्राविकाओं की रक्षा करनेके लिये ही होता है परन्तु विनय भक्ति के व्यवच्छिन्न करने के लिये नहीं क्योंकि-आचार्यका कर्त्तव्य है कि अपनी पवित्र आज्ञा द्वारा संघसेवा करता रहे और विनय धर्म को कदापि न छोड़े इसीलिये सूत्र में प्रतिपादन किया है कि आचार्य गुरु पर्युपासना करता रहे क्योंकि आज्ञा प्रदान करना कुछ और वात है गुरु भक्ति करना कुछ और वात है सो यही संग्रहपरिज्ञा नामक संपत् का चतुर्थ भेद है इस प्रकार आठ प्रकार की संपत् का वर्णन किये जाने पर अव चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति विषय सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं जिस का आदिम सूत्र निम्न प्रकार से है :--

आयरिओ अंतेवासीएमाए चउव्विहाए विणयपडिवत्तीएविणइत्ता

भवइ निरणत्तंगच्छइ तंजहा-आयाराविणएणं १ सुयविणएणं २ विखेवणा विणएणं ३ दोसग्निघायणाविणएणं ॥४॥

अर्थ-आचार्य स्वकीय शिष्यको यह वक्ष्यमाण चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति सिखाकर निर्ऋण होजाता है जैसेकि--आचार विनय१ श्रुतविनय २ विक्षेपणा विनय ३ दोषनिर्घातना विनय ४ ॥

सारांश- इस सूत्र का यह मन्तव्य है कि--आचार्य अपने शिष्य को चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति (आचारण) सिखलाकर निर्ऋण हो क्योंकि-जिस प्रकार पुत्रको धार्मिक और विद्वान् बनाना माता पिताका कर्तव्य है उसी प्रकार आचार्य का यह मुख्य कर्तव्य है कि--अपने शिष्यको चार प्रकार की विनय की आचरणता सिखलाकर निर्ऋण हो। इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि--यदि आचार्य शिष्यको विनय शिक्षा नहीं देगा तो फिर वह शिष्य का ऋणी रहेगा इसी वास्ते सूत्रकार ने यह शब्द देदिया है-कि चार प्रकार की विनय शिक्षा देकर आचार्य ऋण-मुक्त हो सकता है यथाः-आचार विनय १ श्रुतविनय २ विक्षेपणा विनय ३ दोषनिर्घातना विनय ४ प्रथम आचार विनय इसलिये कथन किया गया है कि--आचरण की शुद्धि हो जाने पर ही श्रुतादि विनय सफलता को प्राप्त हो सकती है यदि सदाचार से रहित है तो फिर उसके श्रुतादि विनय भी कांतिहीन होकर लोक में उपहास का कारण बन जाते हैं तथा सदाचार से हीन व्यक्ति को फिर अपनी प्रतिष्ठादिक भंग के भय से श्रुतादिकी भी अविनय करनी पड़ती है।

अब सूत्रकार प्रथम आचार विनय के भेदों विषय कहते हैं:--

सेकिंतं आयार विणए आयारविणए चउव्विहा पएणत्ता तंजहा-संजम सामायरियावि भवइ १ तवसामायरियावि भवइ २ गणसामायरियावि भवइ३ एकल्लविहार सामायरियावि भवइ ४ सेतं आयारविणय ॥ १ ॥

अर्थ-(प्रश्न) हे भगवन् ! आचार विनय किसे कहते हैं ? (उत्तर) हे शिष्य ! आचार विनय चार प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसे कि--संयम समाचारी का ज्ञान प्राप्त करना १ तप समाचारी के ज्ञान को प्राप्त करना २ गण समाचारी की योग्यता प्राप्त करना ३ और एकत्व विहारी के गुणों का बोध प्राप्त करना ४। यह आचार विनय के भेद हैं।

सारांश-शिष्य ने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! आचार विनय किसे कहते हैं और उसके कितने भेद प्रतिपादन किये गये हैं ? गुरु ने उत्तर में कहा कि-हे शिष्य ! स्वयं शुद्ध आचार का पालन करना और अन्य आत्माओं के आचार को ठीक करना इसी का नाम आचार विनय है परन्तु इस के मुख्य चार भेद हैं

जैसेकि आचार्य आप शुद्धाचरण धारण करे और अपने शिष्य को संयम समाचारी का ठीक २ बोध करावे यथा-पंचाश्रवाद्विरमणं पंचेंद्रियनिग्रहः कषायजयः दंडत्रयविरतश्च संयमः सप्तदश विधः ॥ १ ॥ अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पांचों आश्रवों की विरति करना और श्रोतेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय घ्राणेंद्रिय रसेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय इनका निग्रह करना फिर क्रोध, मान, माया और लोभ का जीतना तथा मन वचन और काया का वश में करना यह सर्व १७ प्रकार के संयम के भेद हैं। आचार्य स्वयं इन भेदों पर आचरण करता हुआ फिर इनका पूर्ण बोध अपने शिष्य को करावे। इसी प्रकार १२ प्रकार के तप के भेदों को भी अपने शिष्य को सिखलाता हुआ आप भी यथाशक्ति तप धारण करे तथा जो व्यक्ति तप करने से हिचकिचाते हों उन को तपका माहात्म्य दिखलाकर तप में उत्साहित करे। सूत्रों में तप के १२ बारह भेद वर्णन किए गए हैं जैसे कि-अनशन १ ऊनोदरी २ भिक्षाचरी ३ रसपरित्याग ४ कायक्लेश ५ और प्रतिसंलीनता ६ प्रायश्चित्त ७ विनय ८ वैयावृत्त्य ९ स्वाध्याय १० ध्यान ११ और कायोत्सर्ग १२ इनका सविस्तर स्वरूप औपपातिकादि सूत्रों से जानना चाहिये। सो आचार्य शिष्यको उक्त तपोंके विधि विधानादि से परिचित कराए। तप समाचारी के पश्चात् फिर आचार्य गण समाचारी का शिष्य को बोध कराए जैसे कि-गण के उपाधिधारियों के क्या २ कर्तव्य हैं तथा अन्य गण के साथ किस प्रकार वर्त्ताव करना चाहिए किस प्रकार अन्य गणके साथ वंदनादिका संभोग जोड़ना चाहिए और किस प्रकार अन्यगण से पृथक् हो जाना चाहिए वा स्वगण में जो मुनियों के कई कुल होते हैं उनके साथ किस प्रकार वर्त्ताव करना चाहिए वा जो स्वगण में क्रियाकांड की शिथिलता आगई हो उसे किस प्रकार दूर करना चाहिए अथवा अपनेही गण में जो साधु प्रत्युपेक्षणादि में शिथिल होजावें तो उनको किस प्रकार सावधान करना चाहिए। इसी प्रकार स्वगण में जो बाल दुर्बल ग्लानादि युक्त साधु हैं उनकी किस प्रकार वैयावृत्त्य (सेवा) करनी चाहिए इस प्रकार की गण सामाचारी को आचार्य आप धारण करता हुआ अपने शिष्य को यथाविधि शिक्षित करे जब गण समाचारी का पूर्ण बोध होजावे तो फिर एकाकि विहार प्रतिमा की समाचारी का शिष्य को ज्ञान कराए क्योंकि गणसे पृथक् होकर ही एकल्ल-विहार प्रतिमाका ग्रहण हो सकता है वा साधु की १२ प्रतिमा [प्रतिज्ञाओं] के धारण करने की यथाविध विधि का शिष्य को बोध कराए। इतनाहीं नहीं किन्तु उक्त समाचारी को आप धारण करे और अपने शिष्यों को धारण कराए, कारण कि सूत्रोक्त विधि से यदि एकल्लविहार प्रतिमा धारण कीजाए तो परमनिर्जराका कारण होता है अतएव आचार्य सर्व प्रकार से एकल्ल विहार प्रतिमा

की विधि विधान को स्वशिष्य को सिखलाकर ऋणमुक्त हो इसीका नाम आचार विनय है ॥ आचार विनयवान् को किया हुआ श्रुतदान सफल हो सकता है अतः अब सूत्रकार श्रुतविनय विषय कहते हैं:—

सेकिंतं सुयविणय ? सुयविणय चउव्विहे पण्णत्ता तंजहा—सुत्तं वाएइ १ अत्थं वाएइ २ हियं वाएइ ३ निसेस्सं वाएइ ४ सेतंसुयविणए ॥२॥

अर्थ—(प्रश्न) हे भगवन् ! श्रुतविनय किसे कहते हैं ? (गुरु) हे शिष्य! श्रुतविनय चार प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसे कि-सूत्रवाचना १ अर्थ वाचना २ हितवाचना ३ और निशेष वाचना ४ । इसी का नाम श्रुतविनय है ।

सारांश—शिष्य ने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! श्रुतविनय किसे कहते हैं ? इसके उत्तर में गुरु ने प्रतिपादन किया कि—हे शिष्य ! सूत्र को विधिपूर्वक पठन कराना इसी का नाम सूत्रविनय है । इसके चार भेद हैं जैसे कि प्रथम-संहिता और पदच्छेदपूर्वक अस्खलितरूप से अंगशास्त्र वा उपांगादि शास्त्रों का अध्ययन कराना चाहिए क्योंकि-सूत्र शब्द की यही व्युत्पत्ति कथन की गई है कि-"सूत्र्यन्ते सूच्यन्ते वा अर्था अनेनेति सूत्रं" अर्थात् जिसके द्वारा अर्थों की सूचना की जावे तथा अर्थ एकत्र किए जावें उसी का नाम सूत्र है । तथा जिस प्रकार सूई वस्त्र को डोरे से सी देती है उसी प्रकार जो अर्थों को सी रहा है उसी का नाम सूत्र है । इस प्रकार के सूत्रों को आप अध्ययन करे और अन्य शिष्यों को अध्ययन करावे । उसीका नाम सूत्रवाचना है । यद्यपि 'सूत्र' शब्द अल्प अक्षर और बहुत अर्थ वाले वाक्य के लिये ही रूढि से प्रवृत्त हो रहा है परन्तु जहां पर अभेदोपचारनय के मत से समग्र ग्रंथ का नाम भी सूत्र माना गया है जैसेकि-आचारांग सूत्र सूयगडांग सूत्र, इत्यादि । सो जब अस्खलित रूप से सूत्र वाचना ठीक हो जाय तब फिर द्वितीय अर्थ वाचना शिष्य को देनी चाहिए जैसेकि- जब सूत्र वाचना समाप्त हो चुके तो फिर निर्युक्ति भाष्यादियुक्त अर्थ वाचना शिष्य को करानी चाहिए क्योंकि-जब संहिता और पदच्छेद सूत्र का हो चुका तो फिर पदार्थ होना चाहिए क्योंकि—नूतन विद्यार्थी को शब्दार्थ वृत्ति ही परमोपयोगी होती है उसके द्वारा वह सूत्र के शब्दार्थ को भली प्रकार जान सकता है जब उसकी गति पदार्थ में ठीक हो जाए तब उसको फिर पदविग्रह करके दिखलाने चाहिएं अर्थात् जो शब्द समासान्त हों उन्हें पद विग्रह करके दिखला देना चाहिए । इस प्रकार करने से छात्र के अन्तःकरण में सूत्रों का अर्थ अंकित हो जाता है फिर वह किसी प्रकार से भी विस्मृत नहीं होने पाता अतएव इसका नाम अर्थवाचना है । तृतीय वाचना का नाम हितवाचना है इसका मन्तव्य यह है कि-जिस प्रकार अपनी आत्मा

और विद्यार्थीकी आत्माका हित हो उसी प्रकार वाचना देनी चाहिए अर्थात् योग्यता देखकर ही सूत्रका अर्थदान करना चाहिए क्योंकि-जिस प्रकार मिट्टी के कच्चे (आम) घट (घड़) में जल डालने से घट और जल दोनों का विध्वंस होजाता है ठीक उसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति को योग्यता विना पठन कराने से उस व्यक्ति और ज्ञान दोनों का विनाश हो जाता है इसलिए जिस प्रकार उस विद्यार्थी का ज्ञान द्वारा हित हो सके वही क्रम ग्रहण करना उचित है। इस कथन का सारांश यह है कि-पठन इस लिए कराया जाता है कि-ज्ञान की प्राप्ति हो और चित्त की समाधि (शांति) उत्पन्न की जाए। जब अयोग्यता से पठन कराया गया तब उक्त दोनों कार्यों की सफलता पूर्णतया नहीं हो सकती अतएव हित वाचना द्वारा अपना और शिष्य का हित करना चाहिए जब हितवाचना की समाप्ति हो जावे तब फिर चौथी निशेषवाचना द्वारा सर्व प्रकार से शंका समाधान करना चाहिए तथा प्रारब्धसूत्र की समाप्ति के पश्चात् ही अन्य सूत्र का प्रारंभ करना चाहिए अथवा प्रमाण निक्षेप नय और सप्तभंगादि के द्वारा सूत्र के भावों को जानना चाहिए क्योंकि-यावन्मात्र प्रश्न हैं उनके समाधान सर्व निशेष वाचना द्वारा किए जाते हैं अतः निशेष-वाचना अवश्यमेव पठन करानी चाहिए। इस प्रकार श्रुतविनय के कहे जाने के पश्चात् अब सूत्रकार विक्षेपणा विनय विषय कहते हैंः—

सेकिंतं विखेवणा विणए ? विखेवणा विणय चउव्विहे पणत्ता तंजहा-अदिट्ठ धम्म दिट्ठ पुव्वगत्ताए विणत्ता भवइ १ दिट्ठपुव्वगं साहम्मिय-त्ताए विणएत्ता भवइ २ चुय धम्माउ धम्मे ठावइत्ता भवइ ३ तस्सेव धम्मस्स हियाए सुहाए खमाए निसेस्साए अणुगामियत्ताए अब्भुट्ठेत्ता भव-इ ॥ ४ ॥ सेतं विखेवणा भवइ ॥

अर्थ—(प्रश्न) हे भगवन् ! विक्षेपणा विनय किसे कहते हैं ? (उत्तर) हे शिष्य ! विक्षेपणा विनयके चार भेद प्रतिपादन किए गए हैं जैसे कि-जिन आत्माओंने पहिले सम्यक्त्वरूप धर्म का अनुभव नहीं किया उन आत्माओंको सम्य-क्त्वरूप धर्म में स्थापन करना चाहिए १ जिन्होंने सम्यक्त्वरूप धर्म प्राप्तकर लिया है उन जीवों को साधर्म्यतामें स्थापन करना चाहिए २ जो धर्म से पतित होते हों उन्हें धर्म में स्थिर करना चाहिए ३ और सदैवकाल श्रुत और चारित्र धर्म का महत्व दिखलाना चाहिए जैसे कि-हे भव्यजीवो ! श्रुत और चारित्र धर्म हितकारी है, सुखकारी है, समर्थ है, मोक्षके लिये मुख्य साधन है, जन्म २ में साथ चलनेवाला है। अतएव इसको अवश्यमेव धारण करना चाहिए ॥ ४ ॥

सारांश-शिष्य ने प्रश्न किया कि-हे भगवन्! विक्षेपणाविनय किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं? इस प्रश्न के उत्तर में गुरु ने प्रतिपादन कियाकि-हे शिष्य! मिथ्यात्व से हटाकर धर्म में स्थापन करना उसको विक्षेपणा विनय कहते हैं सो इस विनय के मुख्य चार भेद हैं जैसे कि-जिन आत्माओं ने धर्म के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझा इतनाही नहीं किन्तु पदार्थों के ठीक स्वभाव को तथा सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र के मार्ग को ठीक नहीं पहचाना उन व्यक्तियों को श्री अर्हन् देवद्वारा प्रतिपादन किये हुए सत्यधर्म के पथ में लगाना चाहिए। इस विनय के कथन करने का उद्देश्य यह है कि-जैनेतर लोगों को जैन धर्म में स्थापन करना चाहिए १ फिर जिन्होंने धर्मपथ सम्यगरूप से धारण कर लिया हो उनजीवों को सर्व वृत्तिरूप धर्म में स्थापन करना चाहिए अर्थात् जिन आत्माओं की इच्छाएँ दीक्षा धारण करने की हों उन आत्माओं को दीक्षित कर साधुसंघमें स्थापन करना चाहिए अर्थात् उनको साधर्मिक बनाना चाहिए २ जब कोई आत्मा धर्मपथ से पतित होता हो वा किसी कारणवश धर्म छोड़ता हो तो सम्यगतया शिक्षितकर धर्म पक्ष में स्थिर करदेना चाहिए क्योंकि शिक्षित किया हुआ भव्य आत्मा धर्म में शीघ्रही निश्चलता धारण करलेता है ३ इतना ही नहीं किन्तु धर्म को हित, सुख और सामर्थ्य के लिये तथा मोक्ष के लिये भवभवान्तर में साथ ही चलने के लिये धारण करना चाहिए अर्थात् सुखादि के लिए धर्म में सदैव कटिबद्ध रहना चाहिए ४ इसके कथन करने का सारांश केवल इतना ही है कि—इस क्रम से धर्म प्रचार करते हुए प्राणीमात्र को मोक्षमार्ग में प्रविष्ट करना चाहिए। साथही सकल कर्मक्षय करके आप भी निर्वाणप्राप्ति के लिए उद्यम करना चाहिए साथही उपदेशक वर्ग को इस सूत्र से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि—जिन आत्माओं ने पहिले कभी धर्म का परिचय प्राप्त नहीं किया उन आत्माओं को ही धर्मोपदेश द्वारा शिक्षित करना चाहिए किन्तु जिन्होंने धर्म के स्वरूप को जाना हुआ है उनको तो केवल साधार्मिक बनाने काही पुरुषार्थ करना चाहिए अतएव जैनेतर लोगों में धर्मोपदेश करने की सूत्रकर्त्ताने विशेष आवश्यकता प्रतिपादन की है सो इसी का नाम विक्षेपणा विनय है। अब सूत्रकार विक्षेपणा विनय के अनन्तर दोषनिर्घातना विनय के विषय में कहते हैं:-

सेकिंतं दोसनिग्घायणा विणय? दोसनिग्घायणा विणय चउव्विहा पएणत्ता तंजहा—कुद्धस्स कोहविणएत्ता भवइ १ दुट्ठस्स दोसं णिगिरिहत्ता भवइ २ कंखियस्स कंखाछिंदित्ता भवइ ३ आया सुप्पणिहितयावि भवइ ४ सेतं दोसनिग्घायणा विणए ॥

अर्थ--(प्रश्न) दोष निर्घातना विनय किसे कहते हैं ? (उत्तर) हे शिष्य ! दोष निर्घातना विनय के चार भेद प्रतिपादन किए गए हैं जैसे कि-क्रोधी के क्रोध को दूर करना चाहिए १ दुष्ट की दुष्टता को दूर करना चाहिए २ कांक्षित पुरुष की आकांक्षा पूरी करनी चाहिए ३ क्रोधादि से रहित शुद्ध और पवित्र आत्मा बनानी चाहिए अर्थात् सुप्रणिहितात्मा होना चाहिए इसी का नाम दोषनिर्घातना विनय है ॥

सारांश--शिष्य ने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! दोष निर्घातना विनय किसे कहते हैं और इस के कितने भेद हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में गुरु कहने लगे कि हे शिष्य ! दोष निर्घातना विनय उसी का नाम है जिस के द्वारा आत्मा से दोषों को निकाल बाहिर किया जाए इसके मुख्य चार भेद हैं जैसे कि-जिनको क्रोध करने का विशेष स्वभाव पड़ गया हो उनको क्रोधका कटुफल दिखलाकर तथा मृदु और प्रिय भाषण द्वारा क्रोध को दूर कर देना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार उनका क्रोध दूर हो सके उसी उपाय से उनका क्रोध दूर कर देना चाहिए। जिस प्रकार विष भी युक्तियों से औषधी के रूप को धारण करता हुआ अमृतरूप हो जाता है ठीक उसी प्रकार क्रोधरूपी विषको शास्त्रीय शिक्षाओं द्वारा शांत करना चाहिए तथा जिस प्रकार दावानल को महा मेघ अपनी धारा द्वारा शान्त कर देता है ठीक उसी प्रकार शास्त्रीय उपदेशों द्वारा क्रोध को शान्त कर देना चाहिए १ इसी प्रकार जो व्यक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ द्वारा दुष्टता को धारण किये हुए हो उस की भी शास्त्रीय शिक्षाओं द्वारा दुष्टता दूर कर देनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि-जिस व्यक्ति को दुष्टता धारण करने का स्वभाव पड़ गया हो उस के स्वभाव को शान्त भावों से वा शिक्षाओं द्वारा ठीक करना चाहिए २। इसी प्रकार संयम निर्वाह के लिए जिसको जिस वस्तु की आकांक्षा हो उसकी आकांक्षा पूरी कर देनी चाहिए। अन्न, पानी, वस्त्र, पात्र वा पुस्तक की आकांक्षा अथवा विहारादि की आकांक्षा सो जिस प्रकार की संयम विषयक आकांक्षा हो उसकी पूर्त्ति में बराबर सहयोग देना चाहिए तथा यदि किसी के मन में प्रवचन के विषय शंका हो तो उसकी शंका का समाधान भली प्रकार से कर देना चाहिए क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि-शंकायुक्त आत्मा को कभी भी समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतएव शंका अवश्यमेव छेदन करनी चाहिए। शंका रहित होकर फिर वह आत्मा शास्त्रोक्त क्रियाओं में निमग्न होता हुआ क्रोध, मान, माया और लोभरूप अंतरंग दोषों से विमुक्त होकर सुप्रणिहितात्मा हो जाता है अर्थात् उसका आत्मा सकल दोषों से रहित होकर शुद्ध और पवित्र होजाता है। इसीका नाम दोषनिर्घातना विनय है ॥

जब आचार्य ने शिष्यको उक्त प्रकार के विनय से शिक्षित कर दिया तब शिष्य को योग्य है कि-वह आचार्य की विनय करे, अतएव अब सूत्रकार शिष्य के करने योग्य विनय विषय कहते हैं ॥

तस्सेवं गुणजाइयस्स अंतेवासिस्स इमा चउव्विहा विणय पडिवत्ती भवइ तंजहा–उवगरण उपायणया १ साहिल्लया २ वणसंजलणया ३ भारपच्चोरुहणया ४ ॥

अर्थ—उस गुणवान् शिष्य की यह वक्ष्यमाण चार प्रकार से विनय प्रतिपत्ति प्रतिपादन की गई है जैसेकि-साधुओं के पहिरने योग्य उपकरण को उत्पादन करना १ अन्य का सहायक बनना २ गुणवान् के गुणका प्रकाश करना ३ गच्छ के भार को वहन करना अर्थात् भावभार को धारण करना। यद्यपि गच्छ का स्वामी आचार्य होता है तथापि शिष्य उस भार के वहने में सहायक बन जाता है ॥

सारांश–जिस प्रकार विनयादि के सिखलाए जाने पर गुरु ऋणमुक्त हो जाता है उसी प्रकार शिष्य भी विधिपूर्वक गुरु की विनय करने से ऋणमुक्त होने की चेष्टा करता है क्योंकि-विनय ही मूलधर्म है। सूत्रकार ने विनय के चार भेद प्रतिपादन किए हैं जैसेकि गच्छ के लिए उपकरण उत्पादन करना १ सहायता करना २ वर्णसंज्वलनता ३ और भारप्रत्यवतारणता ४।

अब सूत्रकार उपकरण उत्पादनता विनय विषय कहते हैं:-

सेकिंतं उवगरण उप्पायणया ? उवगरण उप्पायणया चउव्विहा पण्णत्ता तंजहा—अणुप्पण्णाइं उवगरणाइं उप्पाइत्ता भवइ १ पोराणाइं उवगरणाइं सारखित्ता भवइ २ संगोवित्ताभवइ परित्तं जाणित्तापच्चुद्धरित्ता भवइ ३ आहाविधं संविभइत्ताभवइ ४ सेतं उवगरण उप्पायणया ॥१॥

अर्थ-(प्रश्न) उपकरण उत्पादनताविनय किसे कहते हैं ! (उत्तर) हे शिष्य ! उपकरण उत्पादनता विनय के चार भेद हैं जैसेकि-अनुत्पन्न उपकरण को उत्पादन करना १ पुराणे उपकरण को संरक्षित रखना २ जीर्ण उपकरण को संगुप्त रखते हुए भी यदि किसी अन्य साधु का उपकरण अल्प रह गया हो तो अपना उपकरण उसको देदेना ३ फिर यथायोग्य बड़ों और छोटोंके लिये वस्त्रादि का संविभाग करना ४ यही उपकरणउत्पादनता विनय है ॥

सारांश–शिष्य ने प्रश्न किया कि—हे भगवन् ! उपकरणउत्पादनता विनय किसे कहते हैं और उस के कितने भेद हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में गुरु कहते हैं कि—हे शिष्य ! उपकरण उत्पादन विनय का अर्थ विधिपूर्वक

उपकरण को उत्पन्न करना है और उसके मुख्य चार भेद हैं जैसे कि--जो उपकरण अपने गच्छ में न हो उसको उत्पन्न करना १ संयम के निर्वाह के लिए जिन पदार्थों की आवश्यकता रहती है उसे उपकरण कहते हैं। जैसे कि-वस्त्र, पात्र, पुस्तकादि जो वस्त्रादि अपने गच्छ में न हों उन्हें गच्छ-वासी साधुओंके लिये उत्पन्न करने चाहिएं।

उक्त कार्य आचार्य स्वयं करे किन्तु यदि आचार्य श्रान्तहोगया हो वा उसकी स्वाध्यायादि क्रियाओं में विघ्न पड़ता हो तो शिष्य स्वयं गच्छवासी साधुओंके लिये अनुत्पन्न उपकरण को उत्पादन करे १ जो प्राचीन (पुराना) उपकरण हो उसे संरक्षित रखना चाहिए यदि उपकरण जीर्ण हो तो उसे गुप्त रखना चाहिए क्योंकि पुराणा वा जीर्ण उपकरण संरक्षित किया हुआ फिर पहि-रने में आसकता है क्योंकि जीर्णादि उपकरण सीए हुए वर्षाकालादि के समय प्रयोग में आसकते हैं २ जिस साधु के पास अल्प उपकरण हों उसको अपनी निश्राय का उपकरण देदेवे जिससे उसका आत्मा स्थिर होजावे कारण कि सुरक्षित होनेसे ही गच्छका महत्व वढ़ जाता है और ऐसे सुयोग्य आचार्य के गच्छ में निवास करते हुए साधु अपना कल्याण कर सकते हैं ३ जब कभी वस्त्रादि उपकरण के विभाग करने का समय उपस्थित हो तब यथायोग्य उप-करण देना चाहिए। बड़ेको वड़े के योग्य औरछोटे को उसके योग्य उपकरण देना उचित है॥ इसी का नाम उपकरण उत्पादन विनय है ॥ अब सूत्रकार इसके अनन्तर सहायता विनय विषय कहते हैं:--

सेकिंतं साहिल्लया ? साहिल्लया चउव्विहा पगणत्ता तंजहा-अणुलोम-वइ सीहतयावि भवइ १ अणुलोमकाय किरियत्ता २ पडिरूवकाय संफासणया ३ सवत्थेसु अपडिलोया ४ सेतं साहिल्लया ॥

अर्थ-(प्रश्न) सहायता विनय किसे कहते हैं ? (उत्तर) सहायता विनय के चार भेद हैं जैसकि-अनुकूल वचन वोलना वा बुलाना चाहिए १ अनुकूल काय द्वारा अन्य व्यक्तियों की सेवा करनी चाहिए २ जिस प्रकार अन्य व्यक्तियों को अपने द्वारा सुख पहुंचसके उसी प्रकार उनको यथाविधि सुख पहुंचाना चाहिए ३ सर्व कार्य करते हुए ऋजुता धारण करनी चाहिए अर्थात् मिथ्याभिनिवेश न करना चाहिए ॥ ४ ॥ सो इसे ही सहायता विनय कहते हैं।

सारांश—शिष्य ने प्रश्न किया कि—हे भगवन् ! सहायताविनय किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ? इस के उत्तर में गुरु कहने लगे कि-हे शि-ष्य ! अन्य प्राणियों को सुख पहुंचाना और उनके दुःख की निवृत्ति करना उस-का नाम सहायताविनय है। इस विनय के चार भेद हैं जैसेकि-प्रत्येक प्राणी

के साथ मधुर भाषण करना चाहिए क्योंकि मृदु भाषा से ही आत्माको बहुत सी शांति मिल जाती है १ यदि गुरु आदिके शरीर की सेवा करने का कभी समय उपस्थित हो जावे तो अनुकूलरीति से करे जिससे किसी भी शारीरिक अंगोपांग को क्षति न पहुंचे और उनकी आत्मा को शांति प्राप्त हो अर्थात् जिस प्रकार उनके शरीरको सुख प्राप्त हो उसी विधिसे सेवा करे। एवं संवाहनादि क्रियाएं भी उसी प्रकार करे जिस प्रकार उनको शांति प्रतीत हो २ सेवा करते समय किसी प्रकार का हठ वा मिथ्याभिमान न होना चाहिए अर्थात् जिस कार्य विषय गुरु ने नियुक्त किया है उस कार्य को सरलतापूर्वक करे। हठ वा मिथ्यानिवेश यह कृत्य नितान्त वर्जनीय हैं ४। इसको सहायता-विनय कहते हैं। इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि--यदि सेवा के अन्य अंग न ग्रहण किये जासकें तो विनय का प्रथम अङ्ग मृदु भाषा तो अवश्य ग्रहण करे क्योंकि-- मृदु भाषा के उच्चारण करने से दुःखित आत्माओं के बहुत सारे दुःखों का नाश हो जाता है। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में वृक्ष फल नहीं देसकता किन्तु उस समय उस की छाया उष्णता से पीड़ित व्यक्ति को सुखकारक बन जाती है उसी प्रकार मृदु भाषा दुःखित जीव को भी सुखी कर देती है।

इसके अनन्तर अब सूत्रकार वर्णसंज्वलनता विषय कहते हैं:-

सेकिंतं वएणसंजलणया? वएणसंजलणया चउव्विहा पएणत्ता तंजहा— अहातच्चाणं वाया भवइ १ अवएणवायं पडिहणित्ता भवइ २ वएणवायं अणुवुहित्ता भवइ ३ आयवुड्ढसेवियावि भवइ ४ सेतं वएण संजलणया ॥

अर्थ— (प्रश्न) वर्ण संज्वलनताविनय किसे कहते हैं और कितने भेदहैं? (उत्तर) वर्णसंज्वलनता विनय चार प्रकार से प्रतिपादन की गई है जैसेकि— यथार्थ गुणानुवाद करना १ जो अवर्णवादी है उसका निराकरण करना २ जो वर्णवादी है उसे धन्यवाद और उसके गुणों का प्रकाश करना ३ जो गुणों में अपने से अत्यन्त वृद्ध हैं उनकी सेवा करना ४ ॥ इसीका नाम वर्ण-संज्वलनता है ॥

सारांश--सहायता विनय के अनन्तर शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया कि— हे भगवन्! वर्णसंज्वलनता किसे कहते हैं और उसके कितने भेद हैं? इसके उत्तर में गुरु ने प्रतिपादन किया कि – हे शिष्य! आचार्य का यशोगान करना इसे वर्णसंज्वलनता विनय कहते हैं और उसके चार भेद हैं जैसे कि- आचार्यादि के यथार्थगुणों की प्रशंसा करना अर्थात् यशोकीर्त्ति विस्तृत करना १ जो व्यक्ति आचार्य वा श्रीसंघादि की निंदा करते हैं उनकी निन्दा प्रतिहनन करना

अर्थात् तिरस्कार वा उपालंभादि द्वारा उनको सुशिक्षित करना २ जो व्यक्ति आचार्यादि के यथार्थ गुणों का गान करते हैं उनका धन्यवाद वा उनके सद्गुणों का प्रकाश करना ३ जो महाव्यक्ति आत्मिक गुणों में पूर्ण हैं उनकी सेवा करना क्योंकि उनकी सेवा से आत्मिक गुणों की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार वर्णसंज्वलनता का वर्णन करते हुए अब सूत्रकार भारप्रत्यवतारणता विनय के विषय में कहते हैं:—

सेकिंतं भारपच्चोरूहणया ? भारपच्चोरूहणया चउव्विहा पएणत्ता तंजहा—असंगहीयं परिजणं संगहित्ता भवइ १ सेहं आयारगोयरगाहित्ता भवइ २ साहम्मियस्सागिलायमाणस्स अहाथामं वेयावच्चे अब्भुट्ठित्ताभवइ ३ साहम्मियाणं अहिकरणंमि उप्पएणं स तत्थ अणिस्सितो वसिएवसितो अप्पक्खग्गाही मज्झत्थ भावभूए समंववहारमाणे तस्सअहिकरणस्सखामणविउ समणयाए सयासमियं अब्भुठेत्ता भवइ कहंतुसाहम्मिया अप्पसद्दा अप्प झंझा अप्पकलहा अप्प कसाया अप्पतुमंतुमा संजम बहुला संवर बहुला समाहि बहुला अप्पमत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणाणं एवंचणं विहरेज्जा ॥ ४ ॥ सेतं भारपच्चोरूहणया एस खलुसा थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविहा गणिसंपया पएणत्ता त्तिबेमि योत्थिया दसा समत्ता।

अर्थ--(प्रश्न) हे भगवन्! भारप्रत्यवतारणताविनय किसे कहते हैं? (उत्तर) हे शिष्य! यदि आचार्य गच्छ के भार को शिष्य के सपुर्द कर दे उसका नाम भारप्रत्यवतारणता विनय है। उसके चार भेद प्रतिपादन किए गए हैं जैसे कि—असंगृहीत को संगृहीत करना १ शिष्य को आचार गोचार सिखाना २ ग्लानिक स्वधर्मी की यथाशक्ति वैयावृत्य करना ३ साधर्मिक व्यक्तियों में क्लेश उत्पन्न होजाने पर निर्पक्ष होकर माध्यस्थ भाव धारण करके सम्यग्प्रकार से श्रुतव्यवहार को प्रयोग में लाकर क्लेश को शान्त करने के लिए सदैवकाल उद्यत रहना ताकि क्लेश के स्थान पर समाधि उपस्थित हो ४। फिर अप्रमत्त होकर संयम और तपके द्वारा अपनी आत्माकी भावना चिन्तन करता हुआ विचरे। इस प्रकार उक्त विनय का पालन करना भारप्रत्यवतारणता विनय कहा जाता है।

सारांश--शिष्य ने प्रश्न किया कि--हे भगवन्! भार प्रत्यवतारणता विनय किसे कहते हैं और उसके कितने भेद प्रतिपादन किये गए हैं? इसके उत्तर में गुरु ने प्रतिपादन किया कि--हे शिष्य! जिस प्रकार राजा अपने

सुयोग्य अमात्यादि को राज्य का भार समर्प्पण कर आप निश्चिन्त हो जाता है ठीक उसी प्रकार आचार्य सुयोग्य शिष्यको गच्छ का भार देकर आप निश्चिन्त होकर समाधि में लीन हो जाता है। इसे ही भारप्रत्यवतारणता विनय कहते हैं। इसके चार भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसे कि-जो शिष्य असंगृहीत हैं अर्थात् जिनके गुरु आदि काल कर गए हैं और क्रोधी होने के कारण या किसी अन्य कारणवश उन्हें कोई संगृहीत न करता हो ऐसे शिष्य समूह को आचार्य या उसका शिष्य अपने पास रक्खे १ एवं नूतन दीक्षित शिष्यों को ज्ञानाचार १ दर्शनाचार २ चारित्राचार ३ तपाचार ४ और बलवीर्याचार ५ के सिखलाने के लिये अपने पास रक्खे और विधिपूर्वक उक्त आचार विधि से उनको शिक्षित करे २। यदि साधार्मिक साधु ग्लानावस्था को प्राप्त हो गया हो अर्थात् रुग्णावस्था में हो तो प्रेमपूर्वक यथाशक्ति उसकी सेवा भक्ति करे क्योंकि रोगी की सेवा करने से कर्मों की निर्जरा और अनंत ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है ३ यदि साधार्मिक जनों में क्लेष उत्पन्न होगया हो तो आचार्य के शिष्य का कर्तव्य है कि ऐसा समय उपस्थित हो जाने पर विना पक्ष ग्रहण किये माध्यस्थ भावका अवलंबनकर सम्यग् प्रकार श्रुतव्यवहारका वर्त्ताव करता हुआ उस कलह के क्षमण के वास्ते सदैवकाल उद्यत रहे। शिष्य ने फिर प्रश्न किया कि हे भगवन्! क्लेषके शान्त करने के वास्ते क्यों उद्यत रहे? इस के उत्तर में गुरु लौकिक वा लोकोत्तर फलादेश दिखलाते हुए कहते हैं कि-हे शिष्य! जब क्लेष शान्त होजायगा तब साधार्मिकों में परस्पर कठोर शब्द भाषण अल्प होजाएगा क्योंकि कलह के समय अनेक अपशब्द बोलने पड़ते हैं। अतिरिक्त क्रोधवश होते हुए झंझायमान न होंगे अर्थात् अव्यक्त शब्द न बोले जाएंगे। वाग् युद्धसे बचे रहेंगे। क्रोध, मान, माया और लोभ के चक्र से विरक्त रहेंगे। परस्पर विनय शब्दों को छोड़कर 'तूंतूं' भी नहीं करेंगे अपितु उक्त बातों के स्थानपर संयम की अत्यन्त वृद्धि होगी। संवर की भी अत्यन्त वृद्धि होजायगी। ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप समाधि बढ़ेगी। इतना ही नहीं अपितु अप्रमत्त होकर संयम और तप द्वारा अपनी आत्मा की शुद्धि करते हुए विचरेंगे। इसीका नाम भारप्रत्यवतारणता विनय है। अतः इसप्रकार स्थविर भगवंतोंने आठ प्रकार की गणिसंपत् प्रतिपादन की है। श्री सुधर्म्मा स्वामी श्री जंबू स्वामि प्रति कहते हैं कि-जिस प्रकार मैंने श्री श्रमण भगवान् महावीर प्रभुसे इस विषय में श्रवण किया था उसी प्रकार मैंने तुम्हारे प्रति कहा है। इस प्रकार दशाश्रुतस्कंधसूत्र के चतुर्थाध्ययन की समाप्ति की गई है। सो आचार्य उक्त संपत् के धारण करने वाला अवश्य हो। आचार्य के छत्तीस गुण कोई २ आचार्य इस प्रकार से भी मानते

हैं जैसेकि आठ संपदोंके चार २ भेद, सर्व भेद एकत्र करने से ३२ हुए और चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति के मिलाने से ३६ गुण होजाते हैं परन्तु मन्तव्य यह है कि-आचार्य समग्र गुणों से संयुक्त हो ताकि गण की सम्यग्तया रक्षा कर सके क्योंकि गुणों में एक स्वाभाविक शक्ति होती है जो अन्य व्यक्तियों को स्वयमेव आकर्षित करलेती है। जिसप्रकार गच्छमें आचार्य मुख्य माना जाता है ठीक उसी प्रकार द्वितीय अंकपर उपाध्याय का नाम है। गच्छ के मुनियोंको सुयोग्य बनाना तथा योग्यतापूर्वक उनको श्रुताध्ययन कराना यही उपाध्याय का मुख्य प्रयोजन है। क्योंकि—श्रुतपुरुषके ११ एकादशांग और १४ पूर्व अवयवांग हैं। उपाध्याय उन अंगों वा पूर्वोंको आप पढ़े और परोपकारके लिये अन्य योग्य व्यक्तियों को पढ़ाए। यही मुख्य २५ गुण उपाध्याय जी के हैं। इसका मूल कारण यह है कि—स्थानांग सूत्र के द्वितीय स्थान में लिखा है कि—अनादि संसार चक्र से पार होने के लिए श्री भगवान् ने दो मार्ग बतलाए हैं अर्थात् दो स्थानों से जीव अनादि संसार चक्र से पार होजाते हैं जैसेकि—"विज्जाए चेव चरित्तेण चेव" विद्या और चारित्र से। इस कथनका सारांश यह है कि-जबतक सद् वा आध्यात्मिक विद्या सम्यग्तया उपलब्ध नहीं होती तबतक धार्मिक विषयों में भी पूर्णतया निपुणता नहीं मिल सकती। धार्मिक विषयों में निपुणता न होने पर फिर आत्मा और कर्मोंका जो परस्पर क्षीरनीरवत् सम्बन्ध होरहा है उसका बोध किस प्रकार होसकता है। यदि कर्म और आत्मा के विषय में अनभिज्ञता है तो फिर उनके पृथक् २ करने के लिए यत्न किस प्रकार किया जायगा? अतएव प्रथम श्रुतविद्या के अध्ययन करने की अत्यन्त आवश्यकता है। जब श्रुताध्ययन भली प्रकार से होगया तो फिर उस श्रुत से निश्चित किये हुए कर्मके सम्बन्ध को आत्मा से पृथक् करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है सो जो क्रियाएं आत्मा से कर्मों को पृथक् करने के लिये धारण की जाती हैं, उन्हीं का नाम चारित्र है। इसीलिए शास्त्रकारने पहिले ही यह प्रतिपादन करदिया है कि—विद्या और चारित्र से आत्मा अनादि संसार चक्र से पार होजाते हैं। इस श्रुत के अध्ययन कराने के लिये उपाध्याय पद नियुक्त किया गया है॥

उपाध्याय जी के २५ गुण कथन किए गए हैं जैसेकि-११ अंगशास्त्र और चतुर्दश १४ पूर्व। एवं श्रुतज्ञान के २५ मुख्य शास्त्रों को आप पढ़े और अन्य योग्य व्यक्तियों को पढ़ावे जिससे श्रुतज्ञान द्वारा अनेक भव्य प्राणियों का कल्याण होसके। अब भव्य जीवों के प्रतिबोध के लिये पहले अंगशास्त्रों का किंचित् परिचय दिया जाता है।

आचारांग १ सूत्रकृतांग २ स्थानांग ३ समवायांग ४ भगवत्यंग ५ धर्मकथांग ६ उपासकदशांग ७ अन्तकृतदशांग ८ अनुत्तरोपपातिक ६ प्रश्नव्याकरणांग १० विपाक ॥११॥

यह ११ अंग शास्त्रों के नाम हैं। अब इन के प्रकरण विषय में कहा जाता है जैसे कि-

१ आचारांग सूत्र के दो श्रुत स्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतके नव अध्ययन और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन हैं इस श्रुतके ८५ उद्देशनकाल हैं और इस श्रुत में पंचाचार का बड़ी विचित्र रचना से विवेचन किया गया है जैसेकि—ज्ञानाचार-(ज्ञान विषय) दर्शनाचार (दर्शनविषय) चारित्राचार (चारित्र विषय) तपाचार (तपविषय) बलवीर्याचार (बलवीर्य विषय) गोचर्याचार (भिक्षा-विधि) विनयाविचार (विनय विषय) विनय करने की शिक्षा तथा कर्मक्षय करने की शिक्षा, भाषा बोलने की विधि,ना बोलने योग्य भाषा विषय सविस्तर कथन किया गया है जैसेकि-अमुक भाषा साधु के बोलने योग्य है और अमुक भाषा नहीं है तथा चारित्र का बड़ी उत्तम विधि से वर्णन किया गया है। उसी प्रकारजो साधुकी क्रियाविधि है उसको भी बड़ी प्रधान विधि से प्रतिपादन किया है। साथ ही माया (छल) विधि के करने का निषेध किया गया है क्योंकि धर्म की साधना ऋजु भावों से ही होसकती है नतु कुटिल बुद्धि से। अतएव इस श्रुतमें प्रायः साधुओंका आचार बड़ी प्रिय और सुन्दर शैलीसे वर्णन किया गया है। साथ ही श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की जीवनी भी संक्षिप्त शब्दों में दीगई है। इस श्रुत के संख्यापूर्वक ही सर्व वर्णादि हैं और औपपातिक सूत्र इसी श्रुतका उपांग है उसकी उपोद्घात में कुणिक राजा की श्रीभगवान् महावीर स्वामी प्रति जो हार्दिक भक्ति थी उसका भी दिग्दर्शन कराया गया है और अंत में २२ प्रश्नोत्तरों में एक मनोरंजक प्रकरण दिया गया है जिससे प्रत्येक प्राणीके आचरणानुसार उसकी भावी गति का सहज में ही ज्ञान हो सकता है क्योंकि भूमि के शुद्ध होने पर फिर कृषिकर्म की क्रियाएँ की जासकती हैं। उसी प्रकार सदाचार के ठीक हो जाने से ही अन्य गुणों की सहज में ही प्राप्ति हो सकती है। इस मूल सूत्र के १८ सहस्र (१८०००) पद कथन किये गये हैं "मूलतोऽधिकार समारभ्य तत्समाप्ति यावत् पदमित्युच्यते" अर्थात् जिस प्रकरण का आरंभ किया गया है जब उस प्रकरण की समाप्ति हो जावे उस की पद-संज्ञा है। प्रत्येक व्यक्ति को सदाचार की पुष्टि के लिये योग्यतानुसार इस श्रुत का पठन पाठन कराना चाहिए॥

१—द्वादशवां दृष्टिवादाङ्ग है उसका आजकल व्यवच्छेद है।

२ सूत्रकृताङ्ग सूत्र—इस सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुत के १६ अध्ययन हैं । द्वितीय श्रुतस्कंधके सात अध्ययन हैं—और ३३ इस सूत्रके उद्देश हैं। इसमें इस लोक और अलोक की सूचना है । इतनाही नहीं किन्तु जैनमत के स्याद्वाद मतानुसार जीव वा अजीव की बड़ी विस्तार से व्याख्या की गई है। साथ ही परमत के माने हुए अनेक मतोंका दिग्दर्शन कराया गया है। एवं उन मतों में जो त्रुटियें हैं उनका भी दिग्दर्शन कराया गया है। अन्त में निर्वाण प्राप्ति के लिये पंडित पुरुषार्थ करना चाहिए, इस विषय का विषद उपदेश किया गया है । ३६ सहस्र (३६०००) इस सूत्र के पद हैं इस सूत्र का उपांग राजप्रश्नीय सूत्र है। इस सूत्रमें महाराज प्रदेशी के माने हुए नास्तिक मत का स्वरूप कथन किया गया है और साथ ही भगवान् श्री-पार्श्वनाथ जी के शिष्यानुशिष्य श्री केशीकुमार श्रमण के साथ जो महाराज प्रदेशी के नास्तिकमत सम्बन्धी प्रश्नोत्तर हुए हैं वे भी दिखलाए गए हैं। तदनन्तर महाराज प्रदेशी ने जब आस्तिकमत ग्रहण कर लिया और फिर सम्यगतया श्रावक धर्म का पालन किया उसका फलादेश भी भली प्रकार से दिखलाया गया है। जैनमत वा परमतके स्वरूप को जानने के लिये मुमुक्षु जनों के हितार्थ यह सूत्र अत्यन्त उपयोगी है ।

३ स्थानाङ्ग सूत्र-इस सूत्र में पदार्थों के भावोंका दिग्दर्शन कराया गया है । एक स्थान से लेकर दश स्थानतक प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप को प्रतिपादन किया गया है। साथ ही सामान्य वा विशेष तथा पक्ष प्रतिपक्ष पदार्थों का स्वरूप दिखलाया गया है । संसार में यावन्मात्र पदार्थ हैं वे प्रतिपक्षी पदार्थों के होने से ही अपनी सत्यता सिद्ध करते हैं यथा-यदि जीव पदार्थ है तब उसी का प्रतिपक्ष अजीव पदार्थ भी है। अजीव पदार्थ के मानने परही जीवपदार्थ की सिद्धि की जासकेगी, जिस प्रकार किसीने कहा कि-यह बड़ा विद्वान है, ऐसा तभी कहा जायगा जब कहनेवालेको मूर्खोंका भी बोध होगा। इसी प्रकार जब किसीने कहा कि अमुक पुरुष बड़ा धनी है तब विचार-णीय विषय यह है कि धनी तभी कहा जासकेगा जब कहने वाले को निर्धन का भी ज्ञान होगा । इसी क्रमसे प्रत्येक पदार्थ पक्ष और प्रतिपक्ष के कारण अपनी सत्यता रखता है जैसेकि-जीव-अजीव, लोक-अलोक पुण्य-पाप, आश्रव-संवर वेदना-निर्जरा, बंध-मोक्ष, तथा त्रस-स्थावर सिद्ध और संसार, इत्यादि क्रमसे दश स्थानोंतक पदार्थों का इस सूत्र में वर्णन किया गया है। साथ ही स्वमत, परमत, कूट, नदी हृदादि का बड़ी विचित्र रचना से विवेचन किया गयाहै । इस सूत्र का केवल एक ही श्रुतस्कन्ध है और दश अध्ययन हैं किन्तु इसके उद्धेश २१ हैं।

७२ सहस्र इस सूत्र के पद हैं इसके अक्षर वा अनुयोगद्वारादि संख्यातही हैं और "जीवाभिगम" नामक सूत्र इसका उपांग है। उसमें भी उक्त क्रम से पदार्थों का वर्णन किया गया है। सर्वज्ञोक्त पदार्थों के जानने के लिये यह सूत्र परमोपयोगी है॥

३ समवायाङ्ग सूत्र-इस सूत्र में एक संख्या से लेकर सौ संख्या तक तो क्रमपूर्वक पदार्थों का वर्णन किया गया है। तदनन्तर कोटाकोटि पर्यन्त गणनसंख्यानुसार पदार्थों का बोध कराया गया है। इतना ही नहीं किन्तु साथ ही द्वादशाङ्ग वाणी के प्रकरणों का संक्षेप से परिचय कराया गया है। कुलकर वा तीन कालके तीर्थंकरों आदि के नामोल्लेख भी किये गए हैं। प्रसंगवशात् अन्य प्रकरणों का भी यत्किंचिन्मात्र विवरण दिया गया है। जिसप्रकार स्थानांग सूत्र में जीवादि पदार्थों का वर्णन है ठीक उसी प्रकार समवायांग सूत्र में भी कोटाकोटि पर्यन्त गणन संख्या के अनुसार पदार्थों का बोध यथावत् कराया गया है। परंच इस सूत्र का एक ही श्रुतस्कंध है, पुनः एकही अध्ययन है अतः एकही उद्देशन काल है। किन्तु पद संख्या १४४००० हैं। अनंतज्ञान से परिपूर्ण है और इस सूत्र का प्रज्ञापना (पगणवना) नामक उपांग है जिसके ३६ पद हैं अपितु उन पदों का अनुष्टुप छन्द अनुमान ७८०० के परिमाण है। उक्त छत्तीस पदों में अतिगहन विषयों का समावेश किया गया है। इसे जैन सैद्धान्तिक आगम माना जाता है। यद्यपि इस सूत्र में प्रत्येक विषय स्फुट रीति से प्रतिपादन किया गया है तदपि विना गुरु के उन विषयों का बुद्धिगत होना कोई सहज नहीं। अतएव गुरुमुख से विधिपूर्वक इस सूत्र का जैन सिद्धान्त जानने के लिए और पदार्थों का ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिये अध्ययन अवश्यमेव करना चाहिए। पदार्थ विद्या का स्वरूप इस सूत्र में बड़ी योग्यता से वर्णन किया गया है। यावन्मात्र प्रायः आजकल साइंस द्वारा नूतन से नूतन आविष्कार होरहे हैं। इससूत्र के पढ़ने से आजकल के भावों को देखकर विस्मय भाव कभी भी उत्पन्न नहीं होता। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को योग्यतापूर्वक इस सूत्र का पठन पाठन करना चाहिए।

४ व्याख्या प्रज्ञप्त्यंग—इस सूत्रका प्रचलित नाम "भगवती" सूत्र भी है। इस सूत्र में नाना प्रकार के प्रश्नों का संग्रह किया हुआ है। ३६ सहस्र (३६०००) प्रश्नोत्तरों की संख्या प्रतिपादन की जाती है। दश सहस्र १०००० इस के उद्देशन काल हैं। प्रत्येक प्रश्नोत्तर शंका समाधान के साथ वर्णन किया गया है, इतनाही नहीं अपितु प्रत्येक प्रश्नोत्तर एहलौकिक पारलौकिक विषयके साथ सम्बन्ध रखता है जैसेकि-राजकुमारी जयंती ने श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से प्रश्नकिया कि-हे भगवन्! वलवान् आत्मा श्रेष्ठ होते हैं या निर्वल? इसके

उत्तर में श्री भगवान् ने प्रतिपादन किया, जयंती ! बहुत से आत्मा बलवान् और बहुत से आत्मा निर्बल ही अच्छे होते हैं। इस प्रकार कहे जाने के पश्चात् फिर जयंती ने शंका उत्पन्न की कि-हे भगवन् ! यह बात किस प्रकार सिद्ध होसकती है ? इस के समाधान में श्री भगवान् ने फिर प्रतिपादन किया कि हे जयंती ! न्याय पक्षी वा न्याय करने वाले जो धर्मरूप आत्माएं हैं वे बलवान् ही अच्छे होते हैं क्योंकि-उनके बलयुक्त होने से पाप कर्म निर्बल होजायगा जिस से बहुत से प्राणियों को सुख प्राप्त हो सकेगा। जब अधर्मात्माओं का बल बढ़ जायगा तब पाप कर्म ही बढ़ता रहेगा। अतएव धर्मात्मा लोग बलवान् अच्छे होते हैं और इसके प्रतिकूल पापात्मा निर्बल ही अच्छे होते हैं क्योंकि-उनके निर्बल होने से पापकर्म भी निर्बल होजायगा। इस प्रकार प्रत्येक प्रश्नोत्तर सरलतया प्रतिपादन किया गयाहै। इस सूत्रके २८८००० पद हैं। प्रत्येक पदमें प्रश्नोत्तर भरे हुए हैं। प्रायः सर्व प्रकार के प्रश्नों के उत्तर श्री वीर भगवान् के मुखारविंद से निकले हुए हैं। इसलिये प्रत्येक प्रश्नोत्तर आत्मिक शांति का उद्बोधक है और अलंकार से युक्त है। फिर इसी सूत्र का उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति है। जिस में सूर्य की गति आदि का वर्णन है। इसे ज्योतिषका शास्त्र माना जाता है। अतएव व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र योग्यतापूर्वक प्रत्येक प्राणी को पठन करना चाहिए॥

६ ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र--इस सूत्रमें ज्ञाता-दृष्टांतादि के द्वारा धर्मकथा का वर्णन किया गया है। इस सूत्र के दो श्रुत स्कंध हैं। प्रथम श्रुत के १९ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्ययन शिक्षा से भरा हुआ है। साथही प्रत्येक अध्ययन का उपनय ठीक प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसेकि-श्री भगवान् महावीर स्वामी से श्रीगौतम स्वामी जी ने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! जीव लघु (हलका) और गुरु (भारी) किस प्रकार होता है ? इसके उत्तर में श्री भगवान् ने प्रतिपादन किया कि-हे गौतम ! पाप कर्मों के करने से जीव भारी हो जाता है फिर उन्हीं पापकर्मों से निवृत्त हो जाने से जीव हलका होजाता है। जिस प्रकार अलांबू (तूंबा) मिट्टी और रज्जु के बंधनों से भारी होकर जल में डूब जाता है परंतु जब उस तूंबे के बंधन टूट जाएँ तब वह निर्बंधन होकर जल के ऊपर आजाता है ठीक इसी प्रकार हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, क्रोध, मान, माया और लोभ, राग तथा द्वेष, क्लेष, आभ्याख्यान (कलंक) परपरिवाद (निंदा) पिशुनता (चुगली) रति और अरति, माया, मृषा और मिथ्यादर्शनशल्य इन पाप कर्मों के करने से जीव भारी होजाता है। जब उक्त पापकर्मों से निवृत्ति हो जाती है तब जीव तूंबकवत् मुक्तबंधन होकर निर्वाणपदकी प्राप्ति करलेता है। इस प्रकार प्रथम श्रुत स्कंध में १९ धार्मिक दृष्टान्त वर्णन किये गए हैं।

द्वितीय श्रुत के १० वर्ग हैं। उन वर्गों में फिर आख्यायिका उपाख्यायिका इत्यादि संख्या करने पर साढ़े तीन करोड़ धर्मकथाएँ हैं और इस सूत्र के ५७६००० पद हैं। इस सूत्र का उपांग जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र है। इस सूत्रमें समग्र जंबूद्वीप का वर्णन पाया जाता है। प्रसंगवशात् भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय का वर्णन करते हुए भारतवर्ष के ६ ही खंडों का वर्णन कर दिया है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालचक्रका वर्णन करते हुए श्री ऋषभदेव प्रभु का जीवन चरित भी दिखलाया गया है। समाप्ति के समय ज्योतिष चक्र भी वर्णन कर दिया है अतएव इसका अध्ययन अवश्यमेव करना चाहिए।

७ उपासकदशाङ्ग सूत्र-इससूत्रमें श्री वीर प्रभुके दश उपासकों के नगर, वनखंड, स्वामी आचार्य, व्रतग्रहण, श्रमणोपासक की पर्याय, एकादश प्रतिमायें, (प्रतिज्ञाएं) समाधिमरण देवगति, पुनः सुकुल में उत्पत्ति, धर्म-प्राप्ति, मोक्षगमन इत्यादि विषय विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। साथ ही श्रावकों की दिनचर्या का भी दिग्दर्शन कराया गया है। 'श्रावक' शब्द तो अव्रतसम्यग्दृष्टि और देशव्रतिगुणस्थानों के लिये रूढी से प्रचलित हो रहा है परन्तु 'श्रमणोपासक' शब्द केवल देशव्रति गृहस्थ के लिये ही सूत्र में प्रयुक्त हुआ है।

सो उक्त सूत्र में श्री भगवान् महावीर स्वामी के जो दश उपासक व्रत और प्रतिमा के धारण करने वाले हुए हैं, उनकी धार्मिक जीवनी का दिग्दर्शन कराया गया है। अतएव इस सूत्र का एक श्रुतस्कन्ध और दश अध्ययन हैं। दश ही इसके उद्देशन काल हैं। एकादश लक्ष और ५२ सहस्र (११५२०००) इस सूत्र के पद हैं और चन्द्रप्रज्ञप्ति इस सूत्र का उपांग है जिस में प्रायः सूर्यप्रज्ञप्ति के समान ही ज्योतिष चक्र का वर्णन किया गया है। गृहस्थ धर्म के पालन करने वाली व्यक्तियों को उक्त सूत्रको अभ्यास अवश्यमेव करना चाहिए जिससे उनके धार्मिक जीवन में परम सहायता और उत्साह तथा दृढ़ता की प्राप्ति हो क्योंकि-गृहस्थ धर्म के १२ व्रत और एकादश प्रतिज्ञायें इस में पूर्णतया वर्णित हैं।

८ अंतकृद्दशाङ्ग-सूत्र--इस सूत्रमें जिन व्यक्तियों ने अन्त समय केवलज्ञान पाकर निर्वाणपद प्राप्त किया है उन जीवों के नगर, राज्य, मातापिता वा सांसारिक ऋद्धि, वनखंड, आचार्य, दीक्षा, भोगपरित्याग, तपोकर्म, प्रत्याख्यान, श्रुतग्रहण इत्यादि विषयों का विवरण दिया हुआ है। अन्तकृत् उन्हें कहते हैं जिन्हों ने संसार छोड़ कर दीक्षा ग्रहण की और फिर श्रुताध्ययनके पश्चात् परम समाधिरूप तपोकर्म किया, उसके द्वारा कर्मांश को जलाकर केवलज्ञान प्राप्त किया अपितु विशेष आयुके न होने से अपने प्राप्त किये हुए

केवलज्ञान का प्रकाश न कर सके किन्तु निर्वाणपद की प्राप्ति कर ली जैसेकि-श्री गजसुकुमार आदि महर्षि हुए हैं। इस प्रकार के महर्षियों के जीवन चरित इस सूत्र में दिये गए हैं। इस सूत्र का केवल एक ही श्रुतस्कन्ध है और आठ वर्ग हैं। २३०४००० इस के पदों की संख्या है और निरयावली सूत्र इसका उपांग है। इस उपांग में महाराजा कूणिक और चेटक राजा के संग्राम का वर्णन है। साथ ही नवमल्ली जाति के नौ राजे और नवलच्छी जाति के महाराजे सर्व १८ गणराजों का भी वर्णन किया गया है ।

आजकल जो लोग नूतन से नूतन सांग्रामिक आविष्कारों को देखकर आश्चर्य प्रकट करते हैं। उक्त सूत्र का अध्ययन करने से उनको यह भली प्रकार से विदित हो जायगा कि-पहिले समय में भी यह भारतवर्ष प्रत्येक शिल्प-कला में बढ़ा चढ़ा हुआ था क्योंकि-उक्त सूत्र में एक रथमूशल संग्राम का वर्णन करते हुए कथन किया गया है कि महाराजा कूणिक ने एक यंत्र ऐसा तय्यार किया था कि-जो रथाकार था परन्तु उसमें अश्वादि कुछ भी नहीं लगे हुए थे। जब वह शत्रु की सेना में छोड़ दिया गया वह अपने आप लाखों पुरुषों का संहार करता हुआ चारों ओर परिभ्रमण करता था। इसी प्रकार वज्रशिला कंटक संग्राम का भी वर्णन किया गया है। कई लोग कहते हैं कि-भारतवर्ष में पहिले लिपि नहीं थी। इस सूत्र के अध्ययन करने से यह बात भी निर्मूल सिद्ध हो जाती है।

९ अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गसूत्र—इस सूत्रमें जो व्यक्ति तप संयम के बल से विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध नामक पांच अनुत्तरविमानों में उत्पन्न हुए हैं उनके नगर, राज्य, माता पिता, वनखंडादि का वर्णन किया गया है। तथा जिस प्रकार उन आत्माओं ने परम समाधिरूप तपकर्म धारण किया उस तपकर्म का भी दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे काकंदी नगरी के रहने वाले धन्नाकुमार जी के तप का विवरण है जो एक भव धारण कर मोक्ष गमन करेंगे। उस जन्म के भव का भी वर्णन किया गया है जैसेकि-आर्यकुलादि में जन्म धारण, फिर महामुनियों की संगति द्वारा धर्मप्राप्ति, दीक्षाग्रहण और श्रुताध्ययन तथा तपोकर्म से केवलज्ञान, अंत में निर्वाणपद की प्राप्ति का वर्णन किया गया है। इस सूत्र का एक श्रुत-स्कन्ध-और तीन वर्ग हैं। ४६ लक्ष आठ हजार इसके पदों की संख्या है। इसका उपांग कल्पवतंसिका सूत्र है॥

१०-प्रश्नव्याकरण सूत्र—इस सूत्र में पृष्ट और अपृष्ट सैंकड़ों प्रश्नों का तथा अनेक प्रकार की चमत्कारिक विद्याओं का दिग्दर्शन था जैसेकि—मन प्रश्न-विद्या तथा देवताओं के साथ वाद करने की विधि, अंगुष्ठ प्रश्नादि विद्याओं का भी वर्णन था परन्तु आजकल उक्त सूत्र में केवल पांच आश्रव, जैसे—हिंसा,

असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, और पांचही संवर जैसेकि — अहिंसा, सत्य, अचौर्यकर्म, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इनका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। इन पांचही प्रकरणों की बड़ी सुंदर रीति से व्याख्या की गई है। इनका लौकिक और लोकोत्तर दोनों रीतियों से फल वर्णन किया गया है आस्तिकों के लिये यह सूत्र परमोपयोगी है। इसकी शिक्षा आत्मकल्याण और निर्वाणपद की प्राप्ति के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस सूत्र के ६२ लक्ष १६ सहस्र पद थे। इसका उपांग पुष्पचूलिका सूत्र है।

११ विपाकसूत्र-इस सूत्र के दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में दुःखविपाक का वर्णन है अर्थात् जिन जीवों ने धर्मविषयक दुर्बोध होने के कारण हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह एवं अन्याय आदि कुकर्मों से अपना जीवन व्यतीत किया है उनके उक्त कर्मों का ऐहलौकिक और पारलौकिक फल दिखलाया गया है। क्योंकि जब आत्मा के साथ पापकर्मों का अनुबंध हो जाता है तब वह कई जन्मों तक उसका फल अनुभव करता रहता है। यह बात भली प्रकार दिखाई गई है कि पाप कर्म करना तो बड़ा ही सहज है परन्तु जब दुःख रूप कटु फल भोगने पड़ते हैं तब जीव किस प्रकार परमदुःख मय जीवन व्यतीत करने लग जाता है। इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंधमें अन्यायपूर्ण कृत्यों का भली भांति दिग्दर्शन कराया गया है।

द्वितीय श्रुतस्कंध में सुखविपाक का अधिकार है। जिन जीवों ने सुपात्रदान दिये हैं उनको फलरूप ऐहलौकिक और पारलौकिक सुखों का दिग्दर्शन कराया गया है। साथ ही जिस प्रकार वे सुलभबोधी भावको उपार्जन कर, सुखपूर्वक निर्वाणपद की प्राप्ति करेंगे उसका भी वर्णन किया गया है। इस सूत्र के अध्ययन करने से भारतवर्ष के पूर्व समय की दंडनीति का भी भली भांति बोध हो जाता है। जिन्होंने शुभ वा अशुभ कर्म किये थे उनकी दशाओं का भी ज्ञान हो जाता है और इस सूत्रके वीस अध्ययन हैं। १० दुःखविपाक के नाम से और १० सुखविपाक के नाम से सुप्रसिद्ध हो रहे हैं। एक करोड़ चौरासी लक्ष बत्तीस सहस्र १८४३२००० इसकी पदसंख्या है और प्रत्येक वाचना के संख्यात अनुयोगद्वार तथा संख्यात ही वर्णों की संख्या है और इस सूत्र का उपांग पुष्पचूलिका है।

१२ दृष्टिवादांग सूत्र-इस सूत्र में सर्व वस्तुओं का सविस्तर वर्णन है। यद्यपि इस स्थान पर चतुर्दश पूर्वोंका प्रसंग आरहा है परन्तु दृष्टिवादांगसूत्र के पांच विभाग हैं यथा—परिक्रम १ सूत्र २ पूर्व ३ अनुयोग ४ और चूलिका ५ फिर गणितशास्त्र के ग्रहण करने के लिये प्रथम षोडश परिक्रम सूत्र वर्णन किए गए

हैं जैसेकि—संकलित १ व्यवकलित २ गुणाकार ३ भागकार ४ वर्ग ५ घन ६ वर्गमूल ७ घनमूल ८ अग्रसमच्छेदकरणं ९ समच्छेदमीलन १० भिन्नगुणाकार ११ भिन्नभागकार १२ भिन्नविचार १३ भिन्न घन १४ भिन्नवर्गमूल १५ भिन्नघन-मूल १६ इन सूत्रों के द्वारा फिर ७ प्रकार के परिक्रमों का विस्तारकर दृष्टिवादांग के प्रथम भेद की समाप्ति कीगई है।

दृष्टिवादांग का द्वितीय भेद सूत्ररूप है—इस भेद में सर्वद्रव्यपर्यायों, नयों वा भंगों के आश्रित होकर ८८ सूत्रोंका विस्तार किया गया है॥

दृष्टिवादांगसूत्र का-पूर्वनामक तृतीय भेद है क्योंकि-जब तीर्थंकर देव गण-धरादि को दीक्षा प्रदान करते हैं तब वे दीक्षा लेकर त्रिपदी मंत्र के (उत्पात्-व्यय-ध्रौव्य) पहिले चतुर्दश पूर्वों के ज्ञान का अनुभव करते हैं। इसलिये इनकी पूर्व संज्ञा है। उन पूर्वों के नाम निम्न प्रकार से वर्णन किये गए हैं। जैसेकि-उत्पातपूर्व-इस पूर्वमें सर्व द्रव्य और सर्व पर्यायों को अधिकृत्य करके सर्व पदार्थों का वर्णन किया गया है। १ करोड़ पद, दश वस्तु और चार चूलिका वस्तु इस के अध्ययन वि-शेष हैं। यदि इस पूर्व को लिखा जाय तो एक हाथी के प्रमाण मषी (स्याही) लगती है। यह अनुभवी ज्ञान होता है परन्तु लिखनेमें नहीं आसक्ता। इसी प्रकार आगे भी जान लेना चाहिए। हाथियों की संख्या आगे दुगणी होती चली जायगी। २ आग्रायणीयपूर्व--इस पूर्व में सर्व द्रव्य और पर्याय और जीव विशेष सर्व द्रव्यों का सविस्तर वर्णन किया गया है। (अग्रं परिमाणं तस्य अयनं गमनं परिच्छेद इत्यर्थः तस्मै हितं आग्रायणीयं) अर्थात् सर्व द्रव्यों और पर्यायों का भेद विस्तृत किया हुआ है। इस पूर्व के ९६ सहस्र पद हैं, १४ वस्तु और १२ चूलिका वस्तु हैं परन्तु लिखनेमें दो हस्तिपरिमाण मषी लग सकती है॥ ३ वीर्यप्रवादपूर्व- इस पूर्व में सर्व द्रव्यों के वा सर्व पर्यायों के तथा सर्व जीवों के वीर्य की व्याख्या की गई है और ८ वस्तु तथा ८ ही चूलिकावस्तु हैं। सप्तति सहस्र (७० हजार) इसके पदों की संख्या है। स्याही का परिमाण आगे से दुगुणा करते चले जाना चाहिए तथा अंत में सर्व परिमाण दिया जायगा। ४ अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व-इस पूर्व में सर्व द्रव्यों के अस्ति वा नास्ति भावों का वर्णन किया गया है, क्योंकि-सर्व द्रव्य निज गुणों की अपेक्षा तो अस्ति भाव के धारण करने वाले हैं परन्तु पर गुणों की अपेक्षा देखा जाय तो इनमें नास्ति-भाव भी ठहर जाता है। अतएव इस पूर्व में अस्तिभाव और नास्तिभाव का सविस्तर कथन किया गया है। १८ वस्तु और दश चूलिकावस्तु इस पूर्व के हैं। ६० लक्ष इसके पदों की संख्या है। ५ ज्ञान प्रवाद पूर्व-इस पूर्व में ५ ज्ञानों की सविस्तर व्याख्या की गई है तथा ज्ञान वा अज्ञान के भेदों का पूर्ण स्वरूप प्रति-पादन किया गया है। १२ वस्तु हैं और एक करोड़ इस पूर्व के पदों की संख्या है

६ सत्य प्रवाद पूर्व—इस पूर्व में सत्य संयम के सविस्तर भेद दिखलाये गए हैं और उनके फलाफल का भी दिग्दर्शन कराया गया है किंतु २ इसके वस्तु हैं और ६ करोड़ इसके पदों की संख्या है। यद्यपि विभक्त्यन्त पद भी होता है परन्तु यहां पर अनेकान्त वाद से पद गृहीत हैं। ७ आत्मप्रवाद पूर्व-इस पूर्व में आत्मविषय वर्णन किया है अर्थात् अनेक नयों के मत से आत्म द्रव्य की सिद्धि की गई है जैसेकि-द्रव्यात्मा, कषायात्मा इत्यादि। तथा नित्य और अनित्य इस प्रकार आत्म द्रव्य के अनेक भेद प्रतिपादन किये गए हैं। षोडश इस पूर्व के वस्तु हैं और २६ करोड़ इसके पदों की संख्या है। ८ कर्म प्रवाद पूर्व—इस पूर्व में ज्ञानावरणीयादि आठों प्रकार के कर्मों की सविस्तर व्याख्या की गई है। साथ ही उन कर्मों का स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध तथा कर्म-परमाणुओं की संख्या जैसेकि एक आत्म प्रदेश पर आठों कर्मों की अनंत वर्गणाएं स्थित होरही हैं और वे अपनी स्थिति के अनुसार समय आनेपर फलका अनुभव कराती हैं उसीका नाम अनुभाग है। प्रत्येक कर्म की अनंत २ पर्याय हैं। सो इस पूर्व में कर्म क्या वस्तु है? नित्य है वा अनित्य, सद्भाव में रहने वाला है वा असद्भावमें, अनादि अनंत कर्म है वा सादिसान्त, तथा कर्त्ता कर्म है वा जीव इत्यादि विषय स्फुट रीति से वर्णन किए गए हैं और इस पूर्व के ३० वस्तु हैं किन्तु एक करोड़ अस्सी लक्ष १८००००० इसके पदोंकी संख्या है। ९ प्रत्याख्यान पूर्व--इस पूर्व में प्रत्याख्यानों के भेदोंका सविस्तर स्वरूप वर्णन किया गया है। प्रतिज्ञाओं का स्वरूप वर्णन करते हुए साथ ही उनके फलादेश का वर्णन किया गया है॥ २० इस पूर्व के वस्तु हैं और ८४ लक्ष पदों की संख्या है। १० विद्याप्रवाद पूर्व--इस पूर्व में अनेक प्रकार की चमत्कारिक विद्याओं का वर्णन किया गया है। कहते हैं कि—स्थूलभद्रमुनि ने इसी पूर्व को पढ़ते हुए सिंह का रूप धारण किया था क्योंकि—इस पूर्व में विद्या और उसके साधन की विधि सविस्तर वर्णन की हुई है। आत्मिक शक्ति के उत्पन्न करने वाले अनेक साधन इसमें मिलते हैं और इस पूर्व के १५ वस्तु हैं एक करोड़ दश लक्ष ११०००००० इस के पद हैं॥ ११ अवंध्यपूर्व—इस पूर्वमें तप संयमादि के शुभफल और प्रमादादि के अशुभफल दिखलाए गए हैं तथा जिस प्रकार आत्मविशुद्धि हो सकती है और जिसप्रकार आत्मविशुद्धि के मार्ग से जीव पतित होता है इन विषयों का सविस्तर स्वरूप वर्णन किया गया है। १२ इसपूर्वके वस्तु और २६ करोड़ इसके पदों की संख्या है। १२ प्राणायुः प्रवाद पूर्व—इस पूर्व में इन्द्रिय आदि नव प्राण और आयु प्राण अर्थात् श्रोतेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, मन, वचन, काय और श्वासोश्वास तथा आयु प्राण इस प्रकार दश प्राणों की विस्तृत व्याख्या की गई है साथ

ही रेचक, पूरक और कुंभक तथा द्रव्य और भाव प्राणायाम का वर्णन किया गया है। यावन्मात्र शरीर में वायु हैं उनकी गति वा उनका निरोध; साथ ही निरोध का शारीरिक वा आत्मिक फल इन सब बातों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। इस पूर्वके १३ वस्तु हैं और एक करोड़ ५६ लक्ष इस के पदों की संख्या है। १३ क्रियाविशालपूर्व—इस पूर्व में यावन्मात्र क्रियाएं हैं उन सब का सविस्तर स्वरूप वर्णन किया गयाहै जैसे कि–कायिकी क्रियादि तथा पद-क्रिया, छन्दक्रिया; सारांश इतना ही है कि--क्रिया शब्द की व्याख्या भली प्रकार से कीगई है और इस पूर्व के ३० वस्तु हैं तथा नव करोड़ इसके पदों की संख्या है। १४ लोकबिन्दुसार पूर्व—लोक में बिन्दुवत् सारभूत पदार्थों के वर्णन करनेवाला यह पूर्व है क्योंकि-जिसप्रकार अक्षर के मस्तक पर बिन्दु सारभूत होता है ठीक उसी प्रकार जगत् में यह पूर्व सारभूतहै और इस पूर्व के २५ वस्तु हैं तथा साढे बारह करोड़ इस के पदों की संख्या है। इस प्रकार संक्षेप से १४ पूर्वों के समास विषय वर्णन किया गया है॥

सोलह हजार तीनसौ ८३ हाथियोंके प्रमाण मषीसे यह १४ पूर्व लिखे जाते हैं परन्तु यह पूर्वों के ज्ञान विषय उपमा दी गई है परंच यह विद्या लिखने में नहीं आसक्ती। यह सब विद्या केवल अनुभव के विचार पर ही अवलम्बित है। इस प्रकार दृष्टिवादांग के तृतीय भेदका वर्णन किया गया है। चतुर्थ भेद अनुयोगरूप है। सो वह अनुयोग दो प्रकार से वर्णन किया गया है। जैसेकि मूल प्रथमानुयोग, और गंडिकानुयोग-१ मूल प्रथमानुयोग-में तीर्थंकरों के पूर्व जन्म का वृत्तान्त, जिस जन्म में उनको सम्यक्त्व का लाभ हुआ उस जन्म से लेकर उनके सर्व जन्मों का अधिकार, स्वर्गीय सुख, स्वर्ग की आयु का परिमाण, वहां से च्यवकर माता के गर्भ में आना, फिर जन्म, देवों द्वारा जन्मोत्सव किया जाना, फिर योग्य अवस्था होजाने पर दीक्षा, विहार, तपोविशेष, केवलोत्पत्ति, जिनपद भोग, सिद्ध गमन इत्यादि विषयों का सविस्तर वर्णन पाया जाता है। इतना ही नहीं श्रीसंघ की स्थापनादि विषयों का भी उल्लेख है। २ गंडिकानुयोग-इस अनुयोगमें कुलकरों, तीर्थंकरों, बलदेवों, वासुदेवों, गणधरों, हरिवंश आदि कुलों की गंडिकाओंका वर्णन किया गया है। यह अनु-योग ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है क्योंकि--सब विषयों का बड़ी विचित्र रीति से वर्णन किया हुआ है। उक्त अनुयोग होनेसे यह दृष्टिवादांग का चतुर्थ भेद है। पांचवां भेद दृष्टिवादांग का चूलिकारूप है क्योंकि-जो परिक्रम सूत्र और पूर्व तथा अनुयोग में वर्णन किया गया है उन सबका सारांश चूलिका प्रकरण में प्रतिपादन किया हुआ होता है। सो यह सब प्रसंगवश लिखा गया है परन्तु ११ एकादशांगशास्त्र और चतुर्दश पूर्व यह सब मिलकर २५ होते हैं॥

सो जो उक्त सूत्रों का आप विधिपूर्वक अध्ययन करता है और अपने सुयोग्य शिष्य वर्ग को अध्ययन कराता है उसे उपाध्याय कहते हैं। उसके २५ गुण उपरोक्तानुसार कथन किए गए हैं। इन सूत्रों के अतिरिक्त अन्य जो कालिक वा उत्कालिक शास्त्र हैं उन सब को विधिपूर्वक पठन पाठन कराना उपाध्याय का मुख्य कर्त्तव्य है क्योंकि-पठन पाठन के लिये ही गच्छ में उक्त पद नियुक्त किया गया है जिसके प्रयोग से श्री संघ में ज्ञान का प्रकाश और धर्म में दृढ़ता हो जाती है। यह बात प्रसिद्ध है कि-यावत्काल ज्ञान का प्रकाश नहीं होता तावत्काल पर्यन्त आत्मा अंधकार से ही घिरा रहता है। प्रकाश ठीक हो जाने से ही वह अपना और पर का कल्याण कर सकता है अतएव उपाध्याय द्वारा शास्त्रीय ज्ञान अवश्यमेव संपादन करना चाहिए। यदि कोई यह पूछे कि-जब आचार्य और उपाध्याय सम्यगतया गच्छ की सेवा करते हैं तो उन्हें किस फल की प्राप्ति होती है? इसके उत्तर में कहा जासकता है कि-यदि आचार्य और उपाध्याय अपने कर्त्तव्य को समझते हुए सम्यगतया गच्छ की सेवा करें तो वे कर्म क्षय करके मोक्षपद प्राप्त कर सकते हैं। यथा-

आयरिय उवज्झाएणं भंते! सविसयंसि गणंसि अगिलाए संगिएहमाणे अगिलाए उवगिएहमाणे कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झति जाव अंतं करेति। गोयमा! अत्थेगतिए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झति अत्थे गतिए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झति तच्चं पुण भवग्गहणं णातिक्कमति ॥

भगवती सूत्र शतक ५ उद्देश ६ सूत्र संख्या २११॥

टीका—आयरियेत्यादि—आयरिय उवज्झाएणंति-आचार्येण सहोपाध्याय आचार्योपाध्यायः "स विसयंसि" त्ति स्व विषये" अर्थदान सूत्रदान लक्षणे "गणं" ति शिष्यवर्गं "अगिलाए" त्ति अखेदेन संगृह्णन् "उपगृह्णन्" उपष्टम्भयन्, द्वितीयः तृतीयश्च भवो मनुष्यभवो देव भवान्तरितो दृश्यः चारित्रवतोऽनन्तरो देवभव एव भवति न च तत्र सिद्धिरस्तीति ॥

अर्थ—श्री गौतम स्वामी जी भगवान् महावीर स्वामी जी से पूछते हैं कि हे भगवन्! आचार्य और उपाध्याय अपने गच्छ को श्रम के बिना, अर्थदान वा सूत्रदान के द्वारा सम्यगतया ग्रहण करते हुए और गच्छ की सम्यगतया रक्षा करते हुए कितने भव लेकर सिद्ध होते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् कहते हैं कि-हे गौतम! आचार्य और उपाध्याय सम्यगतया गच्छ की पालना करते हुए कोई २ तो उसी भव में निर्वाणपद की प्राप्ति कर लेते हैं, कोई २ द्वितीय जन्म में मोक्ष गमन कर लेते हैं परन्तु तृतीय जन्म तो अतिक्रम नहीं करते। इस सूत्र से यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि—आचार्य और उपाध्याय

सम्यग्तया गच्छ की रक्षा करने से निर्वाणपद की निश्चय ही प्राप्ति कर लेते हैं। अतएव उक्त दोनों उपाधिधारियों को योग्य है कि—वे अपने कर्त्तव्य को ठीक तौर पर पालन करें और अनेक भव्य आत्माओं को धर्म पथ में स्थापन करके कल्याण के भागी बनें। सो गुरु पद में आचार्य और उपाध्याय का वर्णन किये जाने पर अब साधु विषय में कहा जाता है। यद्यपि साधु पद में आचार्य और उपाध्याय दोनों ही गर्भित हैं तथापि उपाधि के विशेष होने से इनका पृथक् वर्णन किया गया है। परन्तु साधुपद के गुण सब में एक समान ही होते हैं॥

सत्तावीसं अणगारगुणा पणत्ता तंजहा—पाणाइवायाओ वेरमणं मुसावायाओ वेरमणं अदिन्नादाणाओ वेरमणं मेहुणाओ वेरमणं परिग्गहाओ वेरमणं सोइंदियनिग्गहे चक्खिंदिय निग्गहे घाणिंदियनिग्गहे जिब्भिदिय निग्गहे फासिंदिय निग्गहे कोहाविवेगे माणविवेगे मायाविवेगे लोभविवेगे भावसच्चे करणसच्चे जोगसच्चे खमा विरागया मणसमाहरणया वयसमाहरणया कायसमाहरणया णाणसंपण्णया दंसण संपण्णया चरित्त संपण्णया वेयण अहियासणया मारणंतिय अहियासणया॥

समवायांग सूत्र स्थान २७ वां॥

टीका—सप्तविंशति स्थानमपि व्यक्तमेव, केवलं पद सूत्राणि स्थितेरर्वाक्. तत्र अनगाराणां—साधूनां गुणाः चारित्र विशेष रूपाः अनगारगुणाः तत्र महाव्रतानि पञ्चेन्द्रियनिग्रहाश्च पंच क्रोधादि विवेकाश्चत्वारः सत्यानि त्रीणि तत्र भावसत्यं शुद्धान्तरात्मना करणसत्यं—यत्प्रतिलेखनाक्रियां यथोक्तां सम्यगुपयुक्तः कुरुते योगसत्यं—योगानां-मनः प्रभृतीनाम वितथत्वं १७ क्षमा अनभिव्यक्त क्रोधमानस्वरूपस्यद्वेषसंज्ञितस्याप्रीतिमात्रस्याभावः अथवा क्रोध मानयोरुदय निरोधः क्रोधमान विवेकशब्दाभ्यां तदुदयप्राप्तयोस्तयोर्निरोधः प्रागवाभिहित इति न पुनरुक्तता। अप्रीतिः १८ विरागता अभिष्वङ्ग मात्रस्याभावः अथवा मायालोभयोरनुदयो माया लोभ विवेकशब्दाभ्यां तदुदयप्राप्तयोस्तयोर्निरोधः प्रागभिहित-इतीहापि न पुनरुक्ततेति १६ मनोवाक्कायानां समाहरणता पाठान्तरतः समन्वाहरणता-अकुशलानां निरोधास्त्रयः २२ ज्ञानादिसंपन्नतास्तिस्त्रः २५ वेदनातिसहनता—शीतादि-अतिसहनं २६ मारणांतिकातिसहनता—कल्याण बुद्ध्या मारणांतिकोपसर्गसहनमिति २७॥ इति सप्तविंशतिगुणाः भिक्षूणां कथिता वा प्रतिपादिताः॥

भावार्थ-श्री भगवान्ने साधुके सत्ताईस गुण प्रतिपादन किये हैं क्योंकि-गुणों से ही साधुत्व होता है ननु वेष धारण करने से यद्यपि मनुष्यत्व

में किसी प्रकार से भी मनुष्यत्व भाव में परस्पर विरोध नहीं होता तथापि गुणों की अधिकता वा न्यूनता में अवश्यमेव भेद देखा जाता है। इसी कारण मनुष्यों की संज्ञाओं में भी भेद पड़ जाता है। सो गुणों की अधिकता होने पर ही साधु शब्द व्यवहृत हुआ करता है। संज्ञा और संज्ञी के अभेद होने से ही 'जन शब्द' में साधु शब्द किया जाता है जैसे कि–अमुकजन साधु है। जिस प्रकार ज्येष्ठमास की उष्णता से तप्त और जल की प्यास से पीड़ित पुरुष को सघन वृक्षों से आच्छादित एक पवित्र सरोवर का बड़ा भारी सहारा होजाता है ठीक उसी प्रकार सांसारिक, शारीरिक वा मानसिक दुःखों से तप्त हृदय वाले जनों को साधु पुरुषों का सहारा होता है क्योंकि- साधु जन इस प्रकार सांसारिक आत्माओंकी रक्षा करते हैं जिस प्रकार द्वीप समुद्रमें डूबते हुए प्राणी की रक्षा करता है। साधुओं की आत्माएं शान्तरूप तपोबल से तेजस्वी होती हैं। इच्छाओं के न होने से उनका मन सदा प्रफुल्लित रहता है और मस्तक पर कांति विराजमान होती है, उनकी मधुरवाणी में वात्सल्य भाव विद्यमान होता है। उनकी निस्पृहता सांसारिक लक्ष्मी को तृण समान मानती हुई प्राणी मात्र के उद्धार करने में सहायक बनती है। उनका स्वाभाविक वा अलौकिक सौंदर्य प्राणीमात्र के हृदय को मुग्ध कर लेता है। उन की पवित्र योगमुद्रा संसार की अनित्यता और आत्मिक सुख की ओर झुक जाने के लिए शिक्षा देती है। उनकी पवित्र मनोवृत्ति प्राणीमात्र के हितके लिये स्फुरायमान होती है। अतएव जगत्वासी जीवों को साधु महात्मा शरण्यभूत हैं। यह महापुरुष गुणों के धारण करने से ही प्राणीमात्र के लिए शरण्यरूप हुए हैं। क्योंकि-संसार में यदि विचार कर देखा जाय तो गुण ही पूज्य है न तु शरीरः इसलिये श्री भगवान् ने साधु के २७ गुण वर्णन किए हैं जो निम्नलिखितानुसार हैं।

१ प्राणातिपातविरमण—सर्व प्राणियों को अपने प्राण प्रिय हैं। वे निज प्राणों की रक्षा करने के लिये अनेक प्रकार के उपायों की रचना करते हैं। अतएव त्रस, स्थावर, सूक्ष्म वा स्थूल यावन्मात्र संसार में जीव हैं उनकी मन से, वाणी से, वा काय से कदापि हिंसा न करे और न अन्य आत्माओं से उनकी हिंसा करवाए तथा जो जीव हिंसक क्रियाएँ करनेवाले हैं उनकी अनुमोदना भी न करे कारणकि-हिंसावृत्ति करण और योगों की स्फुरणा पर ही निर्भर है सो स्वयं करना, औरों से कराना तथा हिंसा करने वालों की अनुमोदना करना इनकी करण संज्ञा है। अपितु मन वचन और काय इनकी योगसंज्ञा है सो साधु पुरुष तीनों योग और तीनों करणों द्वारा हिंसा का परि-

त्याग करे। जब उसकी प्राणीमात्र से मैत्री होगई तब उसके मन में मलिन भाव किस प्रकार उत्पन्न हो सकेंगे ? जब मलिन भावों का निरोध किया गया तब उसको अशांति किस प्रकार हो सकती है अर्थात् कदापि नहीं। फिर यह बात सदा मानी हुई है कि-वैरसे वैर नहीं जाता किन्तु शांतिसे वैर मारा जासकता है। अतः जब प्राणातिपात से सर्वथा निवृत्ति करली गई तब उस महापुरुष का प्राणीमात्र से बिल्कुल वैर नष्ट हो गया। जिसका परिणाम यह निकला कि-उस महापुरुष का पवित्र आत्मा विश्व उपकार में प्रवृत्त होजायगा क्योंकि-वह स्वयं प्रेममूर्त्ति बनकर अन्य जीवों को प्रेममूर्त्ति बनाएगा। स्मृति रहे कि-अहिंसाव्रत की पालना शूरबीर आत्माएं ही करसकती हैं न तु कातर आत्माएं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि-हिंसा कहते किस को हैं ? इस के उत्तर में तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र में लिखा है कि-''प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा'' अर्थात् प्रमाद के योग से जो प्राणों का नाश करना है उसी का नाम हिंसा है। यदि साधु अप्रमत्त भाव से विचर रहा है तब वह हिंसा के दोष का भागी नहीं बनता है।

इस प्रकार जिस आत्मा ने करना, कराना, अनुमोदना तथा मन, बचन और काय के द्वारा पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजोकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय इन पांचस्थावरों, दो इन्द्रिय वाले जीव जैसे सीप, शंख, जोक आदि हैं जिन के केवल स्पर्शेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय हैं, तीन इन्द्रिय वाले जीव जैसे-जूं, लीख, ढोरा, सुरसली आदि हैं उनके केवल स्पर्श, जिह्वा और घ्राणेन्द्रिय होती हैं, फिर चार इंद्रिय युक्त जीव जैसे मक्खी, मच्छर, पतंगिया, विच्छू इत्यादि हैं, इन जीवों के केवल स्पर्श, जिह्वा, घ्राण और चक्षुरिन्द्रिय होती हैं, पंचेन्द्रिय वाले जीव जैसे जलचर (मत्स्यादि) स्थलचर (गवादि) खेचर (पक्षी) मनुष्य, देव, नारकीय इन के स्पर्श, जिह्वा, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र यह पंचेन्द्रिय होती हैं इत्यादि सब जीवों की हिंसा का परित्याग कर दिया है वही साधु है। इस व्रत की रक्षा करने के वास्ते श्री भगवान् ने पांच भावनाएं प्रतिपादन की हैं क्योंकि जिस प्रकार महोघ वाले जल को नावा द्वारा तथा समुद्र को मानपात्र द्वारा लोग पार कर लेते हैं ठीक उसी प्रकार संसार समुद्र से पार होने के लिये भावनाएं प्रतिपादन कीगई हैं। इन्हीं भावनाओं द्वारा आत्मा अपना कल्याण करसकता है। सो प्रथम महाव्रत की ५ भावनाएं इस प्रकार कथन कीगई हैं जैसेकि—

पुरिम पच्छिम गाणं तित्थगराणं पंच जामस्स पणवीसं भावणाओ पण्णत्ता तंजहा-ईरियासमिई मणगुत्ती वयगुत्ती आलोय भायण भोयणं आदाण भंडमत्त निक्खेवणासमिई ५

भावार्थ—भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर स्वामी के ५ महाव्रतों की २५ भावनाएं कथन की गई हैं। महाव्रतों की रक्षा के लिये जो अन्तःकरण से इस प्रकार के उद्गार होते हैं उन्हें भावनाएं कहते हैं जैसेकि प्रथम महाव्रत की पांच भावनाएं निम्न प्रकार से कथन की गई हैं। भावनाओं द्वारा व्रतों की भली प्रकार से रक्षा हो सकती है।

१ ईर्यासमिति चलते समय भूमिको विना देखे गमन न करना चाहिए। कीटपतंगियादि त्रस तथा पृथ्वी, जल अग्नि, वायु और वनस्पति स्थावर जीवोंकी रक्षा करते हुए चलना चाहिए। साथही अहिंसा व्रतकी रक्षा के वास्ते किसी भी प्राणी की निंदा, हीलना और गर्हणा नहीं करनी चाहिए तथा जिस से किसी भी जीवको दुःख प्राप्त हो वह कार्य न करना चाहिए।

२ मनोसमिति-मन के द्वारा किसी जीव की हानिका विचार नहीं करना चाहिए। पतित, निर्दय, वध और बंध, परिक्लेष तथा भय और मृत्यु के उत्पन्न करने वाले विचार मनमें कदापि उत्पन्न नहीं करने चाहिएं।

३ वाग्समिति-किसी को हानि पहुंचाने वाले वचन का प्रयोग न करना चाहिए। कटुक वाणी से प्रायः बहुत से उपद्रव वा हिंसा होने की संभावना हुआ करती है।

४ आहारसमिति-संयम का निर्वाह शुद्ध निर्दोष भिक्षावृत्ति द्वारा करना चाहिए। साथही जो पात्र साफ और विस्तीर्ण हो उसमें देखकर आहार करना चाहिए। परन्तु आहार करते समय पदार्थों को देखकर समभाव रखने चाहिएं। शांत भावों से स्वाध्यायादि क्रिया करके गुरुकी आज्ञा प्राप्त कर स्तोकमात्र आहार से शरीर रक्षा करनी चाहिए क्योंकि संयम की वृद्धि के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

५ आदाननिक्षेपसमिति—पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक तथा वस्त्र पात्रादि जो संयम क्रिया के साधक उपकरण हैं उनको विना यत्न उठाना वा रखना नहीं चाहिए अन्यथा जीवहिंसा होनेकी संभावना होती है।

इस विधि से प्रथम महाव्रत को पवित्र भावनाओं द्वारा पालन करना चाहिए।

२ मृषावाद विरमण-झूठ बोलने से सर्वथा निवृत्ति करना दूसरा महाव्रत है। मारणांतिक कष्ट आनेपर भी मुख से असत्य कदापि न बोलना चाहिए। आगे असत्य दो प्रकार से कथन किया गया है। द्रव्य और भाव। द्रव्य उसे कहते हैं जो व्यावहारिक कार्यों में बोला जाता है-भाव उसका नाम है जो पदार्थों के यथार्थ भाव को न समझकर केवल मिथ्याभाव के वश होकर अयथार्थ ही कह दिया जाता है। सो दोनों प्रकार के असत्य का मन, वचन

और काय तथा करना, कराना और अनुमोदना अर्थात् तीनों योग और तीनों करणों से परित्याग करना चाहिए। इस व्रत की निम्नलिखित पांच भावनाएँ रक्षक हैं जैसे कि-

अणुवीतिभासणया १ कोहविवेगे २ लोभविवेगे ३ भयविवेगे ४ हासविवेगे ५

१ अनुविचिन्त्यभाषणसमिति--विना विचार किये कदापि भाषण न करना चाहिए। शीघ्रता और चपलतासे भाषण करना भी वर्जनीय है। कटु शब्दों का प्रयोग कदापि न करना चाहिए। तभी सत्य वचन की रक्षा हो सकती है।

२ क्रोधविवेक-क्रोध नहीं करना चाहिए क्योंकि-क्रोधी मनुष्य असत्य, पिशुनता, कठिन वाक्य कलह, वैर इत्यादि अवगुणोंको उत्पन्न कर लेता है और सत्य, शील तथा विनयादि सद्गुणों का नाश कर लेता है। क्रोधरूपी अग्नि को उपशान्त करने के लिये क्षमारूपी महामेघ की वर्षा होनी चाहिए।

३ लोभविवेक-प्राणी लोभके वशीभूत होकर भी सत्य का नाश कर बैठता है। यावन्मात्र संसार में मनोऽनुकूल पदार्थ हैं उनकी प्राप्ति की जब उत्कट इच्छा बढ़ जाती है तब सत्य की रक्षा कठिन होजाती है। अतएव सन्तोष द्वारा सत्य की रक्षा के लिए लोभ का परिहार कर देना चाहिए।

भयविवेक- सत्यवादी को किसीका भी भय नहीं होना चाहिए क्योंकि-भययुक्त आत्मा सत्य की रक्षा करने में असमर्थ होजाता है। कहते हैं कि-भययुक्त आत्मा को ही भूत प्रेत छला करते हैं। भययुक्त आत्मा सत्य कर्मों से पराङ्मुख होजाता है अतएव सत्यवादी धैर्य का अवलम्बन करता हुआ सत्यव्रत की रक्षा कर सकता है। भय के वशीभूत होकर कई वार झूठ बोला जाता है। इस लिये भय से विमुक्त होने की भावना उत्पन्न करनी चाहिए।

६ हास्यविवेक - सत्यवादी को किसी का उपहास भी न करना चाहिए कारण कि—हास्य रस का पूर्व भाग तो बड़ा प्रिय होता है परन्तु उत्तर भाग परम भयानक और नाना प्रकार के क्लेशों के उत्पन्न करनेवाला होजाता है। यावन्मात्र क्लेश हैं उन के उत्पन्न करने वाला हास्यरस ही है। अतएव सत्यव्रत की रक्षा के लिये हास्यरस का आसेवन कदापि न करना चाहिए। इस विधि से द्वितीय महाव्रत की पालना करनी चाहिए।

३ अदित्तादानविरमण — तदनन्तर चौर्यकर्म से निवृत्तिरूप तृतीय महाव्रत का यथोक्त रीति से पालन करना चाहिए। जितने सूक्ष्म वा स्थूल पदार्थ हैं चाहे वह अल्प हैं वा बहुत, जीव हैं वा अजीव, जिनके वे आश्रित होरहे हैं

उनकी आज्ञा बिना कदापि ग्रहण न करने चाहिएं। अतएव तीनों करण और तीनों योगों से चौर्यकर्म का परित्याग करे पुनः निम्नोक्त भावनाओं द्वारा इस महाव्रत की रक्षा करनी चाहिए जैसेकि—

उग्गहअणुएणावणया १ उग्गहसीमजाणणया २ सयमेव उग्गहं अणुगिएहणया ३ अणुएणविय परिभुंजणया ४ साहारण भत्तपाणं अणुएणविय पडिभुंजणया ५

१ अवग्रहानुज्ञापना—जिस स्थान पर स्त्री, पशु और नपुंसक नहीं रहते तथा यावन्मात्र शुद्ध और निर्दोष तथा एकान्त वस्तियें हैं किन्तु साधुओं के वास्ते नहीं बनाई गई हैं; नाँ ही उन वस्तियों में सचित्त मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु वा वनस्पति के वीजादि हैं नाँ ही उनमें विशेष त्रसादि जीव हैं उन स्थानों में भी स्वामी की आज्ञा ग्रहण किए विना कदापि साधु न ठहरे।

२ अनुज्ञातसीमापरिज्ञान-आज्ञा ली जाने पर जो उस स्थान पर साधु के लेने योग्य पदार्थ पहिले ही पड़े हों जैसेकि-कांकरादि-वही ग्रहण करे।

३ स्वयमेवअवग्रहअनुग्रहणता-पीठादि के वास्ते वृक्षादि छेदन न करवाए और उपाश्रय के विषम स्थान को सम आदि करने की चेष्टा न करे। डंश मशकादि के हटाने के वास्ते अग्नि धूमादि न करवाए अपितु जो फलकादि लेने योग्य हों उनकी वहां पर ही आज्ञा लेकर ठहर जाए।

४ साधर्मिकावग्रह अनुज्ञाप्यपरिभुंजनता-जिस स्थान में पहिले ही साधर्मिक जन ठहरे हुए हों उस स्थान पर उनकी आज्ञा लेकर ही ठहरना चाहिए।

५ साधारण भक्तपान अनुज्ञाप्यप्रतिभुंजनता—आहार पानी साधारण हो और वह गुरु आदि की आज्ञा विना न लेना चाहिए। अपितु प्रत्येक क्रिया करते समय विनय को मुख्य रखना चाहिए क्योंकि विनय ही धर्म और विनय ही तप है।

इसी प्रकार चतुर्थ महाव्रत भी शुद्ध पालन करना चाहिए जैसेकि—देव, मनुष्य और पशु सम्बन्धी सर्वथा मैथुन का परित्याग करना चाहिए। ब्रह्मचर्यव्रत तीनों करणों और तीनों योगों से शुद्ध पालन करते हुए फिर पांचों भावनाओं द्वारा इस पवित्र व्रत की रक्षा करनी चाहिए कारण कि इस महाव्रत की आराधना से अन्य सर्व व्रत भी भली प्रकार से आराधन किये जा सकेंगे।

इत्थी पसु पंडग संसत्तगसयणासणवज्जणया १ इत्थी कहां विवज्जणया २ इत्थीणं इंदियाणमालोयणवज्जणया ३ पुव्वरय पुव्वकीलियाणं अणणुसरणया ४ पणीताहार विवज्जणया ५

१ स्त्रीपशुपंडकसंसक्तशयणासनवर्जनता--ब्रह्मचारी को स्त्री, पशु और नपुंसकों से जो स्थान संसक्त होरहा हो उसे वर्जना चाहिए कारण कि-उस स्थान में रहने से कामोद्दीपन की संभावना है जिसका परिणाम ब्रह्मचारी के लिये परम भयानक होगा।

२ स्त्रीकथाविवर्जनता—ब्रह्मचारी पुरुष काम के जागृत करनेहारी स्त्री कथा कदापि न करे और नांही स्त्रियों में बैठ कर उक्त प्रकार की कथाओं का प्रयोग करे क्योंकि-वार २ स्त्रीकथा कहने से उसका मन किसी समय विचलित अवश्यमेव हो जायगा अतः ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य की रक्षाके लिये कामजन्य स्त्रीकथा कदापि न करनी चाहिए।

३ स्त्री आलोकनवर्जनता—कामदृष्टि से स्त्रियों की इंद्रियों को न देखना चाहिए क्योंकि स्त्रियों की कामजन्य चेष्टाओं को देखते हुए उसके मन में कामविकार अवश्यमेव उत्पन्न होजायगा। स्त्री के शरीर का संस्थान, उस का वर्ण, उसके हाथ, पाद, आंखें, लावण्य, रूप, यौवनावस्थादि के देखने से संयम की समाधिका नाश हो जायगा॥

४ पूर्व क्रीडा अननुस्मरणता—यदि पहिले गृहस्थपर्याय में नाना प्रकार की कामचेष्टाएं की हों तो उनकी स्मृति न करे क्योंकि-उन चेष्टाओं की स्मृति से काम अवश्यमेव जागृतावस्था में आजायगा तथा जो बालब्रह्मचारी हैं वे साहित्य ग्रंथोंमें पढ़े हुए स्त्री चरित्र की पुनः २ स्मृति न करें क्योंकि-आत्मा विकार दशा को प्राप्त होजाता है जिस कारण फिर ब्रह्मचर्य में बाधा उत्पन्न होने की संभावना रहती है।

५ प्रणीताहारवर्जनता—ब्रह्मचारी को स्निग्ध आहार न सेवन करना चाहिए जैसेकि—क्षीर, दुग्ध, दधि, सर्पिस, नवनीत, तेल, गुड़ मतस्यंडी आदि। तथा जिन पदार्थों के आसेवन करने से उन्माद वा विकार उत्पन्न होता हो उनका भी आसेवन करना उचित नहीं। कारणकि-मादक द्रव्य शरीर को पुष्टि देकर आत्मा में विकार उत्पन्न कर देते हैं जिसका परिणाम ब्रह्मचारी के लिये हितकारी नहीं होता। अतएव इन पांच भावनाओं द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करनी चाहिए।

५ परिग्रहाविरमण-पंचम महाव्रत जो अपरिग्रहरूप है उसका अन्तःकरण से पालन करना चाहिए। अल्प वा महत्, अणुरूप वा स्थूलरूप, चेतनायुक्त हो अथवा जड़ सबसे मूर्च्छा का परित्याग कर देना चाहिए। यदि कोई कहे कि—जो साधु के पास वस्त्र पात्रादि हैं क्या यह परिग्रह नहीं है। इस शंका का समाधान दशवैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन में इस प्रकार किया गया है:—

जंपिवत्थं चपायंच, कंबलं पायपुंछणं ।
तंपिसंजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंतिय ॥
न सोपरिग्गहोवुत्तो, नायपुत्तेणताइणा ।
मुच्छापरिग्गहो वुत्तो इइवुत्तंमहेसिणा ॥

अर्थ—वस्त्र और पात्र, कंबल वा पादपुंछन यह सब संयम की लज्जा केलिये धारण किये जाते हैं और पहिरे जाते हैं। इन सबको श्री भगवान् महावीर स्वामी ने परिग्रह नहीं कहा है किन्तु वस्तुओं पर जो मूर्च्छा भाव है महर्षियों ने उसी को परिग्रह कहा है। अतएव मन, वचन और काय तथा करना, कराना और अनुमोदना तीनों योग और तीनों करणों से उक्त महाव्रतकी शुद्ध पालना करनी चाहिए। साथ ही इसकी भावनाओं से पुनः २ अनुवृत्ति करनी चाहिए जैसेकि—

सो इंदिय रागोवरई, चक्खिंदिय रागोवरई, घाणिंदिय रागोवरई, जिब्भिंदिय रागोवरई, फासिंदिय रागो वरई ॥

अर्थ—पंचम महाव्रत की रक्षा के लिये निम्नलिखित भावना विचारणीय हैं जैसेकि—

१ श्रोतेन्द्रियरागोपरति—कानों में प्रिय और सुस्वर शब्द सुनाई पड़ते हों तो उन शब्दों को सुनकर अन्तःकरण में राग उत्पन्न न करे। एवं यदि प्रतिकूल, अप्रिय, आक्रोश, परुष और भयानक शब्द सुनने में आते हों तो उन शब्दों के कहने वालों पर द्वेष भी न करे। जिस प्रकार इन शब्दों का श्रोतेन्द्रिय में आने का स्वभाव है उसी प्रकार इन शब्दों की उपेक्षा करना भी मेरा स्वभाव है। ऐसा भाव सदा बनाए रखे। जब इस प्रकार के भाव बने रहेंगे तब हर्ष वा चिन्ता और मन में मलिन भाव कदापि उत्पन्न नहीं होंगे।

२ चक्षुरिन्द्रियरागोपरति—जिस प्रकार श्रोतेन्द्रिय में शब्द के परमाणु प्रविष्ट होते हैं ठीक उसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय में रूप के परमाणु आजाते हैं। जब मनोऽनुकूल प्रिय और सौंदर्य के परमाणु चक्षुरिन्द्रिय में आजावें तब राग उत्पन्न न करना चाहिए। एवं यदि भय वा घृणा के उत्पन्न करने वाला रूप आंखों के सामने आ जावे तब द्वेष भी न करना चाहिए।

३ घ्राणेन्द्रियरागोपरति—जब घ्राणेन्द्रिय (नासिका) में सुगंध के परमाणु आ जावें तब राग उत्पन्न न करना चाहिए। एवं यदि दुर्गंध के परमाणु आजावें तब मन को विचलित भी न करना चाहिए।

४ जिह्वेन्द्रिय रागोपरति—यदि भोजन में सरस और प्रिय तथा सब

प्रकार के सुंदर रस उत्पन्न करने वाले भोज्य पदार्थ आवें तब प्रसन्न न होना चाहिए एवं यदि मन के प्रतिकूल भोज्य पदार्थ खाने को मिलें तब द्वेष न करना चाहिए।

पदार्थों का जिस प्रकार का स्वभाव है वे उसी प्रकार अपना रस दिखलायेंगे। इसलिए उनके मिलने पर राग द्वेष क्यों किया जाय ?

५ स्पर्शेन्द्रियरागोपरति–यदि मनके अनुकूल स्पर्श उपलब्ध हो तब उन पर राग उत्पन्न न करना चाहिए एवं यदि मन के प्रतिकूल स्पर्श मिले तब द्वेष भी न करना चाहिए। इस कथन का सारांश इतना ही है कि–शय्या वस्त्रादि-मनोऽनुकूल मिल जाने पर प्रसन्नता एवं मार पीट वा अंगोपांग के छेदन करने वाले पर द्वेष यह दोनों भाव उत्पन्न न करने चाहिएं। जब आत्मा के अन्तःकरण से शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पांचों विषयों पर राग और द्वेषके भाव उत्पन्न न होंगे तब वह आत्मा दृढ़तापूर्वक उक्त पांचों महाव्रतों का पालन कर सकेगा। अतएव पांचों महाव्रतों को २५ भावनाओं द्वारा शुद्ध पालन करना चाहिए। यदि ऐसे कहा जाय कि–पांच महाव्रतों की २५ भावनाएं तो कथन की गई हैं किन्तु छठा रात्रिभोजन विरमणव्रत का कहीं भी वर्णन नहीं है और नां ही उसकी भावनाओं का कथन आया है॥ इस प्रश्न का उत्तर यह है कि–प्रथम तो प्रायः रात्रि को अति शीतादि के पड़ने से बहुत से पदार्थों की सचित्त हो जाने की संभावना की जा सकती है द्वितीय-तमस (अन्धकार) के सर्वत्र विस्तृत हो जाने से भली प्रकार जीव रक्षा भी नहीं हो सकती अतएव इस व्रत का प्रथम महाव्रत में ही समावेश हो जाता है अर्थात् जीवरक्षा सम्बन्धी यावन्मात्र कर्त्तव्य हैं वे सब पहले महाव्रत के ही अन्तर्गत होते हैं।

तत्पश्चात् पांचों इन्द्रियों के जो शब्दादि विषय हैं मुनि उन पर राग और द्वेष से उत्पन्न होने वाले भावों का परित्याग करे जैसे कि–

६ श्रोतेन्द्रिय निग्रह–श्रोतेन्द्रिय के तीन विषय हैं यथा जीव शब्द १ अजीव शब्द २ और मिश्रित शब्द ३। मुखसे निकला हुआ जीव शब्द कहा जाता है। पुद्गल के स्कन्धादि के संयोग या विभाग के समय जो शब्द उत्पन्न होता है उसे अजीव शब्द कहते हैं। जो दोनों के मिलने से शब्द उत्पन्न होता है उसे मिश्रित शब्द कहते हैं जैसे शंखादि का बजना।

७ चक्षुरिन्द्रिय निग्रह—चक्षुरिन्द्रिय के पांच विषय हैं जैसेकि–श्वेतवर्ण १ रक्तवर्ण २ पीतवर्ण ३ नीलवर्ण ४ और कृष्णवर्ण ५ इन पांचों ही विषयों में जो प्रिय हैं उनपर राग न करना चाहिए और जो अप्रिय हैं उनपर द्वेष न करना चाहिए।

आहाकम्मुद्देसियं पूईकम्मे य मीस जाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओअर कीय पामिच्चे ॥ १ ॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥ २ ॥

अर्थ—१ अहाकम्मे (आधाकर्मी) साधु के निमित्त बनावे तो दोष । २ उद्देसियं (औद्देशिकं) जिस साधु के लिये आधाकर्मी आहार बनाया है । यदि वही साधु ले तो उसको आधाकर्मी दोष लगे। और दूसरा साधु ले तो 'उद्देसियं' दोष लगे। ३ पूईकम्मे (पूतिकर्म) निर्दोष आहार में हज़ार घरों के अन्तर पर भी आधाकर्मी आहार का अंशमात्र भी मिल जाय तो दोष ४। मीस जाए (मिश्रजाते) अपने और साधुके वास्ते इकट्ठा आहार बनावे, साधु वह ले तो दोष ५ ठवणा (स्थापना) साधु निमित्त असनादि आहार स्थापन कर रखे, दूसरे को न दे तो दोष। ६ पाहुडियाए (प्राभृतिका) साधु के अर्थ पावणा (अतिथि-महमान) का भोजन आगे पीछे करे तो दोष। ७ पाओअर (प्रादुष्करण) अंधकार में प्रकाश करके देवे तो दोष। ८ कीय (क्रीत) साधु निमित्त आहार वस्त्र और पात्र आदि तथा उपाश्रय खरीद कर देवे तो दोष । ९ पामिच्चे (अपमित्य) साधु निमित्त आहार उधार लाकर देवे तो दोष। १० परियट्टिए (परिवर्त्तितं)—साधु निमित्त अपनी वस्तु देकर बदले में दूसरी वस्तु लाकर देवे तो दोष, ११ अभिहडे (अभिहृतं) सन्मुख लाकर आहारादि देवे तो दोष अर्थात् जिस स्थान पर साधु ठहरे हुए हैं उस स्थान पर ही आहारादि लेकर चला जावे और साधु उसको ले लेवे तो वह 'अभिहृत' दोष होता है। १२ उब्भिन्ने (उद्भिन्नं) लेपनादिक (छांदा) खोल कर देवे तो दोष १३ मालोहडे (मालापहृतं) पोढा नीसरणी लगाकर ऊंचे नीचे तिरछे से वस्तु निकाल कर देवे तो दोष। १४ अच्छिज्जे (अच्छेद्यं) निर्बल से सबल जबरदस्ती दिलवाए या छीन कर देवे तो दोष। १५ अणिसिट्ठे (अनिसृष्टं) दो के अधिकार की वस्तु एक दूसरे की स्वीकृति विना देवे तो दोष। १६ अज्झोयरए (अध्यवपूरक) जबकि साधु सायंकाल के समय पधार गए तब उनको पधारे हुए जानकर जो अपने लिये अन्न पानी बनाया जारहा था उसको अधिक कर देना इस विचार से कि–साधु जी महाराज भी इसी में से आहारादि लेजाएंगे ऐसा करे तो दोष, इस प्रकार सोलह उद्‌गम दोषों का वर्णन किया गया है। अब सोलह उत्पाद दोषों का वर्णन किया जाता है जो रसों का लालची बनकर साधु स्वयं लगाता है। जैसेकि—

धाई दूई निमित्ते आजीववणीमगेतिगिच्छाय। कोहे माणे माया

लोभे य लोभे य हवंति दसएए ३ पुव्वि–पच्छा संथवं विज्जा मंते य चूएण जोगे य उप्पायणा इ दोसा सोलसमे मूलकम्मेय ४

अर्थ-१ धाई (धात्री) धाय का काम करके आहारादि लेवे तो दोष। २ दूई (दूती) दूतपना जैसे गृहस्थी का सन्देशा पहुंचा कर आहारादि लेवे तो दोष। ३ निमित्ते (निमित्त) भूत, भविष्य, वर्त्तमान काल के लाभालाभ, सुखदुःख, जीवन मरणादि बतलाकर आहारादि लेवे तो दोष। ४ आजीव- (आजीविका) अपना जाति कुल आदि प्रकाश कर आहारादि लेवे तो दोष। ५ वणीमगे (वनीपकः) रांक भिखारी की तरह दीनपना से मांगकर आहारादि लेवे तो दोष। ६ तिगिच्छे (चिकित्सा) वैद्यक-चिकित्सा करके आहारादि लेवे तो दोष। ७ कोहे (क्रोध) क्रोध करके आहारादि लेवे तो दोष ८ माणे (मान) अहंकार करके लेवे तो दोष। ९ माया (कपट) करके लेवे तो दोष। १० लोभे (लोभ) लोभ करके अधिक आहारादि लेवे अथवा लोभ बतला कर लेवे तो दोष। ११ पुव्विं पच्छा संथव (पूर्वपश्चात्-संस्तव) पहले या पीछे दातार की प्रशंसा करके आहारादि लेवे तो दोष। १२ विज्जा (विद्या) जिसकी अधिष्ठाता देवी हो अथवा जो साधना से सिद्ध की गई हो उसको विद्या कहते हैं ऐसी विद्या के प्रयोग से आहारादि लेवे तो दोष। १३ मंते (मंत्र) जिसका अधिष्ठाता देव हो अथवा विना साधना के अक्षर विन्यास मात्र हो उसको मंत्र कहते हैं ऐसे मंत्र का प्रयोग करके आहारादि लेवे तो दोष। १४ चुएण (चूर्ण) एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु मिलाने से अनेक प्रकार की सिद्धि हो ऐसा अदृष्ट अंजनादि के प्रयोग से आहारादि लेवे तो दोष। १५ जोगे (योग) पाद (पग) लेपनादि सिद्धि बतलाकर आहारादि लेवे तथा वशीकरण मंत्रादि सिखलाकर वा स्त्रीपुरुष का संयोग मिलाकर आहारादि लेवे तो दोष। १६ मूल कम्मे (मूल कर्म)—गर्भपातादि औषध बतलाकर आहारादि लेवे तो दोष अर्थात् किसी ने साधु के पास अपने गुप्त दोष का कारण बतला दिया फिर यह भी बतला दिया कि–अब गर्भ भी स्थिर रह गया है तब साधु उसको गर्भपातादि की औषध बतलावे तो उस साधु को महत् दोष लगता है।

इस प्रकार सोलह दोष उत्पाद के वर्णन किये गए हैं। अब १० दोष एषणा के कहे जाते हैं जो साधु और गृहस्थ दोनों के कारण लगते हैं।

संकिय मक्खिय निक्खित्त पिहियसाहरियदाय गुम्मीसे अपरिणय लित्त छड्डिय एसणा दोसादसहवंति ५।

अर्थ—संकिय (शंकित) गृहस्थी को तथा साधु को शंका पड़ जाने

के बाद आहारादि लेवे तो दोष। २ मक्खिय (म्रक्षित) सचित्त पानी आदि से हाथ की रेखा या बाल जिसके गीले हों उस के हाथ से आहारादि लेवे तो दोष। ३ निक्खित्त (निक्षिप्त) असूजति (अचित्त) वस्तु ऊपर सूजति (सचित्त) पड़ी हो वह लेवे तो दोष। ४ पिहिय (पिहित) सूजति (निर्दोष) सचित्त से ढांकी हो वह लेवे तो दोष। ५ साहरिय (संहृत) अयोग्य वस्तु जिस वासण (भाजन) में पड़ी हो वह वस्तु दूसरे वासण में डाल कर उसी वासण से जो योग्य आहार देवे तो दोष। या जहां पश्चात्कर्म होने की संभावना हो अर्थात् एक भाजन से दूसरे भाजन में आहारादि डाल कर दे उसमें से सचित्त पानी से धोने की शंका होने पर उसी भाजन से आहारादि लेवे तो दोष। दायग (दायक)—अंधा, लूला, लंगडा आदि यत्नपूर्वक नहीं वहराता (देता) हो तो दोष। ७ उम्मीसे (उन्मिश्र) मिश्र चीज़ लेवे तो दोष ८ अपरिणय (अपरिणत) जो वस्तु पूर्णतया प्रासुक न हुई हो उसे ग्रहण करे तो दोष। ९ लित्त (लिप्त) तुरंत की लीपी हुई जगह हो उसका उल्लंघन करके आहारादि लेवे तो दोष। १० (छड्डिय) (छर्दित) जिस असनादि में से बिन्दु गिरते हों वह लेवे तो दोष। यह सर्व मिलकर ४२ दोष होते हैं। साधु इन दोषों से रहित आहार पानी ग्रहण करे।

जब आहार पानी लेकर आजावे तब आहार (भोजन) करते समय पांच दोष लग जाते हैं उनसे अवश्य बचना चाहिए। जैसेकि—१ दोष—संयोजना दोष—सरस वस्तुओं का संयोग मिलाकर खाना २ अप्रमाण-दोष-प्रमाण से अधिक भोजन करना ३ अंगार दोष—राग से भोजन करना यह इसीका अंगार दोष है ४ धूम दोष—यदि इच्छा के प्रतिकूल भोजन मिल गया हो तो उस भोजन की निंदा करके भोजन करना उसे धूमदोष कहते हैं ५ अकारण दोष—विना कारण अथवा विना आवश्यकता खाना। उक्त दोषों से रहित आहार पानी का ग्रहण करना उसे एषणासमिति कहते हैं।

४ आदानभांडमात्रनिक्षेपणासमिति-साधुओं के पास धर्म साधन के निमित्त जो उपकरण होते हैं उनको यत्नपूर्वक उठाना और रखना उसका नाम आदाननिक्षेपण समिति है क्योंकि--जब यत्न से रहित होकर कोई कार्य किया जावेगा तब जीव हिंसा होने की संभावना रहती है। द्वितीय जब रखते वा उठाते समय सावधानता ही न रहेगी तब प्रमाद की आदत पड़ जाएगी जिससे फिर प्रत्येक कार्य में विघ्न पड़ जाने का भय बना रहेगा।

५ उच्चार प्रश्रवण खेल सिंघाण जल्ल परिष्ठापनिकासमिति-पुरीषोत्सर्ग, (पाखाना) मूत्र, निष्ठीवन, (मुख का मल) नाक का मल, शरीर का मल, जब उक्त पदार्थों के गिरने का समय उपस्थित हो तब सावधान होकर उक्त पदार्थों

को व्युत्सृज करना चाहिए जिससे जीवहिंसा और घृणा उत्पन्न न हो।

पांचों समितियों के पश्चात् तीनों गुप्तियों का भी सम्यक्तया पालन करना चाहिए. जैसेकि-

१ मनोगुप्ति-मनमें सद् और असद् विचार उत्पन्न ही न होने देना अर्थात् कुशल और अकुशल संकल्प इन दोनों का निरोध कर केवल उपयोग दशा में ही रहना। २ वागगुप्ति-जिस प्रकार मनोगुप्ति का अर्थ किया गया है ठीक उसी प्रकार वचनगुप्ति के विषय में भी जानना चाहिए। ३ कायगुप्ति—इसी प्रकार असत् काय-व्यापारादि से निवृत्ति करनी चाहिए।

सो यह सब आठों प्रवचनमाता के अंक करणसत्य गुण के अन्तर्गत हो जाते हैं। शरीर, वस्त्र, पात्र, प्रतिलेखनादि सब क्रियाएं भी उक्त ही अंक के अन्तर्गत होती हैं। यही मुनि का सोलहवाँ करणसत्य नामक गुण है।

१७ योग सत्य—संग्रहनय के वशीभूत होकर कथन किया गया है कि-मन वचन और काय यह तीनों योग सत्यरूप में परिणत होने चाहिएं क्योंकि-इन के सत्य वर्तने से आत्मा सत्य स्वरूप में जा लीन होता है।

१८ क्षमा—क्रोध के उत्पन्न होजाने पर भी आत्मस्वरूप में ही स्थित रहना उस का नाम क्षमा गुण है क्योंकि-क्रोध के आजाने पर प्रायः आत्मा अपने स्वरूप से विचलित होजाता है इस लिए सदा क्षमा भाव रक्खे।

१९ विरागता—संसार के दुःखों को देखकर संसार चक्र के परिभ्रमण से निवृत्त होने की चेष्टा करे।

२० मनःसमाहरणता—अकुशल मनको रोक कर कुशलता में स्थापन करे। यद्यपि यह गुण योग सत्य के अन्तर्गत है तदपि व्यवहार नय के मत से यह गुण पृथक् दिखलाया गया है।

२१ वागसमाहरणता—स्वाध्यायादि के विना अन्यत्र वागयोग का निरोध करे क्योंकि—यावन्मात्र धर्म से सम्बन्ध रखने वाले वाग योग हैं वे सर्व वागसमाहरणता के ही प्रतिबोधक हैं परन्तु इन के विना जो व्यर्थ वचन प्रयोग करना है वह आत्मसमाधि से पृथक् करने वाला है।

२२ काय समाहरणता—अशुभ व्यापार से शरीर को पृथक् रक्खे। व्यवहारनय के वशीभूत होकर यह सब गुण पृथकरूप से दिखलाए गए है।

२३ ज्ञान संपन्नता—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान इन पांचों ज्ञानों से संपन्न होना उसे ज्ञानसंपन्नता कहते हैं। चार ज्ञान तो क्षयोपशम भाव के कारण विशुद्धी भाव से प्रकट होते हैं किन्तु केवलज्ञान केवल क्षय भाव के प्रयोग से ही उत्पन्न होता है। सो जिस प्रकार क्षायिक

वा क्षयोपशमभाव उत्पन्न हो उसी प्रकार वर्त्तना चाहिए।

२४ दर्शन संपन्नता—जिस प्रकार मिथ्यादर्शन से आत्मा पराङ्मुख होकर केवल सम्यग् दर्शन में ही आरूढ़ होजावे उसे दर्शनसंपन्नता कहते हैं। यद्यपि सम्यग् दर्शन, मिथ्यादर्शन, और मिश्रदर्शन तीन प्रकार से दर्शन प्रतिपादन किया गया है परन्तु इस स्थान पर केवल सम्यग् दर्शन से संपन्न होना और मिथ्या-दर्शन तथा मिश्रदर्शन का सर्वथा वेत्ता होना उसी का नाम दर्शन संपन्नता है।

२५ चारित्रसंपन्नता—जब आत्मा दर्शनयुक्त होता है तब फिर वह चारित्र में पूर्णतया दृढ़ होजाता है। चारित्र उसी का नाम है जिस के द्वारा कर्मों का चय (राशि) रिक्त (खाली) होजावे सो वह उपाधिभेद से पांच प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसेकि—सामायिक चारित्र १ छेदो-पस्थापनीय चारित्र २ परिहारविशुद्धि चारित्र ३ सूक्ष्म सांपरायिक चारित्र ४ यथाख्यात चारित्र ५। सामायिक चारित्र उसका नाम है जिसके करने से सावद्ययोग की निवृत्ति होजावे और ज्ञान दर्शन तथा चारित्र का लाभ हो। सामायिक के पुनः दो भेद हैं। स्तोककालप्रमाणचारित्र १ और याव-ज्जीव पर्यन्त सामायिक २। यावज्जीव पर्यन्त का चारित्र सर्वव्रति मुनियों का ही हो सकता है। परंच स्तोककालका सामायिक चारित्र दो करण तीन योग से गृहस्थ भी ग्रहण कर सकते हैं।

प्रथम तीर्थंकर और अंतिमदेव के समय छेदोपस्थापनीय चारित्र होता है जो सामायिक चारित्र के पश्चात् पांच महाव्रत रूप आरोपण किया जाता है। उस समय पूर्व पर्याय का व्यवच्छेदकर उत्तर पर्याय का स्थापन किया जाता है जिसको बड़ी दीक्षा कहते हैं। वह ७ दिन ४ मास वा छै मास के पश्चात् प्रतिक्रमण के ठीक आजाने पर आजाती है। परिहार विशुद्धि चारित्र उस तप का नाम है जिस के करने वाले ९ मुनि गच्छ से पृथक् होकर १८ मास पर्यन्त तप करते हैं जैसेकि—प्रथम चार भिक्षु ६ मास पर्यन्त तप करने लग जाते हैं, द्वितीय चार भिक्षु उनकी सेवा (वैया-वृत्य) करते रहते हैं एक उनमें धर्मकथादि क्रियाओं में लगा रहता है। जब प्रथम चार मुनियों का तप कर्म समाप्त होजाता है तब दूसरे चार भिक्षु ६ मास तक तप करने लगते हैं पहिले चार उनकी सेवा में नियुक्त किये जाते हैं किन्तु धर्मकथादि क्रियाओं में प्रथम मुनि ही काम करता रहता है। जब वे भी ६ मास पर्यन्त तपकर्म समाप्त कर लेते हैं तब धर्म कथा करने वाला मुनि ६ मास तक तप करने लग जाता है। उन आठ मुनियों में से एक भिक्षु धर्मकथा के लिये नियुक्त किया जाता है। सात भिक्षु तप कर्म करने वाले भिक्षु की सेवा करते रहते हैं। इस प्रकार ९ मुनि १८ मास पर्यन्त परिहार-

विशुद्धि तप की समाप्ति करते हैं सो इसीका नाम परिहार विशुद्ध चारित्र है ॥ सूक्ष्म संपराय चारित्र उस का नाम है जिसमें लोभ कषाय को सूक्ष्म किया जाता है। यह चारित्र उपशम श्रेणि वा क्षपक श्रेणि में देखा जाता है। उपशमश्रेणि १० वें गुणस्थान पर्यन्त रहती है ॥

अपरंच यथाख्यात चारित्र उसे कहते हैं जिससे मोहकर्म उपशम वा क्षायिक होकर आत्मगुण प्रकट होजाते हैं। सो इन पांचों चारित्रों की सम्यगतया आराधना करना उसे ही चारित्रसंपन्नता कहते हैं।

२६ वेदनाध्यासना—वेदना के सहन करने वाला जैसेकि-मनुष्यकृत देवकृत तथा तिर्यगकृत उपसर्गों में से किसी भी उपसर्ग के सहन करने का समय जब उपस्थित होजावे तब उस उपसर्ग को सहन करे। वेदना शब्द से २२ परीषह भी लिये जाते हैं सो उन परीषहों को सहन करे। इनके अतिरिक्त कोई अन्य वेदना सहन करने का समय उपस्थित होजावे तो उस को भी सम्यगतया शास्त्रोक्त रीति से सहन करे जिससे कर्म निर्जरा होने के पश्चात् सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति हो।

(प्रश्न) वे २२ परीषह कौन से हैं जिन के सहन करने से कर्मों की निर्जरा और सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति होजाती है ?

(उत्तर) वे २२ परीषह निम्न कथनानुसार हैं जिन के सम्यगतया सहन करने से आत्मा कर्मों की निर्जरा करके सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति करलेता है जैसेकि—

बावीस परीसहा प.-तं०—दिगिंच्छा परीसहे १ पिवासा परीसहे २ सती परीसहे ३ उसिण परीसहे ४ दंसमसग परीसहे ५ अचेल परीसहे ६ अरइ परीसहे ७ इत्थी परीसहे ८ चरिया परीसहे ९ निसीहिया परीसहे १० सिज्जा परीसहे ११ अक्कोस परीसहे १२ वह परीसहे १३ जायणा परीसहे १४ अलाभ परीसहे १५ रोग परीसहे १६ तणफास परीसहे १७ जल्ल परीसहे १८ सक्कार पुरक्कार परीसहे १९ पएणा परीसहे २० अएणाण परीसहे २१ दंसण परीसहे २२

समवायांग सूत्र-स्थान-२२

वृत्ति—द्वाविंशतितमं तु स्थानं प्रसिद्धार्थमेव नवरं सूत्राणि षट् स्थितरवाक्, तत्र मार्गा च्यवन निर्जरार्थं परीषह्यन्ते इति परीषहाः—"दिगिंछ"त्ति बुभुक्षा सैव परीषहो दिगिञ्छ परीषह इति सहनं चास्य मर्यादानुल्लङ्घनेन, एव मन्यत्रापि १ तथा पिपासा-नट शीतोष्णे प्रतीते ३-४ तथा दंशाश्च मशकाश्च दंशमशका उभयेऽप्येते चतुरिन्द्रिया महत्त्वा महत्कृतश्चैषां विशेषोऽथवा दंशो-

दंशनं भक्षणमित्यर्थः-तत्प्रधाना मशका दंशमशकाः एते च यूका मत्कुणमत् कोटक मक्षिकादीना-मुपलक्षणमिति ५ तथा चेलानां-वस्त्राणां बहुधन नवीनावदात सुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽभावः अचेलत्वमित्यर्थः-६-अरति मनसोविकारः ७ स्त्री प्रतीता ८ "चर्या" ग्रामादिष्वनियत विहारित्वं ९ "नैषेधिकी" सोपद्रवेतरा च स्वाध्याय भूमिः १० 'शय्या" मनोज्ञामनोज्ञवसतिः संस्तारको वा ११ "अक्रोशो" दुर्वचनं १२ वधोयष्ट्यादिताडनं १३ "याचना" भिक्षणं तथाविधे प्रयोजने मार्गणं वा १४ अलाभ रोगो प्रतीतौ १६ तृणस्पर्शः संस्तारकाऽभावे तृणेषु शयानस्य १७' जल्लः" शरीर वस्त्र मलः '१८ सत्कार पुरस्कारौ च वस्त्रादिपूजनाभ्युत्थानादि संपादनेन सत्कारेण वा पुरस्करणं-सन्माननं सत्कार पुरस्कारः १९ ज्ञानं-सामान्येन मत्यादि क्वचिद् ज्ञानमिति श्रूयते २० दर्शनं सम्यग्दर्शनं, सहनं चाऽस्य क्रियावादिनां विचित्र मत श्रवणेऽपि निश्चलचित्ततया धारणं २१ 'प्रज्ञा" स्वयं विमर्श पूर्वको वस्तुपरिच्छेदो मतिज्ञान विशेष भूत इति ॥

भावार्थ-सर्व प्रकार के कष्टों को सहन करना उसे परीषह कहते हैं अर्थात् अपनी गृहीत वृत्ति के अनुसार क्रियाएं पालन करते हुए कोई कष्ट उपस्थित हो जाए तो उसको सम्यकतया सहन करे किन्तु वृत्ति से विचलित न हो इसके निम्नलिखितानुसार २२ भेद हैं:-

१ क्षुत्परीषह-भूखका सहन करना किन्तु क्षुधा के वशीभूत होकर सचित्तादि पदार्थों का कदापि आसेवन न करे।

२ पिपासापरीषह-इसी प्रकार पिपासा का सहन करना किन्तु प्यास के वश होकर सचित्त जलादि को कदापि ग्रहण न करे।

३ शीतपरीषह-शीतादि अधिक पड़ जाने पर प्रमाण से अधिक वस्त्रादि आसेवन न करे और नाँ ही अग्नि का सेवन करे।

४ उष्णपरीषह-उष्णपरीषह से पराजित होकर स्नानादि की इच्छा कदापि न करे किन्तु गर्मी को सहन करे।

५ दंशमशकपरीषह-यूका मत्कुण मत्कोटक मक्षिकादि से उत्पन्न हुए कष्ट को सहन करे। चतुरिन्द्रियादि जीवों में मंशकादि का दंश विशेष पीडाकारी होता है। अतएव उक्त जीवों से उत्पन्न हुए कष्ट को सहन करे।

६ अचेल परीषह-प्रमाणपूर्वक वस्त्र धारण करता हुआ विचरे। यदि वे वस्त्र पुरातन होगए हों तो हर्ष और शोक न करे जैसेकि-मेरे यह वस्त्र पुराणे होगये हैं अब मुझे नवीनवस्त्र मिल जाएंगे। तथा इन वस्त्रों के फटजाने से अब मुझे वस्त्र कौन देगा अतः अब मैं अचेल (वस्त्र रहित) हो जाऊंगा इत्यादि विचारों से हर्ष और शोक न करे।

७ अरतिपरीषह-यदि किसी कारण अरति (चिंता) उत्पन्न हो गई हो तो मनको शिक्षा देकर चिंता दूर करे।

८ स्त्रीपरीषह—कामवासना से मनको हटाकर संयमरूपी आराम (वाग) में रमण करे किन्तु स्त्रियादि के विकारों में तनक भी मन न लगावे।

९ चर्यापरीषह-विहार के कष्ट को सहन करता हुआ ग्रामादि में अनियत विहारी होकर विचरे।

१० नैषेधिकी परीषह-विना कारण भ्रमण न करना अपितु अपने आसन पर ही स्थित रहना। इतना ही नहीं किन्तु गिरि, कंदरा, वृक्ष के मूल, श्मशान वा शून्यागार में ठहरकर सिंह व्याघ्र सर्प व्यन्तरादि देवों के किये हुए कष्टों को सहन करे।

११ शय्या परीषह—प्रिय वा अप्रिय वसति के मिल जाने पर हर्ष शोक न करना अपितु उसी वसति में उत्पन्न हुए परीषह का सहन करना जैसेकि-वसति चाहिए थी शीतकाल की किन्तु मिल गई उष्णकाल के सुख देने वाली इसी प्रकार उष्णकाल के स्थान पर शीतकाल की वसति उपलब्ध होगई होवे तो रोष वा हर्ष कदापि न करे।

१२ आक्रोश परीषह—कोई अनभिज्ञ आत्मा साधु को देखकर क्रोध के आवेश में आकर गाली आदि वकने लग जाए तो उस समय शांति भाव का अवलम्बन करे। उसके प्रति क्रोध न करे। नांही उसको बुरा भला कहे।

१३ वधपरीषह—यदि कोई साधु को यष्टि आदि से ताड़े तो भी उस पर क्रोध न करे किन्तु इस वात को अनुभव से विचार करे कि यह व्यक्ति मेरे शरीर का तो भले ही वध करदे परन्तु मेरे आत्मा का तो नाश करही नहीं सकता। इस प्रकार के विचारों से वध परीषह को सहन करे।

१४ याचना परीषह—तथाविध प्रयोजन के उत्पन्न हो जाने पर घर २ से भिक्षा मांगकर लाना और मांगते समय लज्जादि उत्पन्न न करना क्योंकि-श्रमण भिक्षा धार्मिक वृत्ति कही जाती है। अतएव भिक्षावृत्ति में लज्जा करनी उचित नहीं है।

१५ अलाभ परीषह—मांगने पर यदि फिर भी कुछ नहीं मिला तो शोक न करना किन्तु इस वात का विचार करना कि-यदि आज नहीं मिला तो अच्छा हुआ। विना इच्छा ही आज तप कर्म होगया। अंतराय के क्षयोपशम हो जाने पर फिर आहार उपलब्ध हो जायगा। इस प्रकार के विचारों से अलाभ परीषह सहन करे किन्तु न मिलने पर शोक वा दीनमुख तथा दीनवचनादि का उच्चारण न करे।

१६ रोग परीषह—रोग के उत्पन्न हो जाने पर उस रोगकी वेदना को शांतिपूर्वक सहन करे। फिर इस वात का सदैव अनुभव करता रहे कि-यह सर्व मेरे किये हुए कर्मों के फल हैं। मैं ने ही किये हैं और मैं ने ही इनका फल

भोगना है इसलिये मुझे इस वेदना से घबराना नहीं चाहिए । अपरंच इस वेदना के सहन करने से मेरे किए हुए महान् कर्मों की निर्जरा हो जायगी ।

१७ तृणस्पर्श परीषह—संस्तारकादि के न होने से तथा तृणादि पर शयन करने से जो शरीर को वेदना उत्पन्न होती है उसको सम्यगतया सहन करे अपितु तृण के दुःख से पीडित होकर प्रमाण से अधिक वस्त्रादि भी न रक्खे ।

१८ जल्ल—यावज्जीव पर्यन्त स्नानादि के त्याग होने से यदि ग्रीष्म ऋतु के आजाने पर शरीर प्रस्वेद के कारण मल युक्त हो गया हो तो शांति-पूर्वक उस वेदना को सहन करे किन्तु स्नानादि के भावोंको मनमें स्थान न दे कारण कि-ब्रह्मचारी को स्नानादि क्रियाओं के करने की आवश्यकता नहीं है केवल आचमन शुद्धि के लिये वा अन्य मलादि के लग जाने पर शारीरिक शुद्धि की आवश्यकता होती है ॥

१९ सत्कार पुरस्कार परीषह—वस्त्रादि के दान से किसी ने सत्कार किया अथवा देखा देखी या अन्य कारणवश किसी ने सन्मान किया तो इस सत्कार वा सन्मान के होजाने पर अहंकार न करना चाहिए ।

२० प्रज्ञा परीषह—विशेष ज्ञान होने से गर्व न करे और न होने से चिंता न करे जैसेकि-"परमपंडितोऽस्मि" मैं परम पंडित हूं इत्यादि प्रकार से मान न करना चाहिए यदि ज्ञान-अध्ययन नहीं किया गया तो शोक भी न करना चाहिए जैसेकि-मैंने श्रामण्यभाव क्यों ग्रहण किया ? मुझे ज्ञान तो आया ही नहीं इत्यादि । किन्तु ज्ञानसंपादन करने में सदैव पुरुषार्थ होना चाहिए ।

२१ अज्ञान परीषह—ज्ञानावरणीयादि कर्मों के उदय से यदि ज्ञान पठन नहीं किया जा सका तो शोक न करना चाहिए अपितु चित्त स्वस्थ करके तपकर्म, आचारशुद्धि वा विनय को धारण करना चाहिए ताकि ज्ञाना-वरणीय कर्म सर्वथा ही क्षय हो जावें ।

२२ दर्शन परीषह—सम्यक्त्व में परम दृढ़ होना चाहिए । किसी समय नास्तिकादि लोगों की ऋद्धिको देखकर अपने सुगृहीत तत्त्वों से विचलित न होना चाहिए । जैसेकि-देखो, जो तत्त्वविद्या से रहित हैं वे किस प्रकार उन्नत हो रहे हैं और हम तत्त्वविद्या के रहस्य को जानने वाले परम तिरस्कार को प्राप्त हो रहे हैं । अतएव इस हमारी तत्त्वविद्या में कोई भी अतिशय नहीं है । इस से यह भी सिद्ध होता है कि जो लोग परलोकादि को मानते हैं वे परम मूर्ख हैं मेरे विचार में लोक परलोक कुछ भी नहीं है, न कोई अति-शय युक्त लब्धि है और न कोई तीर्थंकरादि भूतकाल में हुए हैं, न होंगे, और न अब हैं सो यह सब भ्रम है । इस प्रकार के भाव मन में कदापि चिंतन

न करने चाहिएं क्योंकि—दर्शन (निश्चय) के ठीक होने पर ही सब क्रियाएँ सफल हो सकती हैं। यदि सम्यक्त्व में निश्चलता नहीं तो फिर व्रतों में भी अवश्यमेव शिथिलता आजायगी। मुनि का २६ वां गुण यह है कि वह वेदना को शांति पूर्वक सहन करे।

२७ मारणांतिकाध्यासनता—मारणांतिक कष्ट के आजाने पर भी अपनी सुगृहीत वृत्ति से विचलित न होना चाहिए अर्थात् यदि मरण पर्यन्त उपसर्ग भी आजावे तो भी अपने नियमों को न छोड़े कारणकि—साधुजनों के सखा कष्ट ही होते हैं जिनके आजाने से शीघ्र कार्य की सिद्धि होजाती है। इस लिये मुनि मारणांतिक कष्ट को भी भली प्रकार सहन करे। शास्त्र में इस प्रकार मुनि के २७ गुण वर्णन किये गए हैं किन्तु प्रकरण ग्रंथों में २७ गुण इस प्रकार भी लिखे हैं जैसेकि—१ अहिंसा २ सत्य ३ दत्त ४ ब्रह्मचर्य ५ अपरिग्रह व्रत ६ पृथ्वी ७ अपकाय ८ तेजोकाय ९ वायुकाय १० वनस्पतिकाय ११ त्रसकाय १२ श्रुतेन्द्रिय निग्रह १३ चक्षुरिन्द्रिय निग्रह १४ घ्राणेन्द्रिय निग्रह १५ जिह्वेन्द्रिय निग्रह १६ स्पर्शेन्द्रिय निग्रह १७ लोभ निग्रह १८ क्षमा १९ भाव विशुद्धि २० प्रतिलेखना विशुद्धि २१ संयम योग युक्त २२ कुशल मन उदीरणा अकुशल मन निरोध २३ कुशल वचन उदीरणा और अकुशल वचन निरोध २४ कुशल काय उदीरणा और अकुशल काय निरोध २५ शीतादि की पीड़ा सहन करना २६ मारणांतिक उपसर्ग का सहन करना २७ इस प्रकार से भी २७ गुण प्रकरण ग्रंथों में लिखे गए हैं परन्तु यह सब गुण पूर्वोक्त गुणों के अन्तर्गत हैं।

उक्त गुणों से युक्त होकर मुनि नाना प्रकार के तपोकर्म से अपने अन्तः करण को शुद्ध करने के योग्य हो जाता है और नाना प्रकार की आत्मशक्तियें (लब्धिएं) उसमें प्रकट होजाती हैं। यथाः—मनोबल—मन का परम दृढ़ और अलौकिक साहस युक्त होना वाग्बल—प्रतिज्ञा निर्वाह करने की शक्ति का उत्पन्न होजाना कायबल—क्षुधादि के लग जाने पर शरीर की कांति का बने रहना "मनसाशापानुग्रहकरणसमर्थ" मनसे शाप और अनुग्रह करने में समर्थ "वचसाशापानुग्रहकरणसमर्थ" वचन से शाप और अनुग्रह करने में समर्थ—"कायेनशापानुग्रहकरणसमर्थ"—काय द्वारा शापानुग्रह करने में समर्थ—खेलौषधिप्राप्त—मुख का मल (निष्ठीवन) सकल रोगों के उपशम करने में समर्थ "जल्लौषधिप्राप्त"—शरीर का प्रस्वेद वा शरीर मल रोगों के उपशम करने में समर्थ—"विप्रौषधिप्राप्त"—मूत्रादि के बिंदु तथा वि—विष्टा प्र—प्रश्रवण (मूत्र) यह सब तप के माहात्म्य से औषधिरूप हो रहे हैं "आमर्षणौषधि" हस्तादि का स्पर्श भी औषधिरूप जिनका हो रहा है "सर्वौषधिप्राप्त"—शरीर के सर्व

अवयव औषधि रूप में परिणत हो रहे हैं यह सब शक्तिएं तप के माहात्म्य से प्रकट होजाती हैं। तथा कुष्टबुद्धि—जिस प्रकार कुष्टक में धान्यादि पदार्थ सुरक्षित रह सकते हैं उसी प्रकार जिनकी बुद्धि कुष्टक के समान हो गई है। यावन्मात्र गुर्वादि से ज्ञान सीखा जाता है वह धारणाशक्ति द्वारा विनश्वर नहीं होता। बीजबुद्धि—जिस प्रकार वट वृक्ष का बीज विस्तार पाता है ठीक उसी प्रकार प्रत्येक शब्द के निर्णय करने में बुद्धि विस्तार पाती है। पदबुद्धि—जिस प्रकार मालाकार अपने आराम से यावन्मात्र वृक्षादि, पुष्प वा फलादि गिरते हैं तावन्मात्र ही वह ग्रहण करलेता है। ठीक उसी प्रकार यावन्मात्र श्री गुरु के मुख से सूत्र वा अर्थादि के सुवाक्य निकलते हैं वह सर्व मालाकारवत् ग्रहण कर लेता है। तथा तप के महात्म्य से "संभिन्नश्रोतार" भिन्न २ प्रकार के शब्दों को युगपत् सुनने वाले तथा "संभिन्नानिवा शब्देन व्याप्तानि शब्द ग्राहीणि, प्रत्येक वा शब्दादि विषयैः श्रोतांसि-सर्वेन्द्रियाणि येषां ते" जिनकी सर्व इन्द्रियों के श्रोत शब्द सुनने की शक्ति रखते हैं अर्थात् जिनकी सर्व इन्द्रियें सुनती हैं क्योंकि-तप के महात्म्य से शरीर के यावन्मात्र रोम हैं वे सर्व शब्द सुनने की शक्ति रखते हैं। तथा पदानुसारिणालब्धि एक पद के उपलब्ध हो जाने से फिर उसी के अनुसार अनेक पदों को उच्चारणकर देना यह सब शक्ति तप कर्म के करने से उत्पन्न हो जाती हैं। क्षीराश्रवा—क्षीरवन्मधुरत्वेन श्रोतृणां कर्ण मनः सुखकरं वचनमाश्रवन्ति-क्षरन्ति ये ते क्षीराश्रवाः" जिस लब्धि के महात्म्य से उस मुनिका वचन श्रोतागण को क्षीर (दूध) के समान मधुर, मन और श्रोतेन्द्रिय को सुख देने वाला होता है। मध्वाश्रव—"मधुवत्सर्वदोषोपशमनिमित्तत्वादाल्हादकत्वाच्च तद्वचनस्य क्षीराश्रवेभ्यस्ते भेदेनोक्ताः" जिस मुनि का वचन मधुवत् सर्वदोषों के उपशम करने वाला और प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला अर्थात् जिस वाक्य के सुनने से आत्मा के आभ्यंतरिक दोष नष्ट होजाते हैं और आत्मा में सम भाव उत्पन्न होता है उसी को मध्वाश्रवलब्धि कहते हैं केवल आंतरिक दोषों के दूर करने की शक्ति होने से ही क्षीराश्रव लब्धि से इसका पृथक् उपादान किया गया है। सर्पिराश्रव—सर्पिराश्रवास्तथैव नवरं श्रोतृणां स्व विषय स्नेहातिरेक सम्पादकत्वात् क्षीराश्रव मध्वाश्रवेभ्यो भेदेनोक्ताः—

जिस मुनि के वचन से अति स्नेह और धर्मराग उत्पन्न हो अथवा जिस मुनि का वाक्य घृत के समान स्नेह और धर्म राग का उत्पादक हो उसे सर्पिराश्रव लब्धि कहते हैं।

भोजनमक्षीणमहानसं—महानसम्-अन्नपाकस्थानं तदाश्रितत्वाद्वाऽन्नमपिमहानसमुच्यते, ततश्चाक्षीणं-पुरुषशतसहस्रेभ्योऽपिदीयमानं स्वयमभुक्तं

सत् तथाविधलब्धिविशेषादत्रुटितं तच्चतन्महानसं च—भिक्षालब्धं भोजनमक्षीणमहानसं तदस्ति येषां ते तथा" अर्थात् अक्षीण महानसशक्ति जिस से एक सामान्य भोजन द्वारा सहस्रों पुरुषों की तृप्ति की जा सकती है और मूल के भोजन में त्रुटि नहीं होती ये तप के माहात्म्य से उत्पन्न होती है। इतनाही नहीं किन्तु साथही वैक्रिय की लब्धि भी उत्पन्न होजाती है जिसके द्वारा मनोकामनानुसार अनेक रूपों की रचना की जा सकती है। जैसा रूप बनाने की इच्छा हो वैसा ही रूप बनाने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। एवं मुनि विद्याचारण लब्धि भी उत्पन्न कर लेता है जिसके द्वारा आकाश में गमन करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है तथा जंघाचारण आकाशगामिनी इत्यादि शक्तियां जो मुनि में उत्पन्न होती हैं वे सब तपःकर्म का ही माहात्म्य है।

तात्पर्य इतना ही है कि-कर्म क्षय करने के लिए दो स्थान प्रतिपादन किये हैं स्वाध्याय और ध्यान। इन्हीं स्थानों से आत्मा निर्वाण पद की प्राप्ति कर लेता है।

यद्यपि मुनि धर्म के क्रियाकाण्ड की सहस्रों गाथायें या श्लोक पूर्वाचार्यों ने प्रतिपादन किये हैं तथापि वे सब गद्य वा पद्य काव्य उक्त मुनि के २७ गुणों के ही अन्तर्भूत होजाते हैं।

औपपातिक सूत्र में श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के साथ रहनेवाले मुनि मण्डल का वर्णन करते हुए सोलहवें सूत्र में लिखा है। तथा च पाठः—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे थेरा भगवंतो जातिसंपरणा कुलसंपरणा बलसंपरणा ओअंसी तेअंसी वच्चंसी जसंसी जियकोहा जियमाणा जियमाया · जियलोभा जियइंदिया जिअणिद्दा जिअपरीसहा जीविआस मरण भयविप्पमुक्का वयप्पहाणा गुणप्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्पहाणा णिग्गहप्पहाणा णिच्छयप्पहाणा अज्जवप्पहाणा मद्दवप्पहाणा लाघवप्पहाणा खंतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा विज्जाप्पहाणा मंतप्पहाणा वेयप्पहाणा बंभप्पहाणा नयप्पहाणा नियमप्पहाणा सच्चप्पहाणा सोमप्पहाणा चारुवरणा लज्जातवस्सी जिइंदिया सोही अणियाणा अप्पुस्सुआ अबहिल्लेसा अप्पडिलेस्सा सुसामरणरयादंता इणमेव णिग्गंथं पावयणं पुरओ काउं विहरंति ॥

वृत्ति—"साधुवर्णक गमान्तरमेव—तत्र "जाइ संपन्न" त्ति उत्तममातृकपत्तयुक्ता इत्यवसेयम्। अन्यथा मातृकपत्तसंपन्नत्वं पुरुषमात्रस्यापि स्यादिति

नैषामुत्कर्षः कश्चिदुक्तः स्याद्, उत्कर्षाभिधानार्थं चैषां विशेषणकदम्बकं चिकीर्षितमिति। एवं "कुलसंपन्ना" इत्याद्यपि विशेषणनवकं नवरं कुलं—पैतृकः पक्षः, बलं-संहननसमुत्थः प्राणः, रूपम्-आकृतिः, विनयज्ञाने प्रतीते दर्शनं-सम्यक्त्वं, चारित्रं—समित्यादि लज्जा—अपवाद—भीरुता संयमो वा, लाघवं—द्रव्यतोऽल्पोपाधिताभावतोगौरवत्रय—त्यागः "ओ ओंसि" त्ति ओजो—मानसोऽवष्टम्भस्तद्वन्तः ओजस्विनः, "तेयंसि" त्ति—तेजः शरीरप्रभा तद्वन्तः तेजस्विनः, "वच्चंसि" त्ति वचो-वचनं सौभाग्याद्युपेतं येषामस्ति ते वचस्विनः अथवा वर्चः-तेजः प्रभाव इत्यर्थः तद्वन्तो वर्चस्विनः "जसंसि" त्ति यशस्विनः-ख्यातिमन्तः जितक्रोधादीनि सप्त विशेषणानि प्रतीतानि-नवरं क्रोधादिजयः-उदयप्राप्तक्रोधादिविफलीकरणतोऽवसेयः। 'जीविआसमरणभयविप्पमुक्का' जीविताशया मरणभयेन च विप्रमुक्ताः तदुभयोपेक्षका इत्यर्थः—"वयप्पहाणे" ति व्रतं-यतित्वं प्रधानम्—उत्तमं शाक्यादि यतित्वापेक्षया निग्रन्थयतित्वाद्येषां, व्रतेन वा प्रधाना ये ते तथा निर्ग्रन्थश्रमणा इत्यर्थः—ते च न व्यवहारतः एवेत्यत आह—'गुणप्पहाण' त्ति प्रतीतं नवरं गुणाः—करुणादयः। गुणप्राधान्यमेव प्रपञ्चयन्नाह—'करणप्पहाणे' त्यादि विशेषणसप्तकं प्रतीतार्थं च नवरं-करणं-पिण्डविशुद्धयादिचरणं-महाव्रतादि-निग्रहः—अनाचारप्रवृत्तेर्निषेधनं निश्चयः-तत्त्वनिर्णयः विदितानुष्ठानेषु वा अवश्यं करणाभ्युपगमः आर्जवं-मायोदयनिग्रहः मार्दवं-मानोदयनिरोधः, लाघवं—क्रियासु दक्षत्वं, क्षान्ति-क्रोधोदयनिग्रह इत्यर्थः, मुक्तिः-लोभोदयविनिरोधो विद्याः-प्रज्ञप्त्यादिकाः मंत्राः-हरिणगमेष्यादि मंत्राः, वेदाः आगमाः, ऋग्वेदादयो वा, ब्रह्मः-ब्रह्मचर्यं कुशलानुष्ठानं वा नयाः—नीतयः नियमाः—अभिग्रहाः सत्यं-सम्यग्वादः शौचं-द्रव्यतो निर्लेपता भावतोऽनवद्यसमाचारः। यच्चेह—चरणकरणग्रहणेऽप्यार्जवादिग्रहणं तदार्जवादीनां प्राधान्यख्यापनार्थमवसेयं। "चारुवण्णा" त्ति सत्कीर्त्तयः गौराद्युदात्तशरीरवर्णयुक्ता वा, सत्प्रज्ञा वा "लज्जातवस्सी" "जिइंदिय" त्ति लज्जाप्रधानास्तपस्विनः-शिष्या जितेन्द्रियाश्च येषां ते लज्जातपस्विजितेन्द्रियाः, अथवा लज्जया तपःश्रिया च जितानीन्द्रियाणि यैस्ते लज्जातपःश्रीजितेन्द्रियाः यद्यपि जितेन्द्रिया इति प्रागुक्तं, तथापीह लज्जातपोविशेषितत्वान्न पुनरुक्तत्वमवसेयमिति, "सोहि" त्ति सुहृदो मित्राणि जीवलोकस्येति गम्यम्—अथवा शोधियोगाच्छोधयः-अकलुषहृदया इत्यर्थः—"अणियाण" त्ति अनिदाना—निदानरहिताः "अप्पुस्सुय" त्ति अल्पौत्सुक्या—औत्सुक्य वर्जिताः "अवहिलेस्स" त्ति संयमादबहिर्भूतमनोवृत्तयः 'अप्पदिलेस्सा' (वा) अप्रतिलेश्या अतुलमनोवृत्तयः "सुसामण्णरयी" त्ति अतिशयेन श्रमणकर्मासक्ताः—"दंत"

त्ति गुरुभिर्दमं ग्राहिताः विनायिता इत्यर्थः—इदमेव नैर्ग्रन्थप्रवचनं "पुरओ-काउं" त्ति पुरस्कृत्य—प्रमाणीकृत्य विहरंतीति, क्वचिदेवं च पठ्यते—"बहूणं आयरिया" अर्थदायकत्वात् "बहूणं उवज्झाया" सूत्रदायकत्वात्, बहूनां गृहस्थानां प्रव्रजितानां च दीप इव दीपो मोहतमःपटलपाटनपटुत्वात् द्वीप इव वा द्वीपः संसारसागरनिमग्नानामाश्वासभूतत्वात् "ताणं" त्ति त्राणमनर्थेभ्यो रक्षकत्वात् "सरणं" त्ति शरणमर्थसम्पादकत्वात् "गइ" त्ति गम्यत इति गतिरभिगमनीया इत्यर्थः—पइट्ठत्ति प्रतिष्ठन्त्यस्यामिति प्रतिष्ठा आश्रय इत्यर्थः।

भावार्थ—यद्यपि उक्त सूत्र का अर्थ संस्कृत भाषा में वृत्तिकार ने स्फुट कर दिया है तथापि देशी भाषा में उक्त सूत्र का अर्थ सामान्यतया दिखलाया जाता है। औपपातिक सूत्र में श्रमण भगवान् श्रीमहावीर स्वामी और श्रीभगवान् के मुनिसंघ का विस्तृत रूप से वर्णन किया है जिस के उपोद्घात के १६ वें सूत्र का यहां पर उल्लेख है। इस सूत्र में श्री भगवान् के साथ रहने वाले मुनियों के गुणों का वर्णन है जैसेकि—अवसर्पिणी काल के चतुर्थ दुषम-सुषम नामक काल में जब श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विचरते थे तब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के बहुत से शिष्य स्थविर भगवान्, माता पिता के पक्ष से निष्कलंक, बल, (उत्तमसंहननयुक्त) रूप, विनय, ज्ञान, दर्शन, चरित्र सम्पन्न, पाप कर्म से लज्जा करने वाले, अल्पोपधि के धारण से वा गौरव के परित्याग से लाघव सम्पन्न, ओजस्वी, तेजस्वी, वचन सौभाग्य से युक्त, इतना ही नहीं किन्तु परम ख्यात, क्रोध, मान, माया, लोभ, इन्द्रिय, निद्रा तथा परीषह जीतने वाले, जीवन आशा और मृत्यु भय से रहित, व्रत तथा व्रतप्रधान गुण, क्रियाकलाप, चरित्र, निग्रह, निश्चय, आर्जव, मार्दव, लाघव, क्षान्ति और मुक्ति प्रधान, प्रज्ञप्ति आदि विद्या के होने से विद्या प्रधान, हरिणगमेषि आदि देवों के आवाहन करने में समर्थ होने से मंत्र प्रधान, वेदों (आगमों) के ज्ञाता, तथा लौकिक शास्त्रों के जानने वाले, ब्रह्मचर्य (कुशलानुष्ठान) में प्रधान, नीति में प्रधान, अभिग्रह (नियम विशेष) करने में प्रधान, सम्यग् वाद करने में प्रधान, द्रव्य से शारीरिक शौच, भाव से निर्दोष संयम क्रिया करनेवालों में प्रधान, सत्कीर्ति वा गौर शरीर वाले, तथा सत्प्रज्ञावाले, लज्जालु, तपस्वी और जितेन्द्रिय, प्राणीमात्र के प्रेमी, तीन योगों को शुद्ध करने वाले, निदान-कर्म रहित, औत्सुक्य भाव से वर्जित, संयम वृत्ति से मनको बाहिर न करने वाले और अतुल मनोवृत्ति, श्रामण्य भाव अनुरक्त, विनयी, निर्ग्रन्थ, प्रवचन के पठन पाठन करने वाले अतएव निर्ग्रन्थ, प्रवचन को प्रमाणभूत करके विचरने वाले। (पुरस्कृत्य—प्रमाणीकृत्य विहरंति)।

अब सूत्रकार फिर उक्त ही विषय में कहते हैं—

तेसिणं भगवंताणं आयावायावि विदिता भवंति, पर वाया विदिता भवंति, आयावायं जमइत्ता नलवणमिव मत्त मातंगा अच्छिद्द पसिण वागरणा रयण करंड समाणा, कुत्तियावण भूया परवादिय पमद्दणा दुवालसंगिणो समत्त गणिपिडगधरा सव्वक्खर सण्णिवाइणो सव्व भासाणुगामिणो अजिणाजिण संकासा जिणा इव अवितहं वागरमाणा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

औपपातिक सूत्र १६ ।

वृत्ति—'तेषां भगवतां "आयावायावि" त्ति आत्मवादाः—स्व सिद्धान्तप्रवाद अपि समुच्चये, पाठान्तरेणात्मवादिनो जैना इत्यर्थः । —विदिताः—प्रतीता भवन्ति, तथा परवादाः—शाक्यादिमतानि पाठान्तरेण परवादिनः—शाक्यादयो विदिता भवंति, परसिद्धान्त प्रवीणतया, ततश्च "आय वायं" ति स्वसिद्धान्तं "जमइत्त" त्ति, पुनः पुनरावर्तनेनाति परिचितं कृत्वा किमिव के इत्याह—"नलवनमिवमत्तमातंगा" इति प्रतीतं, नलवना इति पाठान्तरे नलवनानीवेति व्याख्या, इयम् । ततः "अच्छिद्द पसिण वागरणा" त्ति अविरलप्रश्नाः, अतिरलोत्तराश्च सम्भूताः सन्तो विहरन्तीति योगः 'रयण करंडसमाणा' त्ति 'प्रतीतं-' कुत्तियावण भूअ" कुत्रिकं--स्वर्ग-मर्त्य-पाताल-लक्षणं भूमित्रयं तत्संभवं वस्त्वपि कुत्रिकं--तत्संपादक आपणो-इह=कुत्रिकापणस्तद्भूताः--समीहितार्थसम्पादन लब्धियुक्तत्वेन तदुपमाः "परवाइयपमद्दण" त्ति तन्मत प्रमर्द्दनात् "परवाईहिअणोक्कंता" इत्यादि चौद्दसपुव्वीत्यन्तं वाचनान्तरं तत्र अनुपक्रान्ता—अनिराकृता इत्यर्थः—"अण्णउत्थिएहिं" त्ति अन्ययूथिकैः-परतीर्थिकैः "अणोद्धंसिज्जमाण" त्ति अनुपध्वस्यमानाः माहात्म्यादपास्यमानाः विहरन्ति—विचरान्ति, "अप्पेगइया आयारधरे" त्येव मादीनि षोडश विशेषणानि सुगमानि—नवरं सूत्रकृतधरा इत्यस्य प्राक्तनाङ्गधरणाविनाभूतत्वेपि तस्यातिशयेन धरणात् सूत्रकृतधरा इत्याद्युक्तम् अतएव विपाकश्रुतधरा-कावपि एकादशाङ्गविद इत्युक्तम् अथवा विदेर्विचारणार्थत्वादकादशाङ्गविचारकाः नवपूर्व्यादिग्रहणं तु तेषां सातिशयेन प्राधान्यख्यापनार्थमिति चतुर्दशपूर्वित्वे सत्यपि द्वादशाङ्गित्वं केषाञ्चिन्न स्याच्चतुर्दशपूर्वाणां द्वादशाङ्गस्यांशभूतत्वात् अत आह—"दुवालसंगिणो" त्ति—तथा द्वादशाङ्गित्वेऽपि न समस्तश्रुतधरत्वं । केषांचित् स्यादित्यत आह—"समत्तगणि पिडगधरा" गणीनाम्—अर्थपरिच्छेदानां पिटकमिव पिटकं—स्थानं गणि पिटकं—अथवा पिटकमिव वालञ्जववाणिजसर्वस्वाधारभाजन विशेष इव यत्तत् पिटकं गणिन—आचार्यस्य पिटकं गणिपिटकं—प्रकीर्णकश्रुतादेश श्रुतनिर्युक्त्यादि युक्तं जिनप्रवचनं समस्तम—अनन्त गम पर्यायोपेतंगणिपिटकं धारयंति ये ते तथा अतएव "सव्वक्खर सण्णिवाइणो" त्ति-सर्वे अक्षरसन्निपाताः-वर्णसंयोगा ज्ञेयतया विद्यन्ते येषां ते तथा 'सव्वभासाणुगामिणो' त्ति सर्वभाषाः—आर्यानार्यामरवाचः अनुगच्छन्ति—अनुकुर्वन्ति- तद्भाषा भाषित्वात्, स्वभाषयैव वा लब्धिविशेषात्तथाविधप्रत्ययजननात्, अथवासर्व भाषाः-संस्कृतप्राकृतमागध्याद्या अनुगमयन्ति व्याख्यान्तीत्येवं शीला ये ते तथा, अजिणां,ति असर्वज्ञाः सन्तो जिनसंकाशाः जिना इवावितथं व्याकुर्वाणाः ॥

अर्थ—वे स्थविर भगवान् जैनसिद्धान्त से पूर्ण परिचित थे, तथा वे स्वमत और परमत के पूर्णवेत्ता थे, । उन्होंने पुनः पुनः अभ्यास करने से आत्मवाद का परम परिचय प्राप्त करलिया था जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने नाम को किसी दशा में भी विस्मृत नहीं करता और मत्तहस्ती आनन्दपूर्वक एक सुन्दर आराम (बाग वा उद्यान) में क्रीड़ा करता है, ठीक उसी प्रकार आत्मवाद को अवगत करके वे स्थविर भगवान् आत्मवाद में रमण करते थे। उनके प्रश्नोत्तर में किसी को तर्क करने का साहस नहीं होता था, क्योंकि—प्रश्नोत्तर युक्तियुक्त होने से वादी को किसी प्रकार से भी उनमें आक्षेप करने के लिये छिद्र नहीं मिलता था। जिस प्रकार एक धनाढ्य का रत्नों का करंडिया (डब्बा) होता है जिसकी सहायता से वह व्यापारादि क्रियाएं कर सकता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन और चरित्ररूपी रत्न करंडियों को वे धारण करने वाले तथा कुत्रिकापण (हट्ट) के समान थे । जिस प्रकार देवाधिष्ठित हट्ट से सर्व प्रकार की वस्तु उपलब्ध हो सकती है ठीक उसी प्रकार उन स्थविर भगवन्तों से सर्व प्रकार के ज्ञानादि पदार्थों की प्राप्ति होती थी तथा सर्व प्रकार के प्रश्नों के उत्तर जिज्ञासु जनों को उपलब्ध होते थे। इसी कारण वे परवादी का मान के मर्दन करने वाले तथा अकाट्य युक्तियों से स्वसिद्धान्त को सिद्ध करने वाले थे । द्वादशांग वाणी तथा समस्त गुणपिटक के धरने वाले, अर्थात् जिस प्रकार गृहस्थ लोगों का सर्व बहुमूल्य पदार्थ पिटक में रहा करता है ठीक उसी प्रकार समस्त श्रुतज्ञान उनमें ठहरा हुआ है , अतः वे द्वादशाङ्ग आचार्य के पिटक समान हैं। इसी लिए लिखा है कि यह द्वादशाङ्ग श्रुत के पिटक हैं। वे स्थविर भगवान् समस्त गुण पिटक,सर्व प्रकार के अक्षर सन्निपात के वेत्ता थे। क्योंकि-सर्व प्रकार का अक्षरज्ञान शब्दागम (व्याकरण) द्वारा ही हो सकता है इतना ही नहीं किन्तु-स्वभाषा बल से सर्व भाषाओं में बातचीत करने में शक्त थे । आर्य अनार्य देवभाषा इत्यादि समस्त भाषाओं के पूर्ण विद्वान् होने से वे जिन भगवान् तो नहीं किन्तु जिन भगवान्वत् यथार्थ पदार्थों का वर्णन करने वाले थे। ऐसी शक्ति होने पर भी संयम और तप द्वारा आत्मा की शुद्धि करते हुए वे स्थविर भगवान् श्री भगवान् के साथ विचरते थे।

इस सूत्र से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि यावत्काल पर्यन्त आत्मा ज्ञान संपन्न नहीं होता तावत्काल पर्यन्त कोई भी संयम क्रियाओं में रमण नहीं कर सकता। क्योंकि-जब ज्ञान द्वारा पदार्थों का स्वरूप भली प्रकार जान लिया जाता है तभी हेय-(त्यागने योग्य) ज्ञेय-(जानने योग्य) वा उपादेय-(ग्रहण करने योग्य) पदार्थों का यथावत् ज्ञान हो जाने के पश्चात्

उपादेय पदार्थों का सम्यक्तया पालन किया जा सकता है जिसका अंतिम फल मोक्षप्राप्ति है क्योंकि—कर्म क्षय का फल मोक्ष है। कर्म का मोक्ष नहीं है।

इसलिए मुनिको सप्तदश प्रकार के संयम में दत्तचित्त होना चाहिए। "सम्" उपसर्ग और "यमु" "उपरमे" धातु मे "अच्" प्रत्ययान्त संयम शब्द बना हुआ है, जिसका अर्थ है-ज्ञानपूर्वक सांसारिक पदार्थों से निवृत्ति भाव। इस प्रकार समान अर्थ होने पर भी शास्त्रकर्त्ता ने व्यवहारनय के आश्रित होकर संयम शब्द १७ प्रकार के अंकों में व्यवहृत किया है अर्थात् संयम के १७ भेद हैं जैसेकि—

"सत्तरसविहे संजमे प. तं०—पुढवीकाय संजमे अप्काय संजमे तेउकाय संजमे वाउकाय संजमे वणस्सइकाय संजमे बेइंदिय संजमे तेइंदिअ संजमे चउरिन्दिअ संजमे पंचिंदिय संजमे अजीवकाय संजमे पेहासंजमे उवेहा संजमे पमज्जणा संजमे परिठावणिया संजमे मण संजमे वइ संजमे काय संजमे ॥ समवायांग सूत्र स्थान सू. १७ ॥

अर्थ—श्री भगवान् महावीर स्वामी ने १७ प्रकार से संयम प्रतिपादन किया है। जैसेकि-पृथ्वी-काय १, जल-काय २, तेजः-काय ३, वायु-काय ४, वनस्पति-काय ५, द्वीन्द्रियजीव ६, त्रीन्द्रियजीव ७, चतुरिन्द्रियजीव ८, और पञ्चेन्द्रियजीव ९ इन नव प्रकार के जीवों की हिंसा मन, वचन और काय द्वारा आप नहीं करे, औरों से भी न करावे बल्कि जो हिंसा करते हैं उनकी अनुमोदना भी न करे। इसी को नव प्रकार का संयम कहा जाता है। किन्तु हिंसा के भी तीन भेद हैं जैसेकि—संरंभ, समारंभ और आरंभ। मन से किसी जीव के मारने के भावों को संरभ कहते हैं। किसी प्राणी के प्राणों को पीड़ा देने का नाम समारंभ है। प्राणों से विमुक्त ही कर दिया जाय तो उसी को आरंभ कहते हैं। उक्त तीनों प्रकार से जीव हिंसा का परित्याग करदेवे। तथा—१० अजीव संयम—जिस अजीव वस्तु के रखने से असंयम उत्पन्न होता हो उन पदार्थों को न रखना चाहिए जैसेकि-सुवर्ण, मोती, प्रमुख धातु इत्यादि पदार्थों के रखने से संयम को कलंक लगता है अतः इनका सर्वथा परित्याग करना ही श्रेष्ठ है। तथा जो धर्म साधन के लिये वस्त्र पात्र वा पुस्तक आदि उपकरण रखे जाते हैं, उनकी यत्नपूर्वक प्रतिलेखना वा प्रमार्जना करनी चाहिए क्योंकि इन से संयम बढ़ता तथा चमकता है। ११ प्रेक्षासंयम-आंखों से देखकर गमनादि क्रियाएँ करनी चाहिएं तथा शयनादि क्रियाएं भी बिना यत्न से न करनी चाहिएं। १२ उपेक्षासंयम-संयम क्रियाओं से बाह्यवृत्तियों को निवारण करने के लिये प्रयत्न करना चाहिए, यदिशक्ति से बाह्यकार्य है तो

भी उसकी उपेक्षा करने की चेष्टा करनी चाहिए। कारण कि–सांसारिक कर्तव्यों में भाग लेने से संयम मार्ग में शिथिलता आजाती है। इसलिए पापमय कृत्यों के करने में उपेक्षा करनी ही योग्य है। बस इसे ही उपेक्षा संयम कहते हैं। १३ प्रमार्जना संयम—जिस स्थान पर बैठना हो वा शयन करना हो उस स्थान की यत्न पूर्वक प्रमार्जना करलेनी चाहिए। कारण कि–प्रमार्जना करने से ही जीवरक्षा भले प्रकार की जा सकेगी। १४ परिष्ठापना संयम—जो वस्तु परिष्ठापन करने (गिराने) योग्य हो जैसे-मल मूत्रादि तो उन पदार्थों को शुद्ध और निर्दोष भूमि में परिष्ठापन (गिरना) करना चाहिए जिससे फिर असंयम न होजावे। १५ मनःसंयम-मन में किसी जीव के प्रतिकूल वा हानि करने वाले भाव न उत्पन्न करने चाहिएं अपितु मनमें सदैव, धार्मिक भाव ही उत्पन्न करने चाहिएं। इसी का नाम मनःसंयम है॥ १६ वाकसं-यम—वचनयोग को वश करना, तथा कुशल वचन मुख से उच्चारण करना। जिनके बोलने से किसी जीव को पीड़ा उत्पन्न होती हो उस प्रकार के वचनों का निरोध करना, इसी का नाम वाक-संयम है। १७ काय-संयम-गमनागमनादि क्रियाएं फिर विना यत्न न करना, इस का नाम काय--संयम है। जब मुनि ध्यानावस्था में लवलीन रहेगा तब मन, वचन और काय-संयम भली प्रकार से साधन किया जा सकेगा। जिस के अन्तिम फलरूप निर्वाणपद की प्राप्ति उस संयमी आत्मा को अवश्यमेव हो जायगी क्योंकि–जब उक्त प्रकार से संयम आराधन किया जायगा तब मुनि अपने धर्म में अवश्य प्रविष्ट हो जायगा।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि–जब मुनि अपने धर्म में प्रविष्ट होता है, तब मुनि का निज धर्म क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि–शास्त्रकारों ने मुनि का धर्म दश प्रकार से प्रतिपादन किया है। तथा च पाठः—

दसविहे समणे धम्मे प. तं०—खंती १ मुत्ती २ अज्जवे ३ मद्दवे ४ लाघवे ५ सच्चे ६ संजमे ७ तवे ८ चियाए ९ बंभचेरवासे १० ॥

समवायांगसूत्र समवायस्थान १० ॥

अर्थ—प्रत्येक व्यक्ति के कहे हुए दुर्वचनों का सहन करना, फिर उन पर मन से भी क्रोध के भाव उत्पन्न न करने, और इस बात पर सदैव विचार करते रहना कि–जिस प्रकार शब्दों का कर्णेन्द्रिय में प्रविष्ट होने का स्वभाव है उसी प्रकार इन शब्दों के प्रहार को सहन करने की शक्ति मुझ में होनी चाहिए इत्यादि भावनाओं द्वारा क्षमा धारण करना ॥ १ ॥ फिर बाह्याभ्यन्तर से परिग्रह का त्याग करना अर्थात् लोभ का परित्याग करना ॥ २ ॥ मन, वचन और काय की कुटिलता का परित्याग करके ऋजु (सरल) भाव धारण

करना ॥ ३ ॥ फिर अहंकार से रहित होकर मार्दव भाव धारण करना, कारण कि-जब अहंकार भाव का अभाव होजाता है, तब आत्मा में एक अलौकिक मार्दव भाव का आनंद उत्पन्न होने लगता है। अतएव मार्दव भाव अवश्यमेव धारण करना चाहिए जिस से अहंकार नष्ट हो ॥५॥ लाघवभाव—द्रव्य और भाव से अल्पोपाधि, क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करना ॥६॥ सत्यवादी बनना, परन्तु स्मृति रहे कि--"सत्य" शास्त्रों में दो प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। जैसेकि–द्रव्यसत्य और भावसत्य। द्रव्यसत्य उसे कहते हैं जो व्यवहार में बोलने में आता है। जैसे कि--व्यापारादि में सत्य का भाषण करना। तथा जो वाक्य किसी को कह दिया है, उसकी पूर्त्ति करने में दत्तचित्त वा सावधान रहना। परन्तु जो पदार्थों के तत्त्व को जानना है, फिर उन्हीं पदार्थों के तत्त्वों की अन्तःकरण में दृढ़ श्रद्धा धारण करनी है, उसको भावसत्य कहते हैं, क्योंकि--सामान्यतया पदार्थ दो हैं जैसेकि--जीव पदार्थ और अजीव पदार्थ। अतएव सिद्ध हुआ कि–इन दोनों पदार्थों में सम्यग्दृष्टि आत्मा के ही भाव सत्य हो सकते हैं। ७ संयम--पूर्वोक्त सप्तदश प्रकार से संयम पालन करना चाहिए। ८ तपःकर्म--तप का वास्तविक अर्थ है-इच्छा-निरोध करना। यद्यपि इस तपःकर्म के शास्त्रों में अनेक भेद प्रतिपादन किये गए हैं तथापि उन सब का भाव यही है कि–इच्छा-निरोध करके साधु फिर आत्मदर्शी बने। ९ चियाए-(त्याग) सब प्रकार से संगों का परित्याग करना, तथा स्वयं आहारादि लाकर अन्य भिक्षुओं को देना, क्योंकि-हेम कोष में दान का पर्यायवाची नाम त्याग भी कथन किया गया है। तथा इस शब्द की वृत्ति करने वाले लिखते हैं। जैसे कि—"चियाए–त्यागः सर्व संगानां संविग्नमनोज्ञसाधुदानं वा" अतएव साधुओं को योग्य है कि वे परस्पर दान करें। १० ब्रह्मचर्यावास–ब्रह्मचर्य में रहना अर्थात् ब्रह्मचारी बनना। इस प्रकार जब अन्तःकरण से साधुवृत्ति का पालन किया जायगा, तब आत्मा कर्म कलंक से रहित होकर निर्वाण पद की प्राप्ति करता है। उपरान्त सादि अनन्त पद वाला होजाता है। अतएव गुरुपद में आचार्य उपाध्याय और साधु तीनों ग्रहण किये गये हैं इसीलिए 'साधु' पद को शास्त्र में ' धर्म देव ' के नाम से लिखा है, क्योंकि–जो सुव्रत साधु हैं वे संसार समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के लिए द्वीप के समान आश्चर्यभूत हैं। इस लिये-संसार समुद्र से पार होने के लिये ऐसे महामुनियों की संगति करनी चाहिए जिससे आत्मा अपना वा अन्य का उद्धार कर सके।

इति श्री जैनतत्त्वकलिका-विकासे गुरु-स्वरूप-वर्णनात्मिका द्वितीया-कलिका समाप्ता।

अथ तृतीया कलिका ।

इसके पूर्व देवगुरु का स्वरूप किञ्चिन्मात्र प्रतिपादन किया गया है किन्तु अब धर्म के विषय में भी किञ्चिन्मात्र कहना उचित है। क्योंकि-देव का प्रतिपादन कियाहुआ ही तात्विक रूप धर्म होता है, उसी की सम्यक्तया आराधना करने से आत्मा गुरु पद को प्राप्त कर निर्वाण पद पाता है। अतएव प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है कि—वह आत्म-कल्याण करने के लिए देव-गुरु और धर्म की सम्यग् भावों से परीक्षा करे। क्योंकि-जो सांसारिक पदार्थ ग्राह्य होता है, सर्व प्रकार से पूर्व में उसी की परीक्षा की जाती है। परन्तु जब आस्तिक बन कर परलोक की सम्यक्तया आराधना करनी है तो उक्त पदार्थों की भी सम्यक्तया परीक्षा अवश्यमेव करनी चाहिए। इस समय धर्म के नाम से यावन्मात्र मत सुप्रसिद्ध होरहे हैं, प्रायः वे सब सम्यग् ज्ञान से रहित होकर केवल पारस्परिक विवाद, जय, पराजय और पक्षपात में निमग्न हो रहे हैं। जिनके कारण बहुतसी भद्र आत्माएँ धर्म से पराङ्मुख होगई हैं, और शंका सागर में गोते खाते हैं। इसका मूल कारण केवल इतना ही है कि-लोगों ने केवल धर्म शब्द का नाम ही सुना है, लेकिन उसके भेद तथा स्थानों को नहीं समझा है। इसीलिये परस्पर विवाद और जय पराजय का अखाड़ा खुला रहता है, जिसमें प्रतिदिन मल्लयुद्ध के भावों को लेकर प्रत्येक व्यक्ति उक्त अखाड़े में उतरती है। उनकी ऐसी अयोग्य क्रीड़ा को देख कर दर्शक जन उपहास की तालियां बजाते हैं। यही कारण है कि-धर्म और देशोन्नति अधोगति में गमन कर रहे हैं। इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि-वाचालता की ही अत्यन्त उन्नति इस युग में हो रही है। परन्तु जैन-शास्त्रकारों ने धर्म शब्द की व्याख्या इस नीति से की है कि-उसमें किसी को भी विवाद करने का नुक्श उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि जब धर्म शब्द के मर्म को जान लिया जाता है तो स्वयं पारस्परिक विवाद तथा वैमनस्य भी अन्तःकरण से उठ जाता है। प्रायः देखा जाता है कि-बहुत से अनभिज्ञ वा हठग्राही आत्माएँ केवल धृञ् धारणे धातु के अर्थ को लेकर मान बैठे हैं कि-जिसने जिस वस्तु को धारण किया है वही उसका धर्म है, ऐसी बुद्धि रखने वाले सज्जनों के मत से कोई भी संसार में अधर्म नहीं है, क्योंकि-जो कुछ उन्हों ने धारण किया है, उन के विचारानुकूल तो वह धर्म ही है। अब बतलाना चाहिए कि-अधर्म क्या चीज है? और धर्म क्या चीज है? उनके मतानुकूल तो एक व्याध (शिकारी) जो जीवों को मारता फिरता है, उसकी पाशविक क्रिया भी एक धर्म है, एवं चोर चोरी कर रहा है, वह भी धर्म है, अन्यायी अन्याय कर रहा है, वह भी धर्म है, व्यभिचारी व्यभिचार कर रहा है, वह

भी धर्म ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार और भी क्रियाएँ जो निर्दयता और अन्याय की करने वाली हैं, वे सब उनके विचारानुकूल धार्मिक क्रियाएँ हो रही हैं। लेकिन उनका उक्त विचार युक्तियुक्त नहीं है और नाहीं वह प्रामाणिक हो सकता है। अन्यथा धर्मशब्द की उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार अधर्म शब्द निरर्थक प्रतीत होता है। जिन्हों ने जैन-सूत्रों में यति धर्म का स्वरूप सुना है उनके मत में क्षमादि जो गुरु प्रकरण में दश प्रकार से वर्णन किया गया है, वही धर्म है। जिन्होंने मनुस्मृति का छठा अध्याय सन्यास वृत्ति को पढ़ा है, उनके अन्तःकरण में "धृति-क्षमा-दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम्॥ १॥ इस तरह का धर्म झलकता है। शंका यह उत्पन्न हो सकती है कि—यह धर्म तो यति लोगों का है या सन्यासी लोगों का ही है। परन्तु गृहस्थ लोग किस धर्म के आश्रित होकर संसार के व्यवहार को चलावें? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर जैन-धर्म ने बड़ी विशद युक्तियों से दिये हैं जिन के पढ़ने से सम्यक्तया धर्म के स्वरूप को मनुष्य जान सकता है। इस के अतिरिक्त उन स्थविरों का भी वर्णन किया गया है जिन्हों ने उस धर्म के नियमों को बाधित किया है। तथा च पाठः—

दसविधे धम्मे पं० तं०—गामधम्मे १ नगरधम्मे २ रट्ठधम्मे ३ पासंडधम्मे ४ कुलधम्मे ५ गणधम्मे ६ संघधम्मे ७ सुयधम्मे ८ चरित्त-धम्मे ९ अत्थिकायधम्मे १०।

ठाणांगसूत्रस्थान १० वां सू. ७६०

वृत्ति- दसेत्यादि. ग्रामाः जनपदास्तेषां तेषु वा धर्मः समाचारो व्यवस्थेति ग्रामधर्मः सच प्रतिग्रामं भिन्न इति. अथवा ग्रामाः-इन्द्रियग्रामाः तेषु रूढो धर्मः विषयाभिलाषः।१। नगर-धर्म्मो-नगराचारः सोऽपि प्रतिनगरं प्रायो-भिन्न एव।२। राष्ट्रधर्म्मो-देशाचारः।३। पाखण्ड-धर्म्मः-दुष्टानामाचारः।४। कुल-धर्म्मः—उग्रादिकुलाचारः अथवा कुलं चान्द्रादिकमार्हतानां गच्छसमूहात्मकं स धर्मः—समाचारः।५। गण-धर्म्माः—मल्लादि गण-व्यवस्था जैनानां वा कुल-समुदायो गणः-कोटिकादिस्तद्धर्म्मः-तत्समाचारः।६। संघ-धर्म्मो-गोष्ठी-समाचारः, आर्हतानां वा गणः समुदायरूपश्चतुर्वर्णानां वा संघस्तद्धर्म्मः-तत्समाचारः।७। श्रुतमेव-आचारादिकं दुर्गतिं प्रपतज्जीवधारणाद् धर्म्मः श्रुतधर्म्मः।८। चयरिक्तीकरणाद् यच्च चारित्रं तदेव धर्म्मश्चारित्र-धर्म्मः।९। अस्तिकायः-प्रदेशास्तेषां कायो राशिरस्तिकायः स एव धर्म्मो-गतिपर्याये जीवपुद्गलयो-र्द्धारणादित्यस्तिकायधर्म्मः॥१०॥ अयं च ग्रामधर्म्मादिवद् धर्म्मः स्थविरैः कृतो भवतीति स्थविरान्निरूपति—

दसथेरा पं-तं०—गामथेरा १ नगरथेरा २ रट्ठथेरा ३ पसत्थारथेरा ४

कुलथेरा ५ गणथेरा ६ संघथेरा ७ जातिथेरा ८ सुयथेरा ९ परिताय-थेरा १० । ठाणांगसूत्र स्थान १० (सू० ७६१)

वृत्ति--दसेत्यादि, स्थापयन्ति-दुर्व्यवस्थितं जनं सन्मार्गे स्थिरीकुर्वन्तीति स्थविराः तत्र ये ग्रामा नगरास्तेषु व्यवस्थाकारिणो बुद्धिमन्त आदेयाः प्रभविष्णवस्ते तत्र स्थविरा इति ॥ १-२-३ ॥ प्रशासति शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तारः धर्मोपदेशकास्ते च ते स्थिरीकरणात् स्थविराश्चेति प्रशास्तृस्थविराः ॥ ४ ॥ ये कुलस्य गणस्य सङ्घस्य च लौकिकस्य लोकोत्तरस्य च व्यवस्थाकारिणः निग्राहकास्ते तथोच्यन्ते ॥५-६-७॥ जातिस्थविराः षष्ठिवर्षप्रमाणायुष्मन्तः ॥ ८ ॥ श्रुतस्थविराः समवायाद्यङ्गधारिणः ॥९॥ पर्याय-स्थविराः-विंशतिवर्षप्रमाणप्रवज्यापर्यायवन्त इति ॥ १० ॥

भावार्थ-इन दोनों सूत्रों का परस्पर इस प्रकार सम्बन्ध है, जिस प्रकार रूप और रस का परस्पर सम्बन्ध होता है क्योंकि-जिस स्थान पर रूप है उसी स्थान पर रस भी साथ ही प्रतीत होने लगता है, इसी प्रकार जहां पर रस होता है रूप भी वहां पर अवश्य देखा जाता है। परन्तु इस तरह कभी भी देखने में नहीं आता कि-पदार्थों में रूप तो भले प्रकार से निवास करे और रस न करे, और रस हो तो रूप न हो। जिस प्रकार इन दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है, ठीक उसी प्रकार वहुतसे धर्म और स्थविरों का भी परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। क्योंकि-धर्म से स्थविरों की उत्पत्ति है और स्थविर ही धर्म के नियमों को निश्चित करते हैं, अतः दोनों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध माना। वहुतसे धर्म इसलिये कथन किए गए हैं कि—अत्थिकाय ("अस्तिकाय धर्म") यह स्वाभाविक धर्म पदार्थों का स्वभाव) अनादि अनंत माना गया है। किन्तु किसी भी स्थविर ने पदार्थों का धर्म नियत नहीं किया है। इसी प्रकार पाखंडधर्म" के स्थविर भी वास्तव में नहीं माने जाते हैं। स्थविर शब्द की व्युत्पत्ति यह नहीं दर्शाती है कि-स्थविर ही पाखंड धर्म के प्रवर्त्तक होते हैं, वे तो पाखंडधर्म के विध्वंसक माने जाते हैं। लिखा भी है—

न तेन थेरो सो होति, येनस्स फलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स, मोघजिण्णोति वुच्चति ॥५॥
यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा संजमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो, सो थेरो ति पवुच्चति ॥ ६ ॥

धम्मपद धम्मट्ठवग्गो १९ वां गा-५-६ ॥

अर्थ—जिस के मस्तक के केश श्वेत होगए हैं, वह स्थविर नहीं होता।

यदि उसकी अवस्था ठीक परिपक्क होगई है तो उस का जीर्णपन व्यर्थ है ॥५॥ क्योंकि-जिसके अन्तःकरण में सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम होते हैं, वही आत्मा अन्तरंग मल से रहित होकर स्थविर कहा जाता है ॥ ६ ॥ अतएव इस प्रकार के स्थविरों से बांधे हुए नियम जनता के हितकारी होते हैं। इसीलिये सूत्रकर्ता ने पाखंडधर्म का प्रवर्तक स्थविर नहीं माना है क्योंकि-वह पाखंडधर्म पाखंडियों से ही प्रचालित हो जाता है। स्थविरों से नहीं। अब हम अपने मूल विषय पर आते हैं धर्म शब्द का अर्थ ही यह है "समाचार या सुन्दर व्यवस्था" अर्थात्-जिन नियमों द्वारा आचरण ठीक किया जाय और व्यवस्था ठीक बांधी जाए उसी को धर्म कहते हैं। किसी के मत में तो धृञ् धारणे--धातु से अच् प्रत्यय लगा कर धर्म शब्द की सिद्धि होती है, किन्तु अगर धृञ् धातु के आश्रित होकर धर्म शब्द का यह अर्थ करने लगे हैं कि-जो धारण किया जाय वही धर्म होता है तो उनका यह अर्थ युक्तियुक्त नहीं है। थोड़ी देर के लिये माने भी तो चोर ने जो चौर्य कर्म धारण किया है वह भी क्या उसके मत के अनुसार धर्म ही हुआ? वेश्या ने जो व्यभिचार से आजीविका धारण की है, क्या उसका वही धर्म होगया है? मांस भक्षकों ने जो मांस भक्षण का अभ्यास किया है क्या उनका वही धर्म है? और जो अन्याय करने पर ही कटिबद्ध होरहे हैं तो क्या उनका वही धर्म है? नहीं, इत्यादि कुकृत्यों को यदि धर्म माना जाय तो राज्य सत्तादिक की क्या आवश्यकता है? राज्य सत्ता का तो मुख्य प्रयोजन यही होता है कि अधर्म का नाश और धर्म की वृद्धि हो। जब कोई अधर्म रहा ही नहीं तो फिर राज्य सत्तादिक की योजना किस लिये? इससे सिद्ध हुआ कि बिगड़ी हुई व्यवस्था को ठीक करना तथा सदाचार की वृद्धि करना ही धर्म शब्द का अर्थ है। इसीलिये श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी ने दश प्रकार का धर्म प्रतिपादन किया है। जैसे कि—

१ ग्रामधर्म—ग्राम की व्यवस्था ठीक करना, जिस से ग्राम वासियों को किसी प्रकार से दुःखों का अनुभव न करना पड़े। क्योंकि—जब ग्राम दुर्व्यवस्था में होता है तो ग्राम के वासी ईर्ष्या या अन्याय से नाना प्रकार के दुःखों का ही अनुभव करते रहते हैं। जैसे महानद (दरयाव) के समीप का अरक्षित ग्राम महानद में बाढ़ आजाने से दुखों के समुद्र में निमग्न होजाता है ठीक उसी प्रकार दुर्व्यवस्थित ग्राम के वासी जन भी सदैव कष्टों का मुंह देखा करते हैं। वस्तुतः—ग्रामधर्म उसी का नाम है, जो स्थविरों से बांधे हुए नियमों से सुरक्षित है। इसी प्रकार ग्राम नाम इंद्रियों के समूह का भी है, सो उन का धर्म है विषयाभिलाष, यदि अनियत रूप से विषय सेवन किये जायं तो इंद्रिय

रूपी ग्राम कदापि सुरक्षित नहीं रह सकता। प्रत्युत व्याधियुक्त होकर शीघ्र ही परलोक की यात्रा के लिये कटिबद्ध हो जाता है। सारांश यह है कि—दोनों प्रकार के ग्रामों की व्यवस्था को ठीक करना उसी का नाम ग्रामधर्म है। ग्राम जिस प्रकार उन्नति के शिखर पर आरूढ़ होजाए और ग्रामवासी जन आनंद पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करसकें इस प्रकार के नियम जो स्थविरों ने बांधे हों उन्हीं का नाम ग्रामधर्म है।

२ नगरधर्म—प्रति नगर का भिन्न २ प्रकार से आचार व्यवहार होता है, परन्तु जिन नियमों से नगर वासी जन शांति और आनन्द पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकें, ऐसे नियम जो स्थविरों द्वारा बांधे हों, उन्हीं का नाम नगरधर्म है। क्योंकि—स्थविरों को इस बात का भली भांति ज्ञान होता है कि—अब नगर इस व्यवस्था पर आरहा है, इस लिये अब देश या कालानुसार इन नियमों की योजना की आवश्यकता है। जैसे कि—जब नगर व्यवहार या व्यापार की उन्नति के शिखर पर पहुंच जाता है और जिसके कारण व्यापारी वर्ग धर्म के लाभ के लिये सांसारिक उन्नति के शिखर पर पहुंचते हैं, उस समय लोग विवाह आदि शुभ क्रियाओं में मनमाने धन का व्यय करने लग जाते हैं। उन्हें उस समय किसी प्रकार की भी पीड़ा नहीं होती, परन्तु जब व्यापार की क्रियाएं निर्बल पड़ जाएं और फिर भी उसी प्रकार विवाहादि क्रियाओं में धन व्यय किया जाए तो उन लोगों को अवश्यमेव कष्टों का मुंह देखना पड़े। परन्तु उस समय तो नगर के स्थविर उन नियमों को बांध लेते हैं जो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार होते हैं, जिनके द्वारा नगरवासी जन धन के न्यून होजाने पर भी उक्त क्रियाओं के करते समय दुःखों का अनुभव नहीं करते। इसी का नाम नगर धर्म है। नगरधर्म उसको भी कहते हैं जिसमें कर न लगा हो। इस शब्द से निश्चित होता है कि-पूर्व काल में जब राजे लोग नगर की स्थापना करते होंगे तब उस की वृद्धि के लिए कुछ समय तक कर नहीं लगाते होंगे। यह नियम आजकल भी कतिपय मंडियों में देखाजाता है। सारांश यह निकला कि प्रति नगर का खान, पान, वेष, भाषा, कला, कौशल इत्यादि प्रायः भिन्न २ होते हैं। अतः जो नगर स्थविरों द्वारा सुरक्षित होरहा हो उसी को नगरधर्म कहते हैं।

३ राष्ट्रधर्म-राष्ट्र शब्द देश का वाची है। जिस प्रकार देश की बिगड़ी हुई व्यवस्था ठीक होसके उसी का नाम देशधर्म है। यद्यपि देश शब्द के साथ ही राज्य धर्म की सत्ता भी सिद्ध होती है, तथापि राज्य धर्म को सूत्र-कर्ता ने पृथक् नहीं माना है. क्योंकि—राजा का सम्बन्ध देश के ही साथ है राजा ही देश का संरक्षक होता है, इसलिये राजा या राज्याधिकारी लोगों को सूत्र-कर्ता

ने राष्ट्रस्थविर के नाम से लिखा है, जो राष्ट्र को सब तरह से सुरक्षित रख सकें और इस प्रकार के नियमों का प्रादुर्भाव करते रहें, उसी का नाम राष्ट्रधर्म है। जैसेकि—विदेश से किन २ नियमों के द्वारा व्यापार हो सकता है और किन २ नियमों द्वारा हमारा व्यापारी वर्ग विदेशी पदार्थों से लाभ उठा सकता है तथा अधिक विदेशी व्यापार क्या हमारे देश निवासियों को निर्धन तो न बनादेगा? क्योंकि—जब स्वदेशी पदार्थ क्रय विक्रय होते ही नहीं, तब उन की उत्पत्ति में न्यूनता पड़ने लगजायगी, इस प्रकार के भाव उनके अन्तः-करण में उत्पन्न होते रहते हैं। फिर साथ ही राष्ट्र स्थविर इस प्रकार अपने भावों में अनुभव करते हैं कि—अब यह राष्ट्र व्यापार वेष अथवा भाषाओं से किस प्रकार सुशोभित होसकता है तथा जो आजकल दण्डनीति है क्या वह समयानुकूल है? वा समय के प्रतिकूल है? एवं जो राजकीय कर (महसूल) है क्या वह न्याय संगत है? वा न्याय से रहित होकर करादि लिये जाते हैं। इत्यादि विचारों को जो राष्ट्र स्थविर हों वे सदैव काल अपने अन्तःकरण में सोचते रहें। इसका मुख्य कारण यह भी है कि-जैसे काष्ट का पात्र एक ही वार आग पर चढ़ा करता है उसी प्रकार जिस विदेशी पदार्थ (माल) पर अधिक कर लगे और राजा बलात्कार से अल्प मूल्य में उस माल को खरीद ले, तो आगे के लिये वहां बाहिर से माल आना बन्द होजाता है। जिससे देश अवनति दशा को पहुंच जाता है। जिसका परिणाम जनता को बड़े भयंकर रूप से भोगना पड़ता है। अतएव राष्ट्र स्थविर देशोन्नति के सर्व उपायों को सोचते रहें, तथा यदि देश में कई जातियों का समूह बसता हो, तो राष्ट्र-स्थविरों को योग्य है कि-वे इस प्रकार के नियम बनावें जिससे उन जातियों में परस्पर वैमनस्य-भाव उत्पन्न न होने पावें। कारण कि-घर की फूट किसी भी संपत् की वृद्धि का हेतु नहीं होती अपितु उस का नाशक ही होती है। तथा देशोन्नति के नियम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को ही देखकर रक्खे जाते हैं, या उन नियमों का विशेषतया सम्बन्ध साम, दाम, भेद और दंड नीति के आधार पर ही होता है। राष्ट्रीय स्थविर प्रजा और राजा दोनों से सम्बन्ध रखते हैं, और दोनों की सम्मति से देशकालानुसार नियम निर्माण करते रहते हैं। सो उन्हीं स्थविरों के माहात्म्य से प्रजा और राजा में परस्पर प्रेममय नूतन जीवन का संचार होने लगता है। एवं जिस राष्ट्र के जो वेष, भाषा, खान, पान व्यवहार वा व्यापारादि हों उन्हीं के अनुसार राष्ट्रीय स्थविर नूतन नियमावली का निर्माण किया करते हैं, तथा राष्ट्रीय पुरुषों को अपने देश की औषध जितनी लाभ कारक होती है, उसके शतांश में भी विदेशी औषध रोग के मूल कारण का विध्वंस करने में समर्थता नहीं रखती इत्यादि विचारों

को राष्ट्रीय स्थविर भली प्रकार विचारा करते हैं।

४ पाखंडधर्म--जिन कार्यों में बाहरी आडम्बर तो विशेष हो, परन्तु धर्म का अंश सर्वथा न पायाजाय उसीको पाखंडधर्म कहते हैं। जैसे कि--सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चरित्र का तो लेशमात्र भी न हो, परन्तु कायकष्ट तथा संन्यासी होकर हस्ती की सवारी, डेरा, तम्बू, बाग, बगीचे, अखाड़े आदि की संयोजना करनी तथा सहस्रों वा लाखों रूपयों पर अधिकार रख कर परिव्राजकाचार्य वा महंत तथा हंस परमहंस बन बैठना, ये सब उक्त क्रियाएँ मुनि धर्म से रहित करने वाली होती हैं। क्योंकि--ये ही उपाधियां तो गृहस्थाश्रम में थीं, फिर जब संन्यास धारण कर लिया तब भी अगर धन, भूमि और स्त्रियों की उपाधि पीछे लगी रही, तो चतुर्थाश्रम धारण करने की आवश्यकता ही क्या थी? शोक से लिखना पड़ता है! यह आर्यभूमि पूर्व काल में ऋषि महर्षियों से सुशोभित होरही थी, परन्तु आजकल प्रायः इस भूमि में उक्त पदों की केवल संज्ञाएँ मात्र रहगई हैं, और तो क्या कोई भी कुकृत्य ऐसा नहीं जो वे नामधारी मुनि (साधु) नहीं करते, अपितु सभी कुकृत्य वे कर बैठते हैं। न्यायालयों में उनके झगड़े विद्यमान रहते हैं, राजकीय दण्ड वे भोगते हैं, भक्ष्य अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण करने में उनका कोई भी विवेक नहीं, यावन्मात्र मादक द्रव्य हैं, प्रायः उनको वे लोग आनन्द पूर्वक सेवन करते हैं। फिर भी वे आस्तिकों के शिरोमणि बनने का साहस रखते हैं, धर्मात्मा बनने का लोगों को विज्ञापन पत्र देते रहते हैं अर्थात्--एवं विध कुकृत्य करते हुए भी वे धर्मात्मा कहाते हैं। अब बतलाइये यह पाखंड धर्म नहीं है तो और क्या है? जिस प्रकार संन्यासी लोग क्रिया से पतित होरहे हैं, उसी प्रकार उदासी वैरागी निर्मले औघड़ पोप आदि लोग भी क्रिया का प्रायः नाम ही भूल गये हैं। देशों में धर्मोन्नति के स्थान पर वे लोग धर्म को अधोगामी बनारहे हैं। क्योंकि-उक्त नाम धारियों की संगति से प्रायः धनी लोग व्यभिचार करना सीख जाते हैं, जिन्हें कोई व्यसन न लगा हो वे लोग भी उक्त महात्माओं की संगति से व्यसनसेवी बन जाते हैं। जैसे कि अगर कोई भद्र पुरुष इन के डेरे आदि स्थानों में जाता है तो उस भक्त को भांग चरस आदि का स्वभाव तो स्वाभाविकता से पड़ ही जाता है। क्योंकि--प्रायः शिष्य सदा गुरु का अनुकरण करने वाला ही होता है। जब वे अपने गुरुओं की सत्कृपा से व्यसनी बन जाते हैं तब उनको धनके संग्रह करने की अत्यन्त उत्कट इच्छा होजाती है। परन्तु वे कोई काम करना नहीं चाहते जिससे उनको फिर जूए और चौर्य्य कर्म का सहारा लेना पड़ता है। जब वे उक्त क्रियाओं में लगगए तो फिर कौन सा दुष्कृत्य है जो उनको सेवन न करना पड़े। अतः ये सब पाखंड धर्म हैं तथा आजकल बहुत सी आत्माएं

अपने मनकी इच्छा पूर्त्ति करने के लिये वेदान्ती बन बैठते हैं। जिनका मुख्य सिद्धान्त "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" जगत् में एक ब्रह्म ही है और कोई दूसरा पदार्थ नहीं। अतएव विषयादि कुकृत्य करने में कोई दोष नहीं है। क्योंकि—मायामय जगत् है, ब्रह्म सत् है, परंच माया असत् है, जब माया असत् सिद्ध होती है, तो फिर विषयादि कृत्यों के आसेवन करने में किस प्रकार दोष आसकता है? अतएव स्त्री और पुरुष का परस्पर मिलना ही ब्रह्म की एकता है, इस प्रकार कुहेतुओं से प्रायः भद्र जीवों को अपने अनुसार करके विषयानन्दी बनकर ब्रह्मवादी कहलाते हुए धर्मविनाश बन रहे हैं। तात्पर्य—यह है कि—शब्द, रूप, गंध, रस, और स्पर्श, इन के वशीभूत होकर नाना प्रकार के कुहेतुओं से लोगों को समझा कर अपने मन की वासना को शान्त करते हैं। अपना मन्तव्य सिद्ध करने के लिये किसीने तो योग का आश्रय लिया हुआ है, और किसी ने ब्रह्म का, और किसी ने ईश्वर का, तथा किसी ने देवी वा देवताओं का। वास्तव में भाव अपने स्वार्थसिद्धि के ही होते हैं। जिस प्रकार वेदान्ती अपना काम सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार वामी, गुलाब दासियें इत्यादि अनेक मत धारी अपने इन्द्रिय-सुखों के वशीभूत होकर बाहरी आडंबर धारण कर अपने आप को धर्मात्मा कहला रहे हैं। जिसका परिणाम--धर्मोन्नति वा देशोन्नति के स्थान पर धर्मावनति और देशावनति हो रहा है। सो यह सब पाखंड धर्म ही है। क्योंकि—जहां पर सम्यग् ज्ञान दर्शन और चरित्र नहीं है, वहां पर पाखंड धर्म ही होता है। तथा पाखंडधर्म का मुख्य प्रयोजन यही होता है कि—बाहिर के आडम्बर से बहुतसे भद्र जीवों को छला जाए, और अपने मनकी वासनाओं की पूर्त्ति की जाए। जैसे कि—वर्त्तमान काल में बहुत से धर्म के नाम पर आडम्बर रच कर अपने मन के भावों की पूर्ति कर रहे हैं।

५ कुलधर्म—उग्रादि कुलों का जो आचार चला आरहा है, उस आचार में यदि कोई त्रुटि उत्पन्न होगई हो, तो कुल स्थविरों का कर्तव्य है कि—उस त्रुटि को दूर करें। जैसे कि--जिन कुलों का स्वभाव से यह धर्म होगया है कि--मांसभक्षण नहीं करना, सुरापान नहीं करना, आखेटक कर्म नहीं करना तथा परस्त्रीगमन वा वेश्यागमन इत्यादि कुकर्म नहीं करने। यदि उन कुलों में कोई व्यक्ति स्वच्छन्दाचारी होजावे तो उसे योग्यता पूर्वक शिक्षित करना कुलस्थविरों का कर्तव्य है। आगे के लिये वे कुलस्थविर इस प्रकार के नियम निर्णीत करें, जिससे अन्य कोई व्यक्ति फिर स्वच्छन्दाचारी न बनसके। जिस प्रकार लौकिक पक्ष में कुलधर्म माना जाता है, ठीक उसी प्रकार लोकोत्तर पक्ष में भी कुलधर्म माना गया है। जैसेकि—

यदि एक गुरु के शिष्यों का परिवार विस्तृत होगया हो, तो उसे कुल कहते हैं फिर उनका जो परस्पर सम्बन्ध है, वा गच्छ समूहात्मक है, उसका धर्म अर्थात् समाचार जो है उसी का नाम कुलधर्म है। उस धर्म को ठीक पालन करने के लिए जो नियमों को निर्माण करना है यही कुलस्थविरों का कर्तव्य है। कुलस्थविर सदैव काल इसी बात के विचार में रहें, जिस से कुलधर्म भली प्रकार से चलता रहे। जिस प्रकार लौकिक कुलधर्म में यदि कोई त्रुटि आगई हो तो उसे कुलस्थविर दूर करते हैं, इसी प्रकार यदि धार्मिक कुल-धर्म में कोई व्यक्ति स्वच्छन्दवृत्ति होगया है, तो धार्मिक कुलस्थविर उस त्रुटि को दूर करने की चेष्टा करें साथ ही इस प्रकार की नियमावली निर्माण करें, जिस से कुलधर्म अच्छी प्रकार चलता रहे। जैसेकि—कुल-समाचार, परस्पर वन्दना, व्यवहारसूत्र, अर्थप्रदान, उपधान, तप, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग इत्यादि क्रियाएं जो कुल में चली आती हों वे उसी प्रकार चलती रहें, इस प्रकार के धर्म के प्रवर्त्तक कुल स्थविर ही होते हैं।

६ गणधर्म—अनेक कुलों का जो समूह है, उनका जो परस्पर सम्बन्ध है उस सम्बन्ध की व्यवस्था ठीक प्रकार से हो रही है तो उस को गण-धर्म कहते हैं। यद्यपि गण शब्द समूह का वाची है तथापि रूढि से यह शब्द अनेक स्थानों में व्यवहृत हो रहा है। आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पाठ से निश्चित होता है कि—पहिले समय में गणधर्म का अति प्रचार था। क्योंकि-वहां जिस स्थान पर जो राजाओं की गणना आती है उस स्थान पर साथ ही यह पद पढ़ा गया है कि—"गणराज" जो गण की सम्मति से राजा हुआ हो, उसे गणराज कहते हैं अर्थात् जिस प्रकार आज कल अमेरीकादि देशों में "गणराज" पद की स्थापना की जाती है उसी प्रकार पूर्व काल में दाक्षिणात्य भारत में भी बहुत से व्यक्ति गणराज पदारूढ़ होते थे। जैसेकि—निरया-वली सूत्र में लिखा है कि—नवमल्ली जाति के राजे और नवलच्छी जाति के राजे काशी और कोशल देश पर गणराज करते थे। प्रजा की सम्मति-पूर्वक उन व्यक्तियों को राजसिंहासनारूढ किया जाता था, फिर वे नियत समय तक प्रजा शासन करते थे, और उनकी आज्ञा प्रजा सम्यक्तया पालन करती थी। परन्तु वह आज्ञा नियत समय तक ही रहती थी। गणराज प्रजा की सम्मति से इस प्रकार होते थे, जिस प्रकार आजकल मेम्बर चुने जाते हैं। तथा जब हम इस से छोटे पक्ष में आते हैं, तब गणराज एक छोटे से देश में पाते हैं, जैसेकि—जो छोटे २ कुलों का एक समूह होता है उसी को गण कहते हैं, फिर सब की सम्मति से जो उस गण का नेता चुना जाए इसी का नाम गणराज पड़ता है, जिसे आज कल लोग प्रधान (प्रेजीडैण्ट) कहते

दिन प्रतिदिन अभ्युदय होने लग जाता है। अतः गणधर्म के नियम गण स्थविरों को सुचारु रूप से बनाने चाहिएं। धर्म पक्ष के लिहाज़ से देखा जाय-तो गण साधुओं के समूह का नाम है, उसका जो धर्म (समाचार) है उसी का नाम गणधर्म है क्योंकि-साधुओं के गण में आचार्य, उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक, प्रवर्त्तक और स्थविर ये छः पदधारी व्यक्तियां होती हैं, और भलीप्रकार गण की रक्षा वा विशुद्धि करते रहना इन का कर्तव्य होता है। जैसेकि—१ आचार्य का कर्तव्य होता है कि-गच्छ की भली भांति रक्षा करते हुए गण में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, और बलवीर्याचार की वृद्धि करता रहे। ज्ञानाचार-ज्ञान की वृद्धि करना, दर्शनाचार-सम्यक्त्व की विशुद्धि के उपाय सीखने वा सिखलाने, चारित्राचार-चारित्र की विशुद्धि गण में करते रहना, तपाचार-गण में तपःकर्म का प्रचार करना और बलवीर्याचार-तप संयम में पुरुषार्थ करना। २ उपाध्याय का कर्तव्य है कि गणवासी भिक्षुओं को सूत्र और अर्थ प्रदान कर विद्वान् बनाना, जिस प्रकार होसके गच्छ में विद्या प्रचार करना। ३ गणी-गच्छ की क्रियाओं का निरीक्षण करना गणी का कर्तव्य है, यदि शुभ क्रियाएँ होरही हों तो उन के कर्ताओं को धन्यवाद देना; यदि अशुभ होरहा हो तो उनके कर्ताओं को शिक्षित करना। मुनियों को साथ लेकर देश और विदेश से गण के योग्य सामग्री का संपादन करना गणावच्छेदक का कर्तव्य है जैसेकि-वस्त्र, पात्र तथा ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि जिस के कारण गण सुरक्षित रहसके और गण में किसी भी उपकरण की त्रुटि न रहे। ५ प्रवर्त्तक—अपने साथ के रहनेवाले मुनियों को आचार गोचार में प्रवृत्त कराना तथा जब किसी स्थान पर मुनि-सम्मेलन आदि होजाय तो उस सम्मेलन में मुनियों की आहार पानी से रक्षा (सेवा) करना और वैयावृत्त्य में दत्तचित्त रहना। ६ स्थविर का कर्तव्य है कि—जो आत्माएँ धर्म से पतित होरही हों उनको धर्म में स्थिर करना तथा जिन्होंने प्रथम धर्म के स्वरूप को नहीं जाना है उन आत्माओं को धर्म पथ में आरूढ़ करना और उनको उस धर्म में स्थिर करना। यद्यपि एक 'गणधर' उपाधि भी होती है, परन्तु वह श्री तीर्थंकर देव के विद्यमान होने पर ही होती है। क्योंकि-जो तीर्थंकरदेव का मुख्य शिष्य होता है उसे ही बड़ा गणधर कहते हैं। अतः धार्मिक गण में जो उपाधिधारी मुनि हों उन्हें योग्य है कि-वे गण में इस प्रकार के नियमों की संयोजना करें जिससे गण में ज्ञान दर्शन और चारित्र का वृद्धि होती रहे। तथा गच्छवासी मुनि शांतिपूर्वक संयम वृत्ति की आराधना कर सुगति के अधिकारी बनें। कारण कि-गण स्थविरों की योग्यता इसी बात में पाई जाती है कि गण सुरक्षित होता हुआ उन्नतिशाली बन सके

हैं। सारा गण उस प्रधान की आज्ञा पालन करता रहता है। श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जब आनन्द गृहस्थ को श्रावक के १२ नियम धारण करवा दिये, तब आनन्द श्रावक ने श्री भगवान् से प्रार्थना की कि—इन गृहीत नियमों को मैं छः कारणों के विना यत्न पूर्वक पालन करूंगा। उन्हीं छः कारणों में एक कारण "गणाभिओगेणं" गणाभियोग लिखा है अर्थात् किसी कारण से मुझे यदि 'गण' कहे वा 'गण पति' कहे तो मुझे वह कार्य करणीय होगा परन्तु मेरा गृहीत नियम खंडित नहीं समझा जायगा। कारण कि—उस कृत्य को 'गण' करवा रहा है वा गणराज की आज्ञा से मैं वह कार्य कर रहा हूं इत्यादि। इस कथन से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है—कि पूर्व काल में गण वा गणराज का किस प्रकार चारु प्रबन्ध चलता था? धार्मिक कृत्यों के धारण करते समय भी गणधर्म का अवश्य ध्यान रक्खा जाता था। साथ ही इस बात का भी विशेष ध्यान रक्खा जाता था कि—हमारे गण में किसी कारण से फूट न पड़ जाय जिस के कारण गणधर्म का फिर सन्धान करना कठिन होजाए। कारणकि—गणधर्म में विघ्न उपस्थित करना तो सुगम है परन्तु—जब गण में फूट पड़ जाती है तब गण का सुधार होना अति कठिन हो जाता है, अतः गण में परस्पर वैमनस्यभाव उत्पन्न नहीं करने चाहिएं। जिस प्रकार नियमों द्वारा गण सुरक्षित रह सके, प्रत्येक व्यक्ति को उसी विचार में रहना चाहिए। गण शब्द का ही अपभ्रंश आजकल बरादरी शब्द प्रचलित होरहा है, गणस्थविर के नाम पर चौधरी शब्द व्यवहृत होरहा है। अतएव वही बरादरी ठीक काम कर सकती है जिसके चौधरी दत्त और बरादरी को उन्नतिशाली बनाने में दत्तचित्त होकर काम करें। क्योंकि—जब गण (बरादरी) गणस्थविर (चौधरी) के वश में होगी वा माला के मणियों के समान एक सूत्र में ओतप्रोत होगी तब जो गण में आपत्तियां होंगी स्वयमेव शान्त होजायेंगी। जिस प्रकार माला की मणियें (मणके) एक सूत्र में ओतप्रोत होकर स्मरण में सहायक होते हुए देवताओं का आह्वान कर लेती हैं वा परमात्म-पद की प्राप्ति करा देती हैं, उसी प्रकार गण का ठीक प्रकार से संगठन अनेक प्रकार के कष्टों से विमुक्त करके सुख और शांति की प्राप्ति कराने लग जाता है। व्यवहार पक्ष में संगठन को देखकर प्रतिकूल व्यक्तियां अपने आप वैरभाव को छोड़ कर उन से मेल करने लग जाती हैं। तथा जो काम राजकीय सम्बन्धी हों उन्हें गणस्थविर सुख पूर्वक करा सकते हैं। धार्मिक कार्य भी गण स्थविर बड़ी शांति पूर्वक कराते हुए नगर वा देश में धर्म-उद्योत कर सकते हैं। अतएव सिद्ध हुआ कि—कुल धर्म ठीक होजाने पर गण धर्म भी भलीप्रकार चलसकता है, गणधर्म ठीक होजाने से गण में शांति और परस्पर प्रेम का सर्वप्रकार से

क्योंकि–धार्मिक गण की उन्नति को देखकर बहुत से भव्य जीव धर्म पथ में आरूढ़ होजाते हैं। गणवासी मुनियों की भक्ति और उन पर उनकी श्रद्धा दृढ़ होजाती है। मुनि भी कलह आदि कृत्यों से हट कर धर्म प्रचार में लग जाते हैं। जिस प्रकार लौकिकगण अपनी सर्व प्रकार से उन्नति करता हुआ लौकिकसुख की प्राप्ति कर लेता है उसी प्रकार धार्मिकगण भी धार्मिक उन्नति करता हुआ निर्वाणपद को प्राप्त कर लेता है। सो इसी का नाम गणधर्म है। सारांश इतना ही है कि–गणस्थविरों का कर्तव्य है कि वे जिस प्रकार होसके द्रव्य, क्षेत्र,काल और भाव के अनुसार नव्य नियमों के अनुसार गच्छ को उन्नतिशाली बनाने की चेष्टाएँ करते रहें। जिस प्रकार कालचक्र परिवर्तनशील माना गया है उसी प्रकार गणधर्मादि के नियम भी देशकालानुसार नव्य बनाए जाते हैं। जिसप्रकार कुलकरों की नीति काल के अनुसार परिवर्त्तित होती रहती है, उसीप्रकार गणस्थविर भी कालानुसार अपने गण की रक्षा के लिये नूतन से नूतन नियम निर्माण करते रहते हैं। स्मृति रहे कि–उस नियमावली में मर्यादित धर्म को नूतन रूप दिया जाता है नाकि धर्म का व्यवच्छेद ही किया जाता है जैसेकि–श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने भगवान् अजितनाथ तीर्थंकर से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ पर्यन्त जो चार महाव्रत चले आते थे, उन्हें समय को देखकर पांच महाव्रत का रूप देदिया, नाकि सर्वथा उनको व्यवच्छिन्न करदिया। मनुष्यों की बुद्धि आदि कालचक्र के अनुसार हुआ करती है, अतः उसी के अनुसार उस समय के स्थविर ठीक व्यवस्था बांध लेते हैं। सो उसी व्यवस्था का नाम गणधर्म है।

७ सङ्घधर्मः—जिस प्रकार कुलों के समूह का नाम गणधर्म होता है उसी प्रकार जो गणों का समूह है, उस को संघ कहते हैं, उस संघ को सुरक्षित रखने वाले संघ स्थविर कहलाते हैं, वे उस प्रकार के नियमों की संयोजना करते रहते हैं, जिससे संघ धर्म भली प्रकार से चलता रहे। कारण कि–संघ धर्म के ठीक होजाने से सर्व प्रकार की व्यवस्था ठीक बनी रहती है। जिस प्रकार कुलधर्म का सुधार गण धर्म के आश्रित रहता है, ठीक उसी प्रकार गण धर्म का अभ्युदय संघ धर्म के आश्रित होजाता है। इस कथन से यह भी शिक्षा मिलती है कि जो लोग संगठन करना चाहते हैं, वे जब तक कुलधर्म और गणधर्म की व्यवस्था ठीक न करलें, तब तक उनका राष्ट्रीय संघ दृढ़ता नहीं पकड़ सकता। अपरंच राष्ट्रीय संघ उसी समय ठीक होसकता है जब कि उसके अवयव रूप कुलधर्म और गणधर्म भली प्रकार संगठित होजाएँ क्योंकि–जैसे पुरुष के सर्व अवयवों में दो आंखें प्रधानता रखती हैं, उसीप्रकार संघधर्म के उक्त दोनों धर्म प्रधान अंग हैं। क्योंकि–शरीर के चाहे कितने

ही अवयव सुरक्षित न रह सकें, परन्तु आंखों के सुरक्षित रहने पर उन अवयवों का भली प्रकार प्रतिकार किया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार संघधर्म के स्थविरों के साथ यदि कुलधर्म के स्थविर और गणधर्म के स्थविर भली प्रकार सम्मिलित हो जायं तथा परस्पर तीनों स्थविरों की सम्मति मिल जाय वा परस्पर नियमों में उनका वैमनस्यभाव उत्पन्न न हो या कुल धर्म के स्थविर और गण धर्म के स्थविर भली प्रकार अपना पक्ष त्यागकर संघ धर्म के स्थविरों की आज्ञा पालन करें, तो दिनप्रतिदिन संघधर्म अभ्युदय को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि-"संघधर्म" शब्द की वृत्ति करने वाले लिखते हैं "संघधर्मा-गोष्ठीसमाचाराः" अर्थात् संघ धर्म उसका नाम है जिस की उन्नति के उपायों का अन्वेषण ग्रामस्थविर, नगरस्थविर, राष्ट्रस्थविर, प्रशास्तस्थविर कुलस्थविर और गणस्थविर एकत्र होकर करें तथा उक्त धर्मों को सुरक्षित रखने के लिये देशकालानुसार नियमों की संयोजना करें। जिस प्रकार संघधर्म के मुख्य अवयव कुलस्थविर और गणस्थविर पूर्व लिखे जा चुके हैं, ठीक उसी प्रकार संघधर्म के मुख्य अवयवरूप राष्ट्रस्थविर तथा अन्य स्थविर भी हैं। कारणकि-यावन्मात्र धर्म ऊपर कथन किये जा चुके हैं, और यावन्मात्र उनके स्थविर प्रतिपादन किये गये हैं, उन सबका एक नियत समय पर एकत्र होना फिर परस्पर देशकालानुसार उक्त धर्मों के नियमों पर विचार करना, इतना ही नहीं अपितु सर्वधर्मों की दशाओं का अन्तरंग दृष्टि से अवलोकन करना, उनकी वृद्धि और हानि की ओर ध्यान देना, सब की सम्मति के अनुसार वा बहुसम्मति पूर्वक प्रस्ताव पास करना इत्यादि को भी संघधर्म कहते हैं। जिस प्रकार जैनमत में समयानुसार कुलकर जगत् की वा कर्मभूमियोंकी व्यवस्था ठीक बांधते आए हैं, उसी प्रकार परमत में स्मृतिकार भी देशकालानुसार नियम बांधते रहे हैं। परन्तु उन स्मृतिकारों ने विशेष दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। क्योंकि-प्रायः उनकी स्मृतियों में भक्ष्याभक्ष्य पर विशेष विचार नहीं किया गया। कइयों ने तो अतिथिसत्कार में पशुवध भी लिख डाला है, तथा अन्य कई प्रकार से

---

१ वशिष्ठस्मृति के चतुर्थाध्याय में लिखा है कि—पितृदेवतातिथि पूजायां पशुं हिंस्यात्। मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव च पशुं हिंस्यान्नान्यथेत्यब्रवीन्मनुः॥ नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्॥ न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्माद्यागे वधोऽवधः। अथापि ब्राह्मणाय वा राजन्याय वा अभ्यागताय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेदेवमस्यातिथ्यं कुर्वन्तीति॥

पितर, देवता और अतिथि इनकी पूजा में पशु की हिंसा करे। कारण कि-मनु का यह वचन है कि—मधुपर्क में यज्ञ में पितर और देवताओं के निमित्त जो कर्म हैं, उन में पशु की हिंसा करे,

मांस-भक्षण का विधान करदिया है। इसीलिये वे स्मृतियां आधुनिक समय में विचारशील व्यक्तियों के सम्मुख उपहास का पात्र बन रही हैं। परन्तु जैन-कुलकरों के नियमों में यह बात नहीं देखी जाती। साथही जैन-शास्त्रकारों ने यह भी कथन कर दिया है कि देशकालानुसार धार्मिक अंग को ध्यान में रखते हुए नियम निर्माण कर लेने चाहिएं।

जिस प्रकार राष्ट्रीय संघधर्म-प्रचार देश का अभ्युदय करने वाला होता है, ठीक उसी प्रकार धर्म पक्ष में श्रीसंघ अपने पवित्र नियमों से श्रीसंघ का अभ्युदय करने वाला होता है। क्योंकि-वृत्तिकार लिखते हैं कि-"आर्हतानां वा गण-समुदाय रूपश्चतुर्वर्णो वा संघस्तद्धर्म्मः तत्समाचार" इसका भावार्थ यह है कि-श्रीजिनेन्द्र भगवानने चार प्रकार का संघ वर्णन किया है जैसेकि-साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। इन्हीं चारों के समूह का नाम श्रीसंघ है। सो जब चतुर्विध संघ के स्थविर एकत्र होकर संघ के अभ्युदय के नियम निर्माण करें और उन्हीं नियमों के आधार पर श्रीसंघ अपने ज्ञान दर्शन और चारित्र की वृद्धि करता रहे, उसी को संघधर्म कहते हैं। श्रीसंघ का अपमान करने वाला व्यक्ति दुर्लभबोधि-कर्म की उपार्जना करता है। जिस प्रकार दुर्लभबोधिकर्म की उपार्जना की जाती है, ठीक उसी प्रकार श्रीसंघ की स्तुति करने वाला व्यक्ति-सुलभबोधि-कर्म की उपार्जना करता है जिसके माहात्म्य से फिर वह जिस योनि में जायगा उसी में सुलभता से उसे धर्म प्राप्ति हो जायगी। अतएव धर्मप्राप्ति और बोधि बीज की इच्छा हो तो श्रीसंघ का अविनय कदापि नहीं करना चाहिए। अपितु श्रीसंघ की आज्ञा पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य होना चाहिए। विचार कर देखा जाय तो यह क्या ही सुंदर विधान है कि-साधुगण, मुख्य २ स्थविर, आर्यायें, गण की मुख्य २ प्रवर्तनिकायें, श्रावक, गणके मुख्य २ स्थविर, श्रावक इसी प्रकार श्राविकायें, गणकी मुख्य २ स्थविरा और श्राविका किसी एक मुख्य स्थान पर एकत्र होकर धर्माभ्युदय के मार्गों का अन्वेषण करें उसी के अनुसार प्रवृत्ति करायें, इसी को शास्त्रकार संघधर्म कहते हैं। नंदीसूत्र के आरम्भ की कतिपय गाथाओं में श्रीसंघ की उपमा द्वारा स्तुति की गई है, जिस में श्रीसंघ को चन्द्रमा और सूर्य

तो कुछ दोष नहीं है। अन्यथा हिंसा न करे। बिना प्राणियों की हिंसा किये मांस कहीं उत्पन्न नहीं होता। प्राणियों की हिंसा भी स्वर्ग की देने वाली है। इस कारण याग यज्ञ में जो प्राणियों की हिंसा होती है वह हिंसा नहीं है। हिंसा किये बिना स्वर्ग नहीं मिल सकता, ब्राह्मण या क्षत्रिय अभ्यागत घर में आये हों तो उनके लिये बड़ा बैल या बड़ा बकरा पकावे, इस प्रकार आतिथ्य करने का विधान लिखा है।

से उपमा देकर अलंकृत किया गया है. जैसे कि-

तव संजम मयलंछण अकिरियराहुमुहदुद्धरिसनिच्चं । जय संघचन्द ! निम्मल सम्मत्त विसुद्ध जोण्हागा ॥

वृत्ति-तपश्च संयमश्च तपःसंयमं समाहारो द्वन्द्वः तपःसंयममेव मृगलाञ्छनं-मृगरूपं चिह्नं यस्य तस्यामंत्रणं. हे तपःसंयममृगलाञ्छन ! तथा न विद्यतेऽनभ्युपगमात् परलोकविषया क्रिया येषां ते अक्रिया-नास्तिकाः त एव जिनप्रवचनशशाङ्कग्रसनपरायणत्वाद्राहुः तस्य मुखमिवाक्रियराहुमुखं तेन दुष्प्रधृष्यः-अनभिभवनीयः तस्यामंत्रणं हे अक्रियराहुमुखदुष्प्रधृष्य ! संघश्चन्द्र इव सङ्घचन्द्रः तस्यामंत्रणं हे सङ्घचन्द्र ! तथा निर्मलं-मिथ्यात्वमलरहितं यत्सम्यक्त्वं तदेव विशुद्धा ज्योत्स्ना यस्य स तथा "शेषाद्वे" ति कः प्रत्ययः. तस्या मंत्रणं हे निर्मलसम्यक्त्वविशुद्धज्योत्स्नाक ! दीर्घत्वं प्रागिव-प्राकृतलक्षणादवसेयम्, "निच्चं" "नित्यं" सर्वकालं "जय" सकलपरदर्शनतारकेभ्योऽतिशयवान् भव. यद्यपि भगवान् सङ्घचन्द्रः सदैव जयन् वर्त्तते तथाऽपीत्थं स्तोतुरभिधानं कुशलमनोवाक्कायप्रवृत्तिकारणमित्यदुष्टम् ॥ पुनरपि सङ्घस्यैव प्रकाशकतया सूर्यरूपकेण स्तवमाह—

भावार्थ-हे तपःसंयम मृगलाञ्छन वाले ! हे अक्रियराहुमुखदुष्प्रधृष्य ! हे संघचन्द्र ! हे निर्मल विशुद्ध ज्योत्स्ना के धारण करने वाले ! तेरी सर्वदा जय हो। इस गाथा का सारांश इतना ही है कि-स्तुतिकार ने श्रीसंघ को चन्द्र की उपमा से संबोधित किया है। जैसेकि-हे संघचन्द्र ! जिस प्रकार चन्द्र को मृग का लाञ्छन होता है, ठीक उसी प्रकार श्रीसंघ रूपी चन्द्र को तपःसंयम रूपी मृग लाञ्छन है। इसी लिये इस का यह आमंत्रण किया गया है कि-हे तपः संयम रूप मृग के लाञ्छन वाले ! फिर जिन की परलोक विषय क्रिया नहीं रही ऐसे जो नास्तिक लोग हैं, वही जिनप्रवचन रूप चन्द्र के ग्रसनपरायण होने से राहु के समान हैं उन से जो पराभव करने योग्य नहीं है। अतः श्री संघ के लिये यह आमंत्रण किया गया है कि-हे अक्रिय राहु मुखदुष्प्रधृष्य ! तथा जिस प्रकार चन्द्र निर्मल होता है ठीक उसी प्रकार मिथ्यात्वरूप मल से रहित जो सम्यक्त्व है, वही उस संघ रूप चन्द्र की विशुद्ध ज्योत्स्ना (चांदनी) है। इसीलिये यह आमंत्रण किया गया है कि-हे निर्मल सम्यक्त्व विशुद्ध ज्योत्स्ना वाले संघ चन्द्र ! तू सदैव काल जय करने वाला हो। यद्यपि भगवान् संघ चन्द्र सदैव जय कर्ता होकर ही वर्त रहा है, तथापि यहां पर स्तुति करने वाले के मन वचन और कार्य कुशल प्रवृत्ति रूप होनेसे इस कथन से कोई आपत्ति रूप दोष नहीं है ॥

अब फिर भी संघ की प्रकाशकता होने से स्तुतिकार सूर्य की उपमा से संघ की स्तुति करते हैं–

परतित्थिय गह पह नासगस्स तवतेयदित्तलेसस्स
नाणुज्जोयस्स जए भद्दं दमसंघसूरस्स ॥१०॥

वृत्ति—परतीर्थिकाः—कपिलकणभक्षाक्षपाद—सुगतादिमतावलम्बिनः त एव ग्रहाः तेषां या प्रभा-एकैकदुर्नयाभ्युपगमपरिस्फूर्तिलक्षणा तामनन्तनयसङ्कुलप्रवचनसमुत्थविशिष्टज्ञानभास्करप्रभावितानेन नाशयति-अपनयतीति परतीर्थिकग्रहप्रभानाशकः तस्य तथा तपस्तेज एव दीप्ता-उज्ज्वला लेश्या-भास्वरता यस्य स तथा तस्य तपस्तेजोदीप्तलेश्यस्य, तथा ज्ञानमेवोद्योतो-वस्तुविषयप्रकाशो यस्य स तथा तस्य ज्ञानोद्योतस्य 'जगति' लोके भद्रं कल्याणं भवत्विति शेषः, दमः-उपशमः तत्प्रधानः सङ्घः सूर्य इव सङ्घसूर्यः तस्य दमसङ्घसूर्यस्य ॥

भावार्थ—कपिल कणभक्ष अक्षपाद सुगतादि मतावलम्बी रूप जो ग्रह हैं, उनकी जो एक एक दुर्नय के ग्रहण करने हारी प्रभा है उस प्रभा को अनन्तनय रूप प्रवचन से विशिष्ट ज्ञानभास्कर की प्रभा द्वारा परतीर्थिक रूप ग्रहों की प्रभा को नाश करने वाले तप रूप तेज से जिसकी दीप्त लेश्या (प्रभा) है उस श्रीसंघ की, तथा जिसका ज्ञान ही उद्योत है अर्थात् अपने ज्ञान रूप प्रकाश से वस्तुओं के प्रकाश करने वाले उनका लोक में कल्याण हो। जिस में उपशम प्रधान है, सो श्रीसंघ सूर्य-भास्करवत् जो प्रकाश करने वाला है, उस दम संघसूर्य की जय हो। इस गाथा का सारांश इतना ही है कि–जिस प्रकार ग्रहों की एकदेशी प्रभा के नाश करने वाला सूर्य है, ठीक उसी प्रकार श्रीसंघरूप सूर्य पाखंडमत की प्रभा के नाश करने वाला है तथा जिस प्रकार सूर्य दीप्तलेश्या वाला है, उसी प्रकार श्री संघरूप सूर्य तपःतेज से दीप्त (उज्ज्वल) लेश्या वाला है, वा जिस प्रकार सूर्य स्वप्रकाश से अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है ठीक उसी प्रकार श्रीसंघरूप सूर्य अपने सम्यग् ज्ञान द्वारा लोक में प्रकाश करने वाला है। अतः संघरूपसूर्य जगत् में कल्याण के करनेवाला होताहै। साथ ही श्रीसंघ में उक्तसूर्य से एकविशेषण विशेष पाया जाताहै। जैसेकि-श्रीसंघ में कषायों का उपशम करना यह गुण विशेष है। अतः उस दमसंघसूर्य की सदा जय हो अर्थात् श्रीसंघ रूप सूर्य सदा ही अपने सम्यग् ज्ञान द्वारा जगत् में प्रकाश करता हुआ जय करता रहे। सो जिस प्रकार धर्म पक्ष में श्रीसंघ अनेक शुभोपमाओं को धारण किये हुए रहता है, उसी प्रकार राष्ट्रीय संघ भी सर्वत्र देशों में न्याय मार्ग का प्रचार करता हुआ सदैव काल कल्याण

करता रहता है, परन्तु इस बात को ठीक स्मरण रखना चाहिए कि-जब तक ग्रामस्थविर, नगरस्थविर, कुलस्थविर, वा गणस्थविर राष्ट्रीय स्थविरों के साथ सहमत न होंगे, तब तक संघस्थविरों के उत्तीर्ण किए हुए प्रस्ताव सर्वत्र कार्य-साधक नहीं हो सकते। इस कथन से यह तो स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि-संघधर्म और संघस्थविरों की कितनी आवश्यकता है? इस लिये संघधर्म की संयोजना भली प्रकार से होनी चाहिए। इसीलिये सूत्रकर्ता ने दश स्थविरों की गणना में एक तरह के "पसत्थारथेरा" "प्रशातृस्थविरा" लिखे हैं, उनका मुख्य कर्तव्य है कि-वे उक्त धर्मों का अपने मनोहर उपदेशों द्वारा सर्वत्र प्रचार करते रहें। जैसे कि-"प्रशासति-शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तारः धर्मोपदेशकास्ते च ते स्थिरीकरणात् स्थविराश्चेति प्रशातृस्थविराः" क्यों कि-प्रशातृस्थविर प्राणीमात्र के शुभचिंतक होते हैं। इसीलिये वे अपने पवित्र उपदेशों द्वारा प्राणीमात्र को धर्म पक्ष में स्थिरीभूत करते रहते हैं। कारण कि-नियम पूर्वक की हुई क्रियाएँ सर्वत्र कार्य-साधक हो जाती हैं, किन्तु नियम रहित क्रियाएँ विपत्ति के लाने वाली बन जाती हैं, जिस प्रकार धूमशकटी (रेलगाड़ी) अपने मार्ग पर ठीक चलती हुई अभीष्ट स्थान पर निर्विघ्नता पूर्वक पहुंच जाती है, ठीक उसी प्रकार स्थविरों के निर्माण किये हुए नियमों के पालन से आत्मा व्यभिचारादि दोषों से बचकर धर्म मार्ग में प्रविष्ट होजाता है, जिस का परिणाम उस आत्मा को उभय लोक में सुखरूप उपलब्ध होता है। क्योंकि-यह बात भली प्रकार से मानी गई है कि-आहार की शुद्धि होने से व्यवहार-शुद्धि होसकती है। सो यावत्काल पर्यन्त आहार की शुद्धि नहीं कीजाती तावत्कालपर्यन्त व्यावहारिक अन्य क्रियाएं भी शुद्धि को प्राप्त नहीं होसकतीं। अतएव इन सात स्थविरों का संक्षेप मात्र से स्वरूप कथन किया गया है, साथ ही सात ही प्रकार के धर्म भी बतला दिये गए हैं, सो स्थविरों को योग्य है कि-वे अपने ग्रहण किये हुए पवित्र नियमों का पालन करते हुए प्राणी मात्र के हितैषी बनकर जगत् के हितैषी बनें।

इतिश्री—जैनतत्त्वकलिकाविकासे स्वरूपवर्णनात्मिका तृतीया कलिका समाप्ता।

अथ चतुर्थी कलिका

सुज्ञ पुरुषो! पिछले प्रकरणों में सात धर्मों का संक्षेपता से वर्णन किया गया है, जिसमें लौकिक वा लोकोत्तर दोनों प्रकार के धर्म और स्थविरों की संक्षेप रूप से व्याख्या की गई है क्योंकि-यदि उन धर्मों की विस्तार पूर्वक व्याख्या लिखी जाती तो कतिपय महत् पुस्तकों की संयोजना करनी

पड़ती। जैसेकि-गणधर्म वा राष्ट्रीयधर्म की व्याख्या सहस्रों श्लोकों में की जासकती। हैं पुरुषों की ७२ कलाएँ और स्त्रियों की ६४ कलाएँ तथा जो १०० प्रकार के शिल्प कर्म हैं वे सब राष्ट्रीय शिक्षा में ही लिये जासकते हैं। शिक्षा पद्धति का क्रम भी प्रशास्तृस्थविरों द्वारा नियत किया हुआ होता है, परंच वे क्रम देशकालानुसार ही निर्माण किये जाते हैं अतएव उक्त विषय का इस स्थल पर केवल दिग्दर्शन ही कराया गया है न कि विस्तार। स्मृति रहे ये सब लौकिक धर्म और लौकिक मार्ग को ही ठीक कर सकते हैं, नतु परलोक को। परन्तु अब--केवल उन दो धर्मों का वर्णन किया जाता है, जिन के धारण वा पालन करने से आत्मा अपने जीवन को आदर्श रूप बनाता हुआ सुगति का अधिकारी बन जाता है। इतना ही नहीं किन्तु अनेक भव्य प्राणियों को सुगति के मार्ग पर आरूढ करके यश का भागी भी बनता है। क्योंकि-यावन्मात्र संसारी पदार्थ हैं वे सब क्षण विनश्वर हैं। अतः उनका क्षण २ में पर्याय परिवर्त्तन होता रहता है, पदार्थों का जो पूर्व क्षण में पर्याय होता है वह उत्तर क्षण में देखने में नहीं आता है, सो जब पदार्थों की यह गति है तो उन में कौन ऐसा बुद्धिमान् है, जो अत्यन्त मूर्च्छित होकर इस पवित्र जीवन को व्यर्थ खो देवे? इस लिये वे भव्य आत्माएँ जिनका अब कथन किया जायगा उन दोनों धर्मों का अवलम्बन करते हैं। जैसेकि—

८ सुयधम्मे-श्रुतधर्म के द्वारा प्राणी जीव अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध और मोक्ष के स्वरूप को भली भांति जान सकता है। वास्तव में धर्म शब्द की व्युत्पत्ति भी यही है, जिसके द्वारा दुर्गति में पतित होते हुए जीव सुग- ति में प्रविष्ट हो सकें। श्रुतधर्म की वृत्ति करने वाले लिखते हैं कि-"श्रुतमेव आचारादिकं दुर्गतिं प्रपतज्जीवधारणात् धर्म्मः श्रुतधर्म्मः" यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि-पदार्थों के स्वरूप को भली भांति जानकर ही आत्मा को हेय (त्यागने योग्य) ज्ञेय (जानने योग्य) तथा उपादेय (ग्रहण करने योग्य) पदा- र्थों का बोध होसकेगा। इस लिये सर्व धर्मों से बढ़कर श्रुतधर्म ही माना गया है। इसी के आधार से अनेक भव्य प्राणी आत्म-कल्याण कर सकते हैं। यावन्मात्र पुस्तकें उपलब्ध होती हैं, वे सर्व श्रुतज्ञान के ही माहात्म्य को प्रकट करती हैं या यों कहिये कि-वे सब पुस्तकें श्रुतज्ञान ही हैं। क्योंकि-वे श्रुतज्ञान के प्राथमिक कारणीभूत हैं। अनुयोगद्वारसूत्र में लिखा है कि-"दव्वसुयंपत्तपोत्थयलि- हियं" अर्थात्-द्रव्य, श्रुतपत्र और पुस्तक पर लिखा हुआ होता है, सो उसको पढ़ते ही उपयोग पूर्वक होने से वे ही भाव श्रुत होजाते हैं। इस कथन से यह भी सिद्ध होजाता है कि-प्रत्येक व्यक्ति श्रुतधर्म की प्राप्ति के लिये यथावसर स्वाध्याय करने का अवश्यमेव अभ्यास करे, यदि स्वाध्याय न कर सकता हो

तो विद्वान् और अनुभवी पुरुषों के पास पहुंच कर सूत्र के अर्थों का श्रवण करे। क्योंकि जिन आत्माओं ने अक्षरज्ञान संपादन नहीं किया है, वे श्रुत के अर्थ-श्रवण से अपना वा पर का कल्याण कर सकते हैं। तथा च पाठः--

दुविहे धम्मे पं०तं–सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव, सुयधम्मे दुविहे पं०तं सुत्तसुयम्धमे चेव अत्थसुयधम्मे चेव ॥

ठाणांगसूत्र स्थान २ उद्देश्य १ ॥

वृत्ति–दुर्गतो प्रपततो जीवान् रुणद्धि सुगतौ च तान् धारयतीति धर्म्मः,[1] श्रुतं द्वादशांगं तदेव धर्म्मः श्रुतधर्म्मः। चर्यते आसेव्यते यत् तेन वा चर्यते-गम्यते मोक्ष इति चारित्रं—मूलोत्तरगुणकलापस्तदेव धर्म्मश्चारित्रधर्म्म इति। 'सुयधम्मे' इत्यादि सूत्र्यन्ते सूच्यन्तेवाऽर्था अनेनेति सूत्रम् सुस्थितत्वेन व्यापित्वेन च सुष्टूक्तत्वाद्वा सूक्तं, सुप्तमिव वा सुत्तम्, अव्याख्यानेनाप्रबुद्धावस्थत्वादिति, भाष्यवचनं त्वेवं 'सिञ्चति खरइ जमत्थं तम्हासुत्तं निरुत्तविहिणा वा। सूएइ सवति सुव्वइ सिव्वइ सरए वंजणऽत्थं ॥ १ ॥ अविवरियं सुत्तंविव सुट्ठिय वा वित्तओ सुवुत्तं' त्ति ॥[2] अर्यतेऽधिगम्यतेऽर्थ्यते वा याच्यते बुभुत्सुभिरित्यर्थो-व्याख्यानमिति, आह च-'जो सुत्ताभिप्पाओ सो अत्थो अज्जए य जम्हत्ति' ॥[3]

भावार्थ-श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने धर्म दो प्रकार से प्रतिपादन किया है, जैसेकि-श्रुतधर्म और चारित्रधर्म फिर श्रुतधर्म भी दो प्रकार से वर्णन किया है, जैसेकि सूत्रश्रुतधर्म और अर्थश्रुतधर्म। दुर्गति में पड़ते हुए प्राणी को जो उठाकर सुगति की ओर खींचता है, उसी का नाम धर्म है और द्वादशाङ्ग रूप श्रुत का जो पठन पाठन करना वा कराना है उसे श्रुतधर्म कहते हैं तथा जिस के आसेवन वा जिसके द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जाए उसे चारित्र धर्म कहते हैं वही मूलोत्तरगुणक्रियाकलापरूप धर्म भी है।

सूत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती। जैसे सूत्र में माला के मणके परोये हुए होते हैं, उसी प्रकार जिस में अनेक प्रकार के अर्थ ओतप्रोत होते हैं, उसे सूत्र कहते हैं तथा जिस के द्वारा अर्थों की सूचना की जाती है वह सूत्र है। जो भली प्रकार कहा हुआ है, उस का नाम सूक्त है, प्राकृत भाषा में सूक्त शब्द का रूप भी 'सुत्त' ही बनता है। जिस प्रकार सोया हुआ पुरुष वार्तालाप करने पर बिना जागृत हुए उस वार्त्ता के भाव से अपरिचित रहता है ठीक उसी प्रकार बिना व्याख्या पढ़े जिस का बोध न होसके उसे सूत्र कहते

---

१ पततो रक्षति सुगतौ च धत्ते इति

२ सिञ्चति क्षरति यस्मादर्थं तस्मात् सूत्रं निरुक्तविधिना वा सूचयति श्रवति श्रूयते सिव्यते स्मर्यते वा येनार्थः ॥१॥ अविवृतं सुप्तमिव सुस्थितव्यापित्वात् सूक्तमिति ॥

३ यः सूत्राभिप्रायः सोऽर्थोऽर्यते च यस्मादिति।

हैं। एवं जिस से अर्थ निकलता हो, जो अर्थों की सूचना करता हो, अर्थ को देता हो वा जिस के द्वारा अर्थ जाना जाता हो, अर्थ स्मरण किया जाता हो, अर्थ को सीता हो उसे सूत्र कहते हैं। सूत्र के अभिप्राय का नाम अर्थ है अर्थात् जिस के द्वारा पदार्थों का पूर्णतया बोध होजावे वह अर्थ कहलाता है सो इस प्रकार एक तो सूत्ररूप श्रुतधर्म है और दूसरा अर्थरूप श्रुतधर्म है। सारांश यह है कि-सम्यक् श्रुत का पठन, पाठन करना वा कराना श्रुतधर्म है। श्रुत समाधि द्वारा आत्मा को परम शांति की प्राप्ति होजाती है, जैसाकि—जब विधि पूर्वक श्रुताध्ययन किया जायगा तब आत्मा को भली भांति पदार्थों का बोध हो जायगा। जिस का परिणाम यह होगा कि—उस आत्मा को सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति होजाएगी, फिर उसी के प्रताप से उसकी आत्मा ज्ञानसमाधि से युक्त होकर धर्म मार्ग में ठीक स्थिरीभूत होकर अन्य आत्माओं को धर्म-मार्ग में स्थिर करने में समर्थ होगी। इस लिए श्रुत धर्म का अवलम्बन अवश्य-मेव करना चाहिए। यद्यपि श्रुत शब्द एक ही है, परन्तु इसके भी दो भेद हैं। १ मिथ्याश्रुत और-२ सम्यग् श्रुत। सो मिथ्याश्रुत तो प्रायः प्रत्येक प्राणी अध्ययन किये जा रहा है, क्योंकि-जिस श्रुत में पदार्थों का मिथ्या स्वरूप प्रतिपादन किया गया हो और मोक्ष मार्ग का किंचिन्मात्र भी यथार्थ वर्णन न हो उसी को मिथ्याश्रुत कहते हैं। जैसे-"शब्दगुणकमाकाशम्" आकाश का शब्द गुण है, सो यह कथन असमंजस है। क्योंकि-आकाश अमूर्तिक पदार्थ है और शब्द मूर्त्तिवाला है। सो अमूर्त्तिक पदार्थ का गुण मूर्त्तिमत् कैसे हो सकता है? तथा गुणी के प्रत्यक्ष होने से उस की सिद्धि हो जाने पर गुण भली भाँति सिद्ध किया जाता है; परन्तु यहां पर आश्चर्य से कहा जाता है कि-गुण प्रत्यक्ष और गुणी परोक्ष, देखिये, यह कैसा अद्भुत न्याय है? अतएव आकाश का लक्षण (गुण) अवकाश रूप है; नतु शब्द। किन्तु शब्द पुद्गल का धर्म (गुण) है। इसी लिये जिस श्रुत में पदार्थों का यथार्थ भाव वर्णन न किया गया हो, वह सब मिथ्याश्रुत होता है। परन्तु जिस श्रुत में पदार्थों का सम्यग् रीति से वर्णन किया गया है, वही सम्यग् श्रुत है। जैसे द्रव्य गुण-पर्याय वाला माना जाता है तथा सत् द्रव्य का लक्षण है, परन्तु "उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" सत् वह होता है जो उत्पाद और व्यय धर्म वाला भी हो जैसे पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर पर्याय का उत्पाद किन्तु द्रव्य दोनों दशाओं में विद्यमान् रहता है। जिस प्रकार किसी ने सुवर्ण के कंकण की चूड़ियां बनाई सो जब चूड़ियां तैय्यार हो गई तब कंकण के आकार का तो व्यय हो गया, चूड़ियों की आकृति का उत्पाद हुआ, परन्तु सुवर्ण दोनों दशाओं में सत् (विद्यमान) है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के विषय में जानना चाहिए।

अतएव सिद्ध हुआ कि-सम्यग् श्रुत का अध्ययन करना श्रुतधर्म कहा जाता है। इस धर्म का विस्तार पूर्वक कथन इस लिये नहीं किया गया है कि-सब सम्यग् शास्त्र इसी विषय के भरे हुए हैं। सो उन शास्त्रों का अध्ययन करना ही सम्यग् श्रुतधर्म है ।

६ चारित्रधर्म—जिस धर्म के द्वारा कर्मों का उपचय दूर हो जाए, उसी को चारित्रधर्म कहते हैं । क्योंकि-" ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः " ज्ञान और क्रिया के द्वारा ही मोक्ष पद उपलब्ध हो सकता है। इस कथन मे यह स्वतः ही सिद्ध है कि-केवल ज्ञान द्वारा मोक्ष उपलब्ध नहीं होता और नाहीं केवल क्रिया द्वारा मोक्षपद प्राप्त हो सकता है. किन्तु जब ज्ञानपूर्वक क्रियाएँ की जायँगी, तब ही आत्मा निर्वाण पद की प्राप्ति कर सकेगा ।

इस प्रकार जब सम्यग् ज्ञान होगया तब फिर सम्यग् चारित्र के धारण करने की आवश्यकता होती है। श्री भगवान् ने ठाणांग सूत्रस्थान २ उद्देश में प्रतिपादन किया है कि-

चरित्तधम्मे दुविहे पं० तं०—आगारचरित्तधम्मे अणगार-चरित्तधम्मे।

वृत्ति-चरितेत्यादि-आगारं-गृहं तद्योगादागाराः-गृहिणस्तेषां यश्च-रित्रधर्म्मः-सम्यक्त्वमूलाणुव्रतादिपालनरूपः स तथा एवमितरोऽपि नवरम-गारं नास्ति येषां ते अनागाराः साधवः इति ॥

भावार्थ—चरित्रधर्म दो प्रकार का है. जैसेकि-गृहस्थों का चरित्र और मुनियों का चरित्र। सो मुनियों के चरित्रधर्म का स्वरूप तो पूर्व संक्षेप से वर्णन कर चुके हैं, परन्तु गृहस्थों का जो चरित्रधर्म है उसका संक्षेप से इस स्थान पर वर्णन किया जाता है। क्योंकि धर्म से ही प्राणी का जीवन पवित्र हो सकता है। अब धर्मबिन्दुप्रकरण से कुछ सूत्र देकर गृहस्थ धर्म का स्वरूप लिखा जाता है।

तत्र च गृहस्थधर्मोऽपि द्विविधः सामान्यतो विशेषश्चेति ।

(धर्मबिन्दु अ. १। सू० २ ।)

भावार्थ—गृहस्थ धर्म दो प्रकार से वर्णन किया गया है. जैसेकि—एक सामान्य गृहस्थधर्म और दूसरा विशेष गृहस्थधर्म । अब शास्त्रकार सामान्य-धर्म के विषय में कहते हैं।

तत्र सामान्यतो गृहस्थधर्मः कुलक्रमागतमनिंद्यं विभवाद्यपेक्षया न्यायतो ऽनुष्ठानमिति ।

(धर्म० अ० १। सू० ३)

भावार्थ—कुलपरम्परा से जो अनिंदनीय और न्याययुक्त आचरण आ रहा हो तथा न्याय पूर्वक ही विभवादि उत्पन्न किए गए हैं, उन्हें सामान्यधर्म कहते हैं। गृहस्थ लोगों का यह सब से बढ़कर सामान्य धर्म है कि वे पवित्र कुलाचार

का पालन करें जिन कुलों में कुलपरम्परा से मांस भक्षणादि का निषेध हो उसे न छोड़ें तथा जिन कुलों में न्याय पूर्वक शुद्ध आचरण चला आता हो उस न्यायमार्ग का उलंघन न करें ।

न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोकहितायेति ॥

(धर्म० अ० १ । सू० ४ ॥)

भावार्थ—न्याय से उत्पन्न किया हुआ ही धन इस लोक और परलोक में हित करने वाला होता है, किन्तु अन्याय से उपार्जित द्रव्य प्रायः व्यभिचारादि कुकृत्यों में ही विशेष व्यय किया जाता है, जिसका परिणाम इस लोक में बहु दुःखप्रद हो जाता है, जैसेकि—शरीर का गल जाना, धन का नाश, कुल को कलंक तथा धर्म से पराङ्मुखता, ये सब बातें प्रत्यक्ष में देखी जाती हैं ।

यदि कोई कहे कि—अन्याय से उत्पन्न किये हुए द्रव्य का प्रकाश बड़ा विस्तीर्ण देखा जाता है तो इस बात का समाधान यह है कि-जिस प्रकार "विध्यायतः" बुझते हुए दीपक का प्रकाश चिरस्थायी नहीं होता, उसी प्रकार अन्याय से उपार्जित धन अस्थिर होता है । इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि बुझता हुआ दीपक एक वार तो प्रकाश अवश्यमेव कर देगा, किन्तु तत्पश्चात् सर्वत्र अंधकार विस्तृत हो जायगा । ठीक यही व्यवस्था अन्याय से उत्पन्न किये हुए धन के विषय में जाननी चाहिए । जब वह धन इस लोक में सुखप्रद नहीं हो सकता तो भला परलोक में वह क्या सुखप्रद होगा ? क्योंकि व्यभिचार का अंतिम फल परलोक में दुर्गति की प्राप्ति लिखा है ।

यदि कोई कहे कि-- वह अन्यायोपार्जित द्व्य धार्मिक कार्यों में व्यय किया जाय तब तो पुण्य का अनुबंध अवश्य हो जायगा । इस शंका का समाधान यह है कि-अन्याय का द्रव्य यदि धार्मिक कार्यों में व्यय किया जाएगा तो वह धार्मिक कार्यों का महत्व स्वल्प कर देगा । जैसे-यदि ऐसे कहा जाय कि अमुक धार्मिक संस्था रिश्वत के द्रव्य से स्थापित हुई है और चोरी के द्रव्य से चलती है तब देखें उस धार्मिक संस्था की धार्मिक शिक्षाओं का कैसा महत्व बढ़ता है ? यह तो प्रत्यक्ष हेतु है । साथ ही अन्याय के द्रव्य के कारण विद्यार्थियों के सदाचार में अवश्यमेव परिवर्त्तन हो जायगा, उनके भाव व्यभिचार आदि दुर्व्यसनों की ओर झुकने लग जाएंगे । अतएव सिद्ध हुआ कि अन्याय का द्रव्य दोनों लोकों में हित करने वाला नहीं होता, किन्तु विपत्ति का कारण है । इस लिए अन्याय से कदापि धन उत्पन्न नहीं करना चाहिए । जब संसार में न्याय पूर्वक धन उत्पन्न किया गया, तब फिर गृहस्थ लोगों की काम संज्ञा उत्पन्न हो जाती है । अब प्रकरण-कर्त्ता विवाह के विषय में कहते हैं—

तथा समानकुलशीलादिभिरगोत्रैर्जैर्वैवाह्यमन्यत्र बहु विरुद्धेभ्य इति ॥

(धर्म० अ० १ । सू० १२ ।)

भावार्थ–जो देश वा धर्म से विरोध नहीं रखता तथा जिसका परस्पर वैर नहीं है उस व्यक्ति के साथ विवाह आदि का सम्बन्ध हो जाय तो वह व्यवहार पक्ष में हानिकारक नहीं माना जाता। परन्तु विवाह-सम्बन्ध करते समय तीन बातों का ध्यान तो अवश्यमेव कर लेना चाहिए,जैसे कि-१ कुल अपने समान हो,२ शीलाचार अपने समान हो और सम्बन्धी अपने से भिन्न गोत्री हो। क्योंकि-अपने समान कुल में हुआ सम्बन्ध बहुत से अकार्यों से बचाता है, जैसेकि-जब कन्या अपने से बड़े कुल में दीजाती है तब प्रायः उस कन्या का महत्व नहीं रहता। जिस प्रकार लोग दास और दासी को देखते हैं. उसी प्रकार प्रायः उस कन्या के साथ श्वसुरगृह वालों का वर्ताव होजाता है। इतना ही नहीं किन्तु बहुत से निर्दयी पति इस धुन में लगे रहते हैं कि-कब इस की मृत्यु हो और कब हम नूतन सम्बन्ध जोड़ें। अब विचार किया जासकता है कि-जब पति के इस प्रकार के भाव उत्पन्न हो जाएं, तब उस विचारी अबला की रक्षा किस प्रकार हो सकेगी? यदि कन्या अपनी अपेक्षा विभवादि से न्यून कुल में दीजाती है, तब वह पितृगृह के अभिमान वश होकर पतिदेवता की अवज्ञा करने लगजाती है। सदैव काल उसके सम्बन्धियों को धिक्कारती रहती है, इतना ही नहीं किन्तु आप सदैव काल रूठी रहती है. जिसके कारण पति परम दुःख में पड़ जाता है तथा श्वसुर सम्बन्धी जन परम दुःखित हो जाते हैं। पति सदैव काल अपने जीवन को निरर्थक समझने लग जाता है। भागने की अथवा अपमृत्यु की इच्छा रखता है इत्यादि अनेक दोष जन्य कार्य होने से शास्त्रकार ने समानकुल का विशेषण दे दिया है। जिस प्रकार कुल समान की व्याख्या की जाती है ठीक उसी प्रकार शील भी सम होना चाहिए। कारण कि-यदि कुल आचरण ठीक नहीं है तब उस में कन्या भी सुख नहीं पासकती। जैसेकि कुल तो सम ठीक है परन्तु उस कुल में मद्य मांसादि का प्रचार है तथा वर (पति) व्यभिचारी है ऐसी दशा में किसी प्रकार से भी विवाह सुखप्रद नहीं होसकता। क्योंकि-व्यभिचारी पुरुष कभी भी पत्नी के लिये सुखप्रद नहीं माना जा सकता। एवं यदि विद्या भी सम नहीं है तब भी प्रायः परस्पर वैमनस्य भाव उत्पन्न होने की संभावना होती है, क्योंकि-विद्या के न होने से या विषम होने से परस्पर किसी बात के विचार में अवश्यमेव विरोध हो जाता है। इसी वास्ते सूत्रकर्ता ने आदि शब्द ग्रहण किया है। आयु का भी अवश्य विचार किया जा सकता है, क्योंकि-अनमेल विवाह कभी भी सुखप्रद नहीं माने जासकते। जैसे-

वृद्धविवाह वा बालविवाह। इन अनुचित क्रियाओं से जो गृहस्थ बचा हुआ है, वही विशेषधर्म के योग्य समझा जासकता है। जब कुल और शील सम देखे गए हों, तब अपने गोत्र को छोड़ कर अन्य गोत्र के साथ सम्बन्ध करे। उस गोत्र वालों के कुल में रोग न चला आता हो, वा कन्या तथा कन्या की माता किसी असाध्य रोगादि से ग्रसित न हो इत्यादि बातों को बुद्धिपूर्वक विचार लेना चाहिए। क्योंकि-विवाह की प्रथा मोहनीय कर्म के उपशम करने के लिये वा व्यभिचा बन्द करने के लिये ग्रहण की गई है। अतएव विवाह से पूर्व ही सब वार्ताओं का बुद्धिपूर्वक निरीक्षण होजाना उचित है।

" तथा गोत्रजैः वैवाह्यं स्वगोत्राचरितज्येष्ठकनिष्ठताव्यवहारविलोपः स्यात् "

यदि स्वगोत्र में ही विवाह किया जायगा तब परस्पर ज्येष्ठ कनिष्ठता का जो व्यवहार है, उस का लोप हो जायगा इत्यादि धर्मबिन्दुप्रकरण में स्वगोत्रसम्बन्धी अनेक दोष प्रतिपादन किये गए हैं। यदि ऐसे कहा जाए कि शुद्ध कुल में विवाह करने का प्रत्यक्ष क्या फल उपलब्ध होता है ? तब इस के उत्तर में कहा जाता है कि-शुद्ध और समान शीलादि युक्त कुल में विवाह के निम्न लिखित फल दृष्टिगोचर होते हैं। जैसेकि—

शुद्धकलत्रलाभफलो विवाहस्तत्फलं च सुजातसुतसंततिः, अनुपहतचित्तनिवृतिः; गृहकृत्य-सुविहितत्वं, आभिजात्याचारविशुद्धत्वं, देवातिथिबांधवसत्कारानवद्यत्वं चेति।

अर्थ-विवाह का फल शुद्ध कुलीन स्त्री का मिलना है। शुद्ध कुलीन स्त्री के लाभ का फल सुजात पुत्रसंतति की प्राप्ति है। चित्त की अप्रतिहत स्वस्थता, गृह कार्य में दक्षता, आचार की शुद्धि, देव अतिथि तथा सम्बन्धियों का सत्कार ये सब सुकार्य कुलीन स्त्रियों द्वारा ही प्राप्त होते हैं। इसी लिए लोग कुलीन स्त्रियों के अभिलाषी रहते हैं।

"कुलवधूरक्षणोपायाश्चैते गृहकर्मविनियोगः, परिमितोऽर्थसंयोगः, अस्वातंत्र्यम्, सदा च मातृतुल्यस्त्रीलोकविराधनमिति"

भावार्थ-कुलीन स्त्रियों की रक्षा के केवल चार ही उपाय बतलाए गए हैं। जैसेकि-गृहसम्बन्धी सर्व कार्यों में उसे नियुक्त करना चाहिए, क्योंकि-गृह-सम्बन्धी कार्य न करने से प्रायः स्त्रियां सदैव काल कलह वा लड़ाई में तत्पर रहती हैं, जिससे घर के सब लोग उस कुलवधू से परम दुःखित होजाते हैं। उस कुलवधू के पास अपरिमित द्रव्य भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि-जिन कन्याओं को पूर्णतया संसार का बोध नहीं है तथा गंभीरता वा धैर्य न्यून है, यदि उन के पास अपरिमित द्रव्य होगा तो उनके लिये वह द्रव्य सुखप्रद

नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त स्त्री को स्वातंत्र्य नहीं मिलना चाहिए कारण कि-स्वतंत्रता प्रायः स्वच्छन्दता की पोषक होजाती है, जिसका पीछे निरोध करना अति कठिन होजाता है। स्वतंत्रता कर लेनी तो सुगम है परन्तु पीछे दूसरे की आज्ञा में वर्त्तना कठिन होजाता है, इस लिये अपरिमित स्वतंत्रता कभी भी सुखप्रद नहीं हो सकती। साथ ही जो स्त्रियां कुल में वृद्ध हों और माता के समान हित शिक्षा देने में दक्ष हों कुलवधू को उनकी आज्ञा में सदैव काल रहना चाहिए। कारण कि-उक्त स्त्रियों के वशवर्त्ती रहने से योग्यता तथा सदाचार बढ़ेगा और पातिव्रत्य धर्म दृढ़ता से पालन हो सकेगा। उनकी हितशिक्षा के प्रभाव से वे सदैव काल कदाचार से बचती रहेंगी, सो उक्त नियमों की सहायता से कुल वधूओं की रक्षा होसकती है।

तथा उपप्लुतस्थानत्याग इति

धर्मबिन्दु अ-१। १६॥

भावार्थ-जिस स्थान पर उपद्रव होने की संभावना हो या जहां वार २ उपद्रव होते हों वहां निवास न करना चाहिए। जिस स्थान पर अपने अथवा पर राजा के कारण उपद्रव उत्पन्न होने की आशंका हो तथा दुर्भिक्ष, मारी ईतियें (अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, टीड पतंगिये स्वचक्र वा परचक्र) वा परस्पर जनों के साथ विरोध हो, ऐसे स्थानों में रहने से गृहस्थों के धर्म, अर्थ और काम रूप तीनों धर्मों की भली प्रकार से रक्षा न हो सकेगी, चित्त अशान्त रहेगा। इस लिये ऐसे स्थानों का परित्याग करना ही गृहस्थ के लिये श्रेयस्कर है, ताकि चित्त की समाधि भली प्रकार से बनी रहे।

स्वयोग्यस्याश्रयणमिति —

धर्म० अ-१. सू-१७

इस सूत्र का यह आशय है कि-सुयोग्य पुरुष का आश्रय लेना चाहिए। कारण कि-गृहस्थावास में रहते हुए पुरुष को नाना प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है, उसमें सुयोग्य व्यक्ति का आश्रय होने से वे कष्ट शांति पूर्वक भोग जासकते हैं। जिस प्रकार महावायु और महामेघ की प्रचंड धारा से सुदृढ़ और सुरक्षित शालाएँ पुरुषों की रक्षक होती हैं, ठीक उसी प्रकार सुयोग्य व्यक्तियां विपत्ति काल में दुःखी पुरुषों की रक्षा करने में समर्थ होती हैं। अतएव प्रत्येक गृहस्थ को योग्य है कि-महान् सुयोग्य व्यक्ति के आश्रित रहे। इस से एक और भी विशेष लाभ होता है वह यह कि—जब जनता को विदित होजाता है कि—अमुक व्यक्ति अमुक महान् व्यक्ति के आश्रित है तब आने वाले अनेक विघ्न स्वयमेव उपशम होजाते हैं। कारण कि-सदाचारी पुरुषों का संसर्ग होने से आत्मा विना उपदेश ही सदाचार की

ओर झुक जाता है। इसके अतिरिक्त सदाचारियों के निकट वसने से उपद्रवों का भय नहीं रहता। जहां कदाचारी पुरुषों के स्थान हैं, चाहे वे अतिगुप्त हैं वा अतिप्रगट, वे सद् गृहस्थ के लिये वर्जने योग्य हैं। एवं जिस स्थान में गमनागमन के अनेक मार्ग हों वह स्थान उपद्रवों से प्रायः बच नहीं सकता। अतएव सामान्य गृहस्थधर्म पालन करने वाले पुरुष को योग्य है कि—वह पहले क्षेत्रशुद्धि अवश्य करे। इसके साथ साथ उसको उचित है कि-वह अपनी शक्ति के अनुसार ही वेष धारण करे। कारण कि—शक्ति के अनुसार जो वेष होता है वह जगत् में प्रायः उपहास का पात्र नहीं होता। शक्ति के विपरीत वेष का धारण करना सभ्य सृष्टि में अवश्यमेव उपहास का कारण बन जायेगा। इसीलिये सूत्रकार कहते हैं कि—

"तथा आयोचितो व्यय इति"

लाभ के अनुसार या लाभ से कुछ न्यून व्यय करने वाला पुरुष दुःखों से पीड़ित नहीं होता, किन्तु जिस पुरुष को अपनी वृद्धि और हानि का पूर्णतया बोध नहीं है, उसका संसार में यश के साथ जीवन व्यतीत करना कठिन हो जायेगा। अतएव यावन्मात्र अपने पास द्रव्य हो वा यावन्मात्र प्रतिदिन व्यापारादि में धन की वृद्धि होती प्रतीत होती हो, उस से कम ही खर्च करना चाहिए; ताकि पीछे दुःखी न होना पड़े। इस कथन का यह आशय नहीं है कि–अत्यन्त कृपणता (कंजूसी) की जाए, प्रत्युत इसका अभिप्राय यह है कि मितव्ययी होना चाहिए।

"तथा प्रसिद्धदेशाचारपालनमिति"

जो निंदा से रहित देशाचार सुप्रसिद्ध होरहा हो, उसके पालन करने से किसी भी प्रकार की निंदा नहीं हो सकती। इस लिये अनिन्द्य देशाचार के पालन करने वाला पुरुष दक्ष और बुद्धिमान् तथा स्वदेश-रक्षक कहा जाता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि-विदेशी वेषादि आचरण धारण करने चाहिएं अथवा नहीं? इस के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि-जिन आत्माओं के मन में स्वदेशाभिमान वा गौरव विद्यमान है वे विपत्ति काल उपस्थित हुए विना स्वदेशाचार का उल्लंघन कदापि नहीं करते, किन्तु जो आत्माएँ स्वदेश के गौरव से अपरिचित हैं, वे ही मनमाने काम करते हैं। क्या आपने मन में कभी यह भी विचार किया है कि-जब विदेशी लोग हमारे देश के वेषादि को धारण नहीं करते तो भला हमें परिवर्त्तन करने की क्या आवश्यकता है? जिन विदेशी लोगों ने हमारे देश के वेषादि आचार को धारण नहीं किया क्या उनका निवास हमारे देश में नहीं हो सकता? जब उन को इतना अभिमान है तो हम को भी स्वदेश का गौरव रखना चाहिए।

जिस प्रकार स्वदेशी वेष के विषय में कहा गया है उसी प्रकार अन्य भाषादि स्वदेशी आचारों के विषय में भी जानना चाहिए। इसी वास्ते ऊपर कहा जा चुका है कि-प्रसिद्ध और प्रशंसनीय देशाचार के पालन करने वाला पुरुष सामान्यधर्म पालन करता हुआ विशेष धर्म के योग्य हो जाता है। क्यों कि-जो किसी की भी निंदा नहीं करता उसका आत्मा सदैव काल शांति में रहा करता है। यदि किसी अधिकारी व्यक्ति की निंदा की जावे तो उसका फल तत्काल उपलब्ध हो जाता है, यदि किसी सामान्य व्यक्ति की निंदा की जाए तो उसका परिणाम प्रायः कुछ समय के पश्चात् उपलब्ध हो जायगा। अतएव उक्त धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति किसी की भी निंदा न करे। अपितु निंदादि व्यसनों को छोड़ कर सदैव काल सदाचारी पुरुषों की संगति करनी चाहिए। जब कुसंग का त्याग किया जायगा और सुसंगति में सदा चित्तवृत्ति लगी रहेगी, तब आत्मा इस क्रिया के महत्व से विशेषधर्म में प्रवृत्त हो सकेगा। आगे ग्रन्थकार ने लिखा है यथा—

"तथा मातापितृपूजेति"

इस सूत्र का आशय है कि-माता पिता की पूजा करनी चाहिए। कई लोग कह देते हैं कि-माता पिता की पूजा क्या पुष्पों और घंटाओं द्वारा होनी चाहिए? इस प्रकार के कुहेतुओं के निराकरण के वास्ते उक्त सूत्र के वृत्ति करने वाले लिखते हैं कि-

मातापित्रोः जननीजनकयोः पूजा त्रिसंध्यं प्रणामकरणादि। यथोक्तम्—

पूजनं चाऽस्य विज्ञेयं त्रिसंध्यं नमनक्रिया। तस्यानवसरेऽप्युच्चैश्चेतस्यारोपितस्य तु॥

अस्येति-माता पिता कुलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा। वृद्धा धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः सतां मतः॥

इति श्लोकोक्तस्य गुरुवर्गस्य।

अभ्युत्थानादियोगस्य तदन्ते निभृतासनम्। नामग्रहश्च नास्थाने नावर्णश्रवणं क्वचित्॥२१॥

भावार्थ—मातापिता की पूजा से अभिप्राय यह है कि—त्रिकाल प्रणामादि करके भक्ति करनी चाहिए। क्योंकि-कहा गया है कि-अवसर विना फिर ऊंच भावों से चित्त में आरोपण किया हुआ गुरुजन (वृद्धवर्ग) वर्ग को त्रिकाल प्रणाम करना यही उन का पूजन है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि-गुरुजनवर्ग में किस २ को गिनना चाहिए? इसके उत्तर में कहा है कि-माता, पिता, कुलाचार्य, (शिक्षागुरु), उनके सगे सम्बन्धी, वृद्ध और धर्म का उपदेश करने वाले। इन्ही को सत्पुरुषों ने गुरु माना है। गुरुवर्ग को किस प्रकार मान देना चाहिए? अब इसी विषय में कहते हैं—गुरु जन आवें तो खड़े हो जाना चाहिए, उनके सामने जाना चाहिए, आदि शब्द से सुख साता पूछनी, उनके पास निश्चल होकर बैठना चाहिए, अस्थान में (अघटित स्थान)

उनका नाम न लेना चाहिए तथा यदि कोई गुरु वर्ग की निंदा करता हो तो उस स्थान पर न ठहरना चाहिए और नाँही निंदा सुननी चाहिए। इस प्रकार माता पिता का पूजन करने वाला आत्मा विशेष धर्म में सुख पूर्वक प्रविष्ट हो सकता है। कारण कि-उसके अन्तःकरण में पहले से ही भक्तिभाव बैठा हुआ होता है। अपितु उस को योग्य है कि—वह अपने माता पिता को धार्मिक कार्यों में नियुक्त करे, जिस से वे परलोक में भी सुख प्राप्त कर सकें। यद्यपि सुपुत्र ने अपने विनयी भावों से उनको ऐहलौकिक सुखों में निमग्न कर दिया है तथापि पारलौकिक सुख केवल धर्म के आधार पर ही निर्भर है। इसलिये सुपुत्र को योग्य है कि-वह उनको धर्मपथ की ओर लेजाए। साथ ही यथा-योग्य भरण पोषण करता हुआ इस प्रकार के वचन का प्रयोग न करे जिस से किसी प्राणी को उद्वेग की प्राप्ति हो जावे। कारण कि-वचनप्रहार से किसी अन्य आत्मा को पीड़ित करना, यह कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। अतएव धर्म, अर्थ और काम इन को योग्यता पूर्वक पालन करता हुआ भावी अनर्थों से पौष्पवर्ग की रक्षा का अन्वेषण करे। यदि पौष्पवर्ग निंदा का पात्र बन जाय तो फिर अपने गौरव की रक्षा करे। क्योंकि-स्वकीय गौरव की रक्षा करने से फिर सब की भली प्रकार रक्षा हो सकती है। अपनी शारीरिक रक्षा करता हुआ ही धर्म के योग्य हो सकता है जैसे कि—

तथा—"सात्म्यतः कालभोजनमिति"

इस सूत्र का आशय यह है कि—नीरोगता ही प्रत्येक कार्य की साधक है। जब शरीर रोगग्रस्त हो जाता है, तब उस प्राणी के लिए अमृत भी विषरूप होता है। अतएव नीरोगता के रखने के लिये भोजन की ओर अत्यन्त ध्यान रखना चाहिए। प्रकृति के प्रतिकूल और विना भूख वा अजीर्ण अवस्था में भोजन करना रोगोत्पत्ति का मुख्य कारण होता है, इस लिये भोजन करते समय यह भली भांति ज्ञान होना चाहिए कि—मेरी प्रकृति अनुकूल कौन २ से पदार्थ हैं। कहीं ऐसे न होजाए कि—स्वल्प भोजन के लोभ में फंसकर चिरकाल पर्यन्त रोगों का मुंह देखना पड़े और पीछे उनके उपशम करने के लिए बहुत से योग्य और अयोग्य प्रतिकार करने पड़ें। भोजन के समय भोज्य पदार्थों के गुण और अपनी प्रकृति का भली भांति ज्ञान होना चाहिए। बहुत से अनभिज्ञ आत्माएँ अयोग्य ममत्व भाव के कारण रोगी को कह देते हैं कि—तुम कुछ थोड़ा भोजन खालो, ताकि शक्ति बनी रहे इत्यादि वाक्यों से उसे दुःखित करते हुए बलात्कार भोजन करवा ही देते हैं। अब विचार करना चाहिए कि-जब उनके विचारानुकूल उस रोगी को शक्ति मिलेगी तो क्या उसके रोग को शक्ति नहीं मिलेगी? जब रोग भी शक्ति-

शाली बनगया तब रोगी के लिये उसका कितना भयानक परिणाम होगा और रोग को उपशम करने के लिए कितना परिश्रम करना पड़ेगा? यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसके अतिरिक्त भोजन करते समय रसों में मूर्छित न होना चाहिए। कारण कि-स्तोकमात्र रस के वशीभूत होकर फिर परिमाण से अधिक भोजन किये जाने पर रोगों का मुंह देखना पड़ता है। फल रूप फिर आत्मा में असमाधि भी उत्पन्न होजाती है। इसलिये आत्मा को समाधि में रखने के लिये और धार्मिक क्रियाएँ पालन करने के लिये भोज्य पदार्थों में अवश्य विवेक होना चाहिए। कतिपय विद्वानों का मत है कि-जब भोजन करने का समय आए तब उदर (पेट) के तीन भाग कल्पना करलेने चाहिएं जैसेकि-एक भाग अन्न से भर लिया, फिर दूसरा भाग पानी से भरे जाने पर उदर का एक भाग खाली रखा जाना चाहिए, ताकि जब किसी कारण से उक्त दोनों भागों में विकार उत्पन्न होजाए तब तीसरा भाग उस विकार को शान्त करले। इसलिये परिमाण से अधिक भोजन न करना सदैव काल पथ्यरूप माना गया है।

"तथा अदेशकालचर्यापरिहार इति"

इस सूत्र का मन्तव्य यह है कि-देश और काल से प्रतिकूल होकर कदापि न चलना चाहिए। जैसेकि—जो पुरुष विना समय अर्थात् अकाल में गमनागमन करता है, वह अवश्यमेव लोगों की दृष्टि में शंका का पात्र बन जाता है। क्योंकि-श्रेष्ठ आत्माएँ कदापि असमय गमनागमन नहीं करतीं। इसी प्रकार देश विषय में भी जानना चाहिए। तथा यावन्मात्र शंका के स्थान हैं, उन स्थानों पर कदापि न जाना चाहिए। जैसेकि-जिस स्थान पर वेश्याओं के गृह हैं, द्यूत-स्थान मदिरास्थान, तथा मांसादि के विक्रय के स्थान। यदि उन स्थानों पर पुनः २ गमनागमन होगा तब सभ्य पुरुषों की दृष्टि में वह अवश्यमेव शंका का पात्र बन जायेगा। अतएव सामान्य गृहस्थधर्म के पालन करने वाले व्यक्ति को योग्य है कि-वह प्रत्येक कार्य सावधानता-पूर्वक करने की चेष्टा करे, कारण कि-जिस कार्य को करते समय अपने बल और निर्बलता की परीक्षा नहीं की जाती, उस कार्य की सफलता भी शंका-स्पद ही रहती है। अतएव सिद्ध हुआ कि-कार्य करते समय अपने बल और अबल का अवश्यमेव ध्यान होना चाहिए अर्थात् धर्म, अर्थ और काम जिस प्रकार निर्विघ्न पालन किये जासकें, उसी प्रकार वर्त्तना चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि-जो ज्ञानादि से वृद्ध हैं उनकी संगति में हि विशेषतया समय व्यतीत किया जाए। यद्यपि कतिपय शास्त्रज्ञों का मत है कि-"तथा-अतिसंगवर्जनमिति" किसी का भी अतिसंग न करना

चाहिए। क्योंकि-वे कहते हैं कि-अतिपरिचयादवज्ञा भवति विशिष्टेऽपि वस्तुनि प्रायः। लोकः प्रयागवासी कूपे स्नानं सदा कुरुते "१" इस श्लोक का यह भाव है कि-अतिपरिचय होने से जो विशिष्ट वस्तु होती है उस का भी अपमान होजाता है, जिस प्रकार प्रयाग तीर्थ में रहने वाले लोग कूप में ही सदा स्नान किया करते हैं। यह कथन सामान्यतया कथन किया गया है किन्तु ज्ञानादि से जो वृद्ध, हैं उन की सर्वैव काल संगति करनी चाहिए। हां यह ठीक है कि-व्यभिचारी पुरुष की संगति विशेषतया त्याज्य है। फिर धर्म-श्रवण में प्रयत्नशील होना चाहिए। असत्य हठ कदापि न हो, अपितु गुणों में पक्षपात होना चाहिए, नतु किसी व्यक्ति में। क्योंकि-जो पुरुष गुणों को छोड़कर किसी व्यक्ति गत पक्षपात में फंस जाता है, वह कभी भी जय प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव गुणों का पक्षपात सदा जय करने वाला होता है

ये सब क्रियाएँ तब ही होसकेंगी जब शारीरिक स्वस्थता बनी रहेगी, क्योंकि-यावन्मात्र सांसारिक वा धार्मिक क्रियाएँ हैं, वे सब शारीरिक दशा के ठीक रहने पर ही साधन की जासकती हैं। जैसे लिखा है कि—

वेग-व्यायाम-स्वाप-स्नान-भोजन-स्वच्छन्दवृत्तिकालान्नोपरुन्ध्यात्

(नीतिवाक्यामृतदिवसानुष्ठान समुद्देस २५ सू-१०॥)

भावार्थ—इस सूत्र का मन्तव्य यह है कि—भले ही सैंकड़ों कारण उपस्थित होजाएँ, परन्तु सूत्र-कथित ६ शिक्षाओं का समय अतिक्रम न करना चाहिए, जैसेकि—वेग—व्यायाम—स्वाप—स्नान—भोजन और स्वच्छन्दवृत्ति। कारण कि—यदि मलमूत्रादि के वेग को रोका जायगा तो शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होने की संभावना होगी। कहा भी गया है कि—"शुक्र-मलमूत्रमरुद्वेगसंरोधेऽश्मरीभगंदरगुल्मार्शसां हेतुः" शुक्र, मल, मूत्र, मरुद्वेग के निरोध करने से अस्मरी (बबासीर) भगंदर गुल्मार्शस आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यह बात स्वतः बुद्धिसिद्ध है कि—जब अशुद्ध मल मूत्र का वेग रुक जायगा, तब उस के दुर्गन्धमय परमाणु शरीर में अनेक व्यथाएँ उत्पन्न करदेंगे। जिस प्रकार मल मूत्र के वेग का निरोध करने से शारीरिक दशा बिगड़ जाती है, ठीक उसी प्रकार व्यायाम के न करने से स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। खूब पेट भर कर भोजन खालिया और सारा दिन शय्या पर लेटे लेटे व्यतीत कर दिया तो फिर भला रोग न उत्पन्न होगा तो और होगा भी क्या ? इस लिये व्यायाम की अत्यन्त आवश्यकता है।

"शरीरायासजननी क्रिया व्यायामः"

शरीर को कष्ट देने वाली क्रिया का नाम व्यायाम है।

"शस्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायामं सफलयेत्"

परन्तु वह शस्त्र (दण्डादि) और वाहन द्वारा सफल की जासकती है । परन्तु ।

"आदेहस्वेदं व्यायामकालमुशन्त्याचार्याः"

यावत् काल पर्यन्त शरीर पर प्रस्वेद न आजावे, तावत् काल पर्यन्त व्यायामाचार्य उसे व्यायाम नहीं कहते । सारांश यह निकला कि—जब शरीर प्रस्वेद युक्त होजाए तब ही उस क्रिया को व्यायाम क्रिया कहा जासकता है। तथा इस क्रिया के करने का मुख्य उद्देश्य क्या है ? अब इस विषय में आचार्य कहते हैं ।

"अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यं च"

विना व्यायाम किये अग्नि-दीपन, उत्साह और शरीर की दृढ़ता कहां से उपलब्ध होसकती है ? अर्थात् नहीं होसकती । उक्त तीनों कार्य व्यायाम-शील पुरुषों को सहज में प्राप्त होजाते हैं। जैसेकि—जब व्यायाम द्वारा शरीर प्रस्वेद युक्त होगया तब जठराग्नि प्रचंड होजाती है, जिस से भोजन के भस्म होने में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होता। दूसरे उस आत्मा का उत्साह भी औरों की अपेक्षा अत्यन्त बढ़ा हुआ होता है । वह अकस्मात् संकटों के आजाने से उत्साह-हीन नहीं होता। इस लिये व्यायामशील उत्साह युक्त माना गया है। तीसरे व्यायाम ठीक होने से शरीर का संगठन भी ठीक रहता है अर्थात् अंगोपांग की स्फुरणता और शरीर की पूर्णतया दृढ़ता ये सब बातें व्यायामशील पुरुषों को सहज में ही प्राप्त होसकती हैं। पूर्व काल में इस क्रिया का प्रचार राजों महाराजों तक था। औपपातिक सूत्र में लिखा है कि—जब श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी चंपा नगरी के बाहिर पूर्णभद्र उद्यान में पधारे तब कूणिक महाराज श्रीभगवान् के दर्शनार्थ जब जाने लगे तब पहिले उन्होंने "अट्टणसाला" व्यायामशाला में प्रवेश किया फिर नाना प्रकार की व्यायाम क्रियाओं से शरीर को श्रान्त किया । इस प्रकार व्यायामशाला का उस स्थान पर विशेषतया वर्णन किया गया है ।

द्वादश तपों में से बाहिर का कायक्लेश तप भी वास्तव में व्यायाम क्रिया का ही पोषक है, क्योंकि—वीरासनादि की जो क्रिया की जाती है वह शरीर को आयास (परिश्रम) कराने वाली हुआ करती है । अतएव निष्कर्ष यह निकला कि—बलवीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम करने का मुख्य साधन व्यायाम क्रिया ही है। इन्द्रिय, मन और मरुत् (वायु) का सूक्ष्मावस्था में होजाना ही स्वाप है । इस का तात्पर्य यह है कि—यावत् काल पर्यन्त परिश्रम करने के पश्चात् विधिपूर्वक शयन न किया जाये तब तक इंद्रिय और मन स्वस्थ नहीं रह सकता, नाँही फिर शरीर नीरोग रह

सकता है। साथ ही शास्त्रकार प्रतिपादन करते हैं कि—अति निद्रा और अति जागरणा ये दोनों ही रोगोत्पत्ति के कारण हैं, इसलिये प्रमाण से अधिक शयन करना भी हानिकारक है। यदि सर्वथा ही शयन न किया जाय तब भी रोगोत्पत्ति की संभावना होती है। शयनकाल के समय का अतिक्रम करना प्रायः हानिकारक बतलाया गया है।

इसके अतिरिक्त परिमाण से अधिक स्नान भी न करना चाहिए। क्योंकि—गृहस्थ के लिए सर्वथा स्नान का त्याग तो हो ही नहीं सकता। उस के लिये शास्त्रकार ने यह प्रतिपादन कर दिया है कि—गृहस्थ लोगों के स्नान-विधि का परिमाण अवश्य होना चाहिए। परिमाण से अधिक कोई भी पदार्थ आसेवन किया हुआ सुखप्रद नहीं होता। क्योंकि—स्नान का फल आत्मशुद्धि वा निर्वाण-प्राप्ति नहीं माना गया है।

"श्रमस्वेदालस्यविगमः स्नानस्य फलम्"

परिश्रम, स्वेद और आलस्य का दूर करना ही स्नान का फल है। अतएव विना परिमाण किये जल नहीं वर्त्तना चाहिए।

यद्यपि भोजन विषय भी अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है परन्तु "बुभुक्षाकालो भोजनकालः" जब भूख लगे वही वास्तव में भोजन काल माना गया है। कारण कि—असमय किया हुआ भोजन बलप्रद नहीं होगा, किन्तु रोग जनक हो जायगा। इसलिये सूत्रकार का मन्तव्य है कि—वह समय उल्लंघन न करना चाहिए। यदि जठराग्नि ठीक काम कर रही होगी तब वज्र समान कठिन भोजन भी अमृत के समान परिणत हो जायगा। कहा गया है कि—"विध्यातें वह्नौ किं नामेन्धनं कुर्यात्" जब अग्निशान्त (बुझगई) होगई तब उसमें डाला हुआ इन्धन क्या काम देगा? अर्थात् कुछ नहीं। इसी प्रकार जब जठराग्नि मंद पड़ जाय तो फिर खाया हुआ भोजन क्या कर सकता है? अर्थात् पूरे तौर हज़म नहीं होता।

जिस प्रकार उक्त क्रियाएँ काल की आवश्यकता रखती हैं उसी प्रकार स्वच्छन्दवृत्ति की भी आवश्यकता है क्योंकि—कहा गया है कि— "स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणां परमं रसायनम्" स्वच्छन्दवृत्ति पुरुषों के लिये परम रसायन है। परन्तु इस कथन का यह मन्तव्य नहीं है कि—तुम स्वच्छन्दाचारी बनजाओ। वास्तव में इस कथन का यह मन्तव्य है कि—अपने देव-गुरु और धर्म का विधिपूर्वक आसेवन करना चाहिए। जैसेकि—जो समय सामयिकादि क्रियाएँ करने का हो उसे कदापि उल्लंघन न करना चाहिए और स्वाध्याय काल प्रसन्नता पूर्वक स्वाध्याय करने में व्यतीत करना चाहिए। जब गृहस्थ अपने सामान्य धर्म में स्थित होगा तभी वह स्वकीय

विशेषधर्म में आनन्दपूर्वक आरोहण होसकता है। जिस प्रकार संतान का उत्पन्न करना ही धर्म नहीं है, परन्तु उसे विद्वान् और सदाचारी बनाना भी मुख्य प्रयोजन है, ठीक उसी प्रकार सामान्यधर्म से फिर विशेषधर्म में प्रविष्ट होना गृहस्थ का मुख्य प्रयोजन है। सामान्यधर्म का फल प्रायः इस लोक में ही उपलब्ध होजाता है। जैसेकि—जो गृहस्थ सामान्यधर्म को पालन करने वाले हैं, उनका आसन सदाचारियों की पंक्ति में आजाता है, सभ्य पुरुष उनको ऊंची दृष्टि से देखते हैं, नाना प्रकार की पवित्र सम्मतियों के समय उनका नाम लिया जाता है और संसार पक्ष में उन्हें योग्य पुरुष कहा जाता है। परन्तु जो विशेषधर्म है उसका परिणाम इस लोक और परलोक दोनों में सुखप्रद होजाता है। जैसेकि—इस लोक में वह पुरुष तो माननीय होता ही है, परन्तु परलोक में स्वर्ग मोक्ष के सुखों के अनुभव करने वाला होता है। क्योंकि—जब विशेषधर्म के आश्रित होगया तब उसका आत्मा पौद्गलिक सुख से निवृत्त होकर आत्मिक सुख की ओर झुकने लगता है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश सूर्य के प्रकाश के सन्मुख कदापि समानता धारण नहीं कर सकता, ठीक उसी प्रकार पौद्गलिक सुख आत्मिक सुखों के सामने तुलना नहीं रखते। जिस प्रकार सूर्य के सन्मुख दीपक निस्तेज होजाता है, उसी प्रकार पौद्गलिक सुख आत्मिक सुखों के सामने नाम मात्र होते हैं। अतएव आत्मिक सुखों के उत्पादन के लिये विशेष धर्म की प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है। जब सुवर्ण को शुद्ध करना चाहते हो, तब सामान्य अग्नि से कार्य-सिद्धि नहीं हो सकेगी; अपितु विशेष और प्रचण्ड अग्नि से कार्य-सिद्धि होगी। इसी प्रकार आत्म-शुद्धि के लिये विशेष क्रियाकलाप की आवश्यकता होती है। जब विशेष क्रियाओं से आत्म-शुद्धि हो जाती है तब आत्मा कर्मबंधन से विमुक्त हो कर निर्वाण पद की प्राप्ति कर लेता है, जिसके सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, ईश्वर परमात्मा, पारंगत, अनन्तशक्ति, इत्यादि अनेक शुभ नाम प्रसिद्ध होरहे हैं। अतएव सामान्यधर्म को ठीक पालन करते हुए फिर विशेषधर्म की ओर झुक जाना चाहिए। ताकि आत्मा सादि अनन्त पद को प्राप्त हो सके और अन्य आत्माएं भी उस पवित्र आत्मा का अनुकरण करके उक्त पद पर आरूढ़ हों।

इति श्रीजैनतत्त्वकलिकाविकासे सामान्यगृहस्थधर्मस्वरूपवर्णनात्मिका चतुर्थी कलिका समाप्ता।

अथ पंचमी कलिका ।

चतुर्थ कलिका में गृहस्थ के सामान्यधर्मों का संक्षेप से विवरण दिया गया है । अब विशेषधर्मों का संक्षेप से वर्णन किया जाता है ।

पूर्व प्रकरण में सामान्यधर्मों का वर्णन करते हुए गृहस्थ की विद्या अध्ययन का वर्णन नहीं किया । क्योंकि-लौकिक विषय होने से ही विद्याध्ययन का क्रम समयानुसार वा देशानुसार सामान्य धर्म में ही गर्भित होजाता है । सो जब गृहस्थ सदाचारी और पूर्ण विद्वान् होकर विशेषधर्मों का अवलम्बन करेगा तब उसका आत्मा धर्म-पथ से कदापि स्खलित नहीं होगा । अतएव विद्या-अध्ययन की अत्यन्त आवश्यकता है । जिससे कि—शीघ्र ही बोध प्राप्त होसकता है ।

शास्त्रकारों के मत में दो कारणों से धर्म-प्राप्ति होसकती है । जैसे कि—

"दोहिं ठाणेहिं आया केवलिपण्णत्तं धम्मं लब्भेज्जा सवणयाए सोच्चाचेव अभिसमेच्चाचेव"

दो कारणों से आत्मा केवली भगवान् द्वारा भाषण किये हुए धर्म को प्राप्त कर सकता है । जैसेकि—सुनकर १ और उस पर अनुभव द्वारा विचार कर २ । सुनकर यदि उस पर विचार नहीं किया तब भी कार्य पूर्णतया सिद्ध नहीं होसकता, और यदि श्रवण करने का संयोग नहीं मिलता तब भी कार्य सिद्ध नहीं होसकता । अतएव जब दोनों कारण ठीक मिलेंगे तब ही धर्म-प्राप्ति होसकेगी । अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि-धर्म किस से श्रवण करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहा है कि-मुनि और सद्-गृहस्थ (श्रावक) ये दोनों ही उपदेश देने के अधिकारी हैं । "मुनि" शब्द में आर्यायें और सद्गृहस्थ शब्द में श्राविका (सद्गृहस्थणी) गृहीत हैं अर्थात् जिस प्रकार मुनि उपदेश कर सकता है, उसी प्रकार उपासक वा उपासिका भी धर्मोपदेश करने के अधिकारी हैं । परन्तु इस बात का अवश्य ध्यान करलेना चाहिए कि—जिस प्रकार मुनि अपने गुणों में स्थित होकर ही उपदेश करने का अधिकार रखता है ठीक उसी प्रकार उपासक वा उपासिकाएँ भी अपने यथार्थ गुणों में स्थित होकर ही उपदेश करने के अधिकारी हैं । कारण कि-उसी व्यक्ति का उपदेश प्रायः शीघ्र सर्वमान्य होता है, जो स्वयमेव निज उपदेश के अनुसार आचरण करता है । अतएव उपदेश-दाताओं को योग्य है कि—जिस बात का उपदेश करना हो उस विषय में पहिले आप तन्मय होजावें, विद्या और सदाचार से आत्मा को विभूषित करते रहें, लोक-अपवाद और संसारचक्र के परिभ्रमण से भयभीत बने रहें आत्मा को सदैव काल कल्याण

मार्ग में स्थित रक्खें और प्राणी मात्र के हित करने में उद्यत रहें। जब इस प्रकार के पवित्र आत्माओं से धर्म-श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त होजाएगा तब शीघ्र कल्याण होजाएगा।

जब मुनि वा उपासक के पास धर्म सुनने की जिज्ञासा से श्रोता उपस्थित हो, तब वे उसकी योग्यतानुसार धर्म कथा सुनाएं। शास्त्रकारों ने चार प्रकार की विकथा वर्णन की हैं। जैसेकि-स्त्रीकथा, भातकथा, राजकथा और देशकथा। किन्तु इन कथाओं से आत्मिक लाभ नहीं होसकता धर्मकथा के कथन करने का मुख्य प्रयोजन यही है कि-श्रोताजन को धर्म से प्रेम और संसार से निवृत्ति हो तथा उसके श्रवण करने से आत्मा निजस्वरूप में प्रविष्ट होजावे, मोहनीय कर्म क्षय वा क्षयोपशम भाव में आजावे, आत्मा संवेग और वैराग्य में रंगा जावे। जब आत्मा वैराग्य दशा में आजाता है, तब वह पदार्थों के तत्त्व के जानने की खोज में लगजाता है जिस से उस को सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति होजाती है। „ "तत्त्वश्रद्धानं सम्यग् दर्शनम्" तत्त्वों के ठीक स्वरूप को जानने का ही नाम सम्यग्दर्शन है। उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वें अध्ययन में लिखा है कि—

ना दंसणिस्स नाणं नाणेण विणान हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

भावार्थ—जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तब तक ज्ञान भी प्राप्त नहीं होसकता। ज्ञान के विना चारित्र के गुण भी उत्पन्न नहीं होसकते अगुणी का मोक्ष नहीं है और विना मोक्ष से निर्वाणपद की प्राप्ति नहीं होसकती। अतएव सब से प्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए

श्रमण महात्मा के प्रताप से सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति होजाने पर प्रत्येक भव्य आत्मा श्रावक के १२ व्रतों (नियम) के धारण करने योग्य होजाता है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सम्बर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन नव तत्वों के स्वरूप को ठीक जानने का नाम सम्यक्त्व है तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल जो उक्त ६ द्रव्यों के स्वरूप को भली प्रकार जानता है उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—सम्यक्त्व रत्न प्राप्त होने के पीछे उस सम्यग्दृष्टि आत्मा के कौन २ लक्षण प्रतीत होते हैं? जिन से जाना जाए कि इस पवित्र आत्मा को उक्त रत्न की प्राप्ति हो चुकी है। इस प्रश्न का उत्तर यह है जब किसी भव्य आत्मा को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होजाती है तब उस के अनंतानुबंधि क्रोध, अनंतानुबंधि मान, अनंतानुबंधि माया और अनंतानुबन्धि

लोभ तथा सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय ये सातों ही प्रकृति क्षयोपशम भाव में होजाती हैं। सारांश यह है कि—कुछ तो उक्त प्रकृतियां क्षायिक होजाती हैं और कुछ उपशम होजाती हैं। जब सातों प्रकृतियां क्षयोपशम भाव में आजाती हैं तब उस आत्मा को सम्यग् दर्शन प्राप्त होजाता है। जिसके फलरूप उसमें निम्न लिखित पांच लक्षण प्रतीत होने लग जाते हैं।

प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तदिति।

धर्मविन्दु अ. ३ सू. ॥१०॥

वृत्ति—प्रशमः-स्वभावत एव क्रोधादिक्रूरकषायविषविकारकटुफलावलोकनेन वा तन्निरोधः। संवेगो-निर्वाणाभिलाषः। निर्वेदो-भवाद्वुद्वेजनम्। अनुकंपा-दुःखितसत्वविषया कृपा। आस्तिक्यं-तदेव सत्यं निःशंकं यज्जिनैः प्रवेदितमिति प्रतिपत्तिलक्षणं ततः प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकंपास्तिक्यानामभिव्यक्तिरुन्मीलनं लक्षणं स्वरूपसत्ताख्यापकं यस्य तत्तथा तदिति सम्यग् दर्शनम्॥

भावार्थ—इस सूत्र में सम्यक्त्वी आत्मा के पांच लक्षण वर्णन किये गए हैं। जैसेकि—जिसने स्वभाव से ही क्रोधादि क्रूर कषायरूप विष के विकार के कटुक फलों को अवलोकन कर उक्त कषाय का निरोध कर लिया है उसे प्रशम कहते हैं १। जिस को निर्वाण पद की अभिलाषा है उसका नाम संवेग है २। संसार के जन्म और मरण के स्वरूप को जानकर जिसका आत्मा संसार चक्र से भयभीत हो रहा है उस का नाम निर्वेद है ३। तथा दुःखित प्राणियों पर द्रव्य और भाव से दयाभाव करना उसे अनुकंपा कहते हैं ४। एवं श्री जिनेन्द्र भगवान् ने जो पदार्थों का सत्य स्वरूप प्रतिपादन किया है वह निःशंक है, क्योंकि—श्री जिनेन्द्र भगवान् रागद्वेष से रहित, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, जीवन्मुक्त हैं, उन्होंने जो कुछ पदार्थों का स्वरूप प्रतिपादन किया है, वह सर्वथा पक्षपात से रहित और निस्सन्देह है। जिसके इस प्रकार के भाव वर्त्त रहे हैं, उस का नाम आस्तिकता है। सो जिस आत्मा के प्रशम, संवेग, निर्वेद अनुकंपा और आस्तिक भाव भली प्रकार हृदय में स्थित हों उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आत्मा में जब आस्तिक भाव भली प्रकार अंकित होजाएं तब शेष गुण स्वयमेव आजाते हैं। क्योंकि-समतापूर्वक विचार कर देखा जाय तो आस्तिक और नास्तिक ये दोनों मत जीवों के हैं, इन्ही के भेद और उपभेद विस्तार पाए हुए हैं। नास्तिक लोगों का मुख्योद्देश्य ऐहलौकिक सुखों का ही अनुभव करना सिद्ध है। क्योंकि—वे अर्थ और काम की ही पूर्णतया उपासना करने वाले होते हैं क्योंकि—

जब उनके मत में आत्मा का ही अभाव माना जाता है तब पुण्य, पाप, आश्रव, सम्बर, बंध, मोक्ष, लोक, परलोक, जगत् और ईश्वर इत्यादि सब बातों का अभाव होजाता है, जिस कारण वे अर्थ और काम के ही उपासक होजाते हैं। आस्तिक लोगों का मुख्योद्देश्य निर्वाणपद की प्राप्ति करना है। क्योंकि—उनके सिद्धान्तानुकूल उक्त तत्त्वों का अस्तिभाव सदा बना रहता है। वास्तव में देखा जाय तो नास्तिक मत की युक्ति आस्तिक पक्ष की युक्ति को सहन नहीं कर सकती। इसी वास्ते आस्तिकों के चार पुरुषार्थ प्रतिपादन किये गए हैं। जैसे—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जब तक वे संसारावस्था में रहते हैं, तब तक वे धर्म अर्थ और काम के द्वारा अपना निर्वाह करते रहते हैं, परन्तु जब वे संसारावस्था से पृथक् होते हैं तब वे धर्म और मोक्ष के ही उपासक बन जाते हैं। जब वे संसारावस्था में रहते हैं तब वे विशेषधर्म के आश्रित होजाते हैं। जैसेकि—वे सम्यक्त्वपूर्वक श्रावक के १२ व्रतों को निरतिचार पालन करते रहते हैं। यदि उन आत्माओं को विशेष समय उपलब्ध होता है, तब फिर वे श्रावक की ११ पडिमाएँ (प्रतिज्ञाएँ) धारण करलेते हैं जो कि—एक प्रकार से जैन-वानप्रस्थ के नियम रूप हैं। सम्यक्त्व के पांच अतिचार वर्णन किये गए हैं। सो उन दोषों से रहित होकर ही सम्यक्त्व को शुद्ध पालन करना चाहिए, जैसेकि—

शंकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचारा इति।

(धर्मविन्दु अ. २ सू. १२)

वृत्ति—इह शंका कांक्षा विचिकित्सा च ज्ञानाद्याचारकथनमिति सूत्रव्याख्या नोक्तलक्षणा एव। अन्यदृष्टीनां सर्वज्ञप्रणीतदर्शनव्यतिरिक्तानां शाक्यकपिलकणादाक्षपादादिमतवर्त्तिनां पाखंडिनां प्रशंसास्तवौ। तत्र "पुण्यभाज एते" सुलब्धमेषाञ्जन्म' दयालव एते, इत्यादि प्रशंसा। संस्तवश्चेह संवासजनितः परिचयः वसनभोजनदानालापादिलक्षणः परिगृह्यते न स्तवरूपः। तथा च लोके प्रतीत एव संपूर्वः स्तौतिः परिचये॥ असंस्तुतेषु प्रसभं भयेष्वित्यादाविवेति। ततः शंका च कांक्षा च विचिकित्सा च अन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवौ चेति समासः। किमित्याह सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दर्शनस्य अतिचारा विराधनाप्रकाराः संपद्यंते शुद्धतत्त्वश्रद्धानबाधाविधायित्वादिति॥ १२॥

भावार्थ—इस सूत्र में यह कथन किया गया है कि—सम्यग्दृष्टि आत्मा को पांच अतिचार लगते हैं सो वे दूर करने चाहिएं। जैसेकि—

१ शंका—जिन वाणी में कदापि शंका उत्पन्न नहीं करनी चाहिए कारण कि—सर्वज्ञोक्त वाणी में असत्य का लेशमात्र भी नहीं होता। यदि भूगोल, खगोल, आयु तथा अवगाहन विषय आदि में किसी प्रकार की शंका

उत्पन्न हो जावे तो शास्त्रों के तत्त्व को जानने वाले गीतार्थ गुरुओं से निवृत्त कर लेनी चाहिए। अनन्त अर्थ वाले आगम किस प्रकार सन्देह युक्त हो सकते हैं? शास्त्रों में जो वर्णन आए हुए हैं वे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लेकर ही वर्णित हैं। जब नय और निक्षेप का पूर्णतया स्वरूप अन्तःकरण में बैठ जाए तब किसी प्रकार की भी शंका उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि किसी प्रकार से भी संशय दूर न हो सके तब मन में यह विश्वास कर लेना चाहिए कि—श्रीजिनेन्द्र भगवान् ने पदार्थों का जो स्वरूप वर्णन किया है वह निस्सन्देह यथार्थ है। क्योंकि—गीतार्थ गुरु का न मिलना बुद्धि का निर्बल होना अथवा लिपि में कोई दोष रह जाना इत्यादि कई कारण हो सकते हैं, जिस से तत्काल संशय दूर नहीं हो सकता। जब सूत्र लिपिबद्ध हुए थे उस समय शास्त्रों का ज्ञान विस्मृत होने लग गया था, सम्भव है कि—कोई पाठ लिपि-बद्ध करते समय उन आचार्यों की स्मृति में अन्य प्रकार से रह गया हो। इसलिये सम्यक्त्व का पहला शङ्का रूप दोष जो कथन किया गया है उस को दूर करना चाहिए।

२ आकांक्षा अतिचार-पूर्वपुण्योदय से यदि कोई अधर्मी धनपात्र होकर सुखमय जीवन व्यतीत कर रहा है और लोकदृष्टि में माननीय गिना जाता है तो उसको देख कर इस प्रकार के संकल्प नहीं उत्पन्न करने चाहिएं। जैसेकि—जो धर्म नहीं करते उन का जीवन अच्छा व्यतीत होता रहता है परन्तु हम जो धर्म के करने वाले हैं सदा दुःखों से पीड़ित रहते हैं अतएव धर्म करने से कोई भी लाभ नहीं, परमतावलम्बियों का धर्म ही सर्वोत्कृष्ट है इत्यादि। इस प्रकार के भाव कदापि उत्पन्न न करने चाहिएं। कारण कि—प्रत्येक आत्मा अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फलों को अनुभव करता रहता है तो फिर इस में धर्म का क्या दोष? यदि किसी व्यक्ति ने पूर्व जन्म में धर्म किया ही नहीं तो फिर सुख फल की आशा किस प्रकार की जा सकती है? अर्थात् कदापि नहीं। अतएव कर्मों के सिद्धान्त को भली प्रकार जानते हुए धर्म से विमुख न होना चाहिए और नाँही पाप कृत्यों को अन्तःकरण में स्थान देना चाहिए। विदित हो कि—धर्म आत्म-विकाश करने वाला है। जो प्राणी सुख वा दुःख का अनुभव करते हैं वे सर्व पूर्वोपार्जित पुण्य और पाप कर्मों के फल हैं जिस मत वाले को तुम सुखी देखते हो, क्या उस मतमें दुःखियों का निवास नहीं है? क्या जैन-मत वाले सर्व दुःखी हैं? क्या अधर्मात्मा सब सुखी हैं? कदापि नहीं; यह कोई सृष्टि-बद्ध नियम नहीं है। केवल अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फल हैं। इस प्रकार के विचारों से सम्यक्त्व का आकांक्षा नामक अतिचार दूर कर देना चाहिए।

३ विचिकित्सा अतिचार-पुण्य और पाप कर्मों के फल विषय सन्देह न करना चाहिए। जैसे कि—जो धर्म-क्रियाएँ मैं करता हूं उसका फल होगा किंवा नहीं? कारण कि—जो कर्म किया गया है उसका फल तो अवश्यमेव भोगना पड़ेगा। इस लिये धर्म के कृत्य विषय सन्देह न करना चाहिए। इसी तरह जैन-भिक्षु को देख कर घृणा उत्पन्न नहीं करनी चाहिए जैसे कि—यह लोग स्नानादि क्रियाएं नहीं करते अतएव ये निंद्य तथा अदर्शनीय हैं इत्यादि भाव उत्पन्न न करने चाहिएं, क्योंकि—जैन-शास्त्र जल-स्नान से शारीरिक शुद्धि मानता है, नतु आत्म-शुद्धि। जब जैन-भिक्षुओं ने विषयविकारादि का सर्वथा परित्याग किया हुआ है तब उनको स्नानादि क्रियाओं के करने की क्या आवश्यकता है? जब अशुचि आदि का काम पड़ता है तब वे जलादि से शुचि करते ही हैं। इसलिये मुनियों को देख कर घृणा उत्पन्न करने की जगह अन्तःकरण से यह विचार होना चाहिए कि-हम लोग ग्रीष्म ऋतु में स्नानादि क्रियाओं के किये विना नहीं रह सकते, मुनिवर धन्य हैं, जो गर्म ऋतु में भी अपने शारीरिक संस्कार को छोड़ कर मन पर विजय प्राप्त कर शान्त मुद्रा धारण किये हुए हैं।

४ मिथ्यादृष्टिप्रशंसाचार-जो आत्मा नास्तिक हैं, सर्वज्ञोक्त वाणी को सत्य रूप नहीं मानते, सदैव काल विषयानंदी बन रहे हैं, उनकी प्रशंसा न करनी चाहिए। क्योंकि-उनकी प्रशंसा करने से बहुत से भद्र प्राणी धर्म कृत्यों से विमुख होजायेंगे। एवं जो जिनाज्ञा से बाहिर होकर पाखंड रूप बहुतसा क्रियाकलाप करते हों वे भी प्रशंसा के योग्य नहीं हैं॥

५ परपाखंडी संस्तव-जो आत्मा जिनोक्त वाणी को नहीं मानते, मिथ्यात्व क्रिया में निमग्न हो रहे हैं तथा भद्र लोगों को धर्म पथ से विचलित करके आनन्द मानते हैं, जूवा, मांस, मदिरापान, आखेटकर्म, वेश्या परस्त्रीगमन, चोरी आदि कुकृत्यों में लगे हुए हैं, उनका संग या विशेष परिचय प्राप्त नहीं करना चाहिए। अन्यथा धर्म में ग्लानि उत्पन्न होजायगी और उनके कुसंग के प्रभाव से धर्म में अरुचि हो जायगी। शास्त्र-कारों ने आपत् धर्म के लिए कुछ आगार (संकेत) भी प्रतिपादन कर दिये हैं, जैसेकि—

रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरु-निग्गहेणं वित्तिकंतारेणं।

उपासकदशांग सूत्र अ० ॥१॥

भावार्थ—१ रायाभिओगेणं—राजा की आज्ञा से सम्यक्त्वधर्म से प्रतिकूल कोई कार्य कभी करना पड़ जाय तो सम्यक्त्व में दूषण नहीं लगेगा कारण कि—राजाज्ञा का पालन करना एक प्रकार का आपत् धर्म माना जाता

है। इसी प्रकार प्रत्येक आगार में यही बात जान लेनी चाहिए।

२ गणाभिओगेणं—गण-पंचायत की आज्ञा से कोई अनुचित काम करना पड़ जाय तो वह भी सम्यक्त्व को दूषित नहीं करता है।

३ बलाभिओगेणं—यदि कोई बलवान् अपने बल के जोर से कोई अनुचित काम करवाए तो वह भी सम्यक्त्व में दूषण नहीं होगा।

४ देवाभिओगेणं-किसी देव के कारण से कोई काम करना पड़ जाए तो तब भी सम्यक्त्व में दूषण नहीं होगा।

५ गुरुनिग्गहेणं—माता पिता या गुरु ने किसी अयोग्य काम के करवाने के लिये हठ कर लिया हो और वह उनकी आज्ञानुसार करना पड़ जाए तब भी सम्यक्त्व में दूषण नहीं होगा।

६ वित्तिकंतारेणं—अकालादि (दुर्भिक्षादि) के समय आजीविका के लिये कोई धर्म-विरुद्ध काम करना पड़ जाए तब भी सम्यक्त्व में दूषण नहीं लगेगा। क्योंकि-"वित्तिकंतारेणं-"त्ति वृत्तिः—जिविका तस्याः कान्तारम् अरण्यं तदिव कान्तारं क्षेत्रं कालो वा वृत्तिकान्तारं निर्वाहाभाव इत्यर्थः—इस कथन का आशय यह है कि-जब किसी प्रकार से भी निर्वाह न चल सकता हो तब उस समय कोई अनुचित काम करना पड़ जाए तो सम्यक्त्व रत्न निर्दोष ही रहेगा।

उपरोक्त सब आगार (संकेत) आपत्तिकाल के लिये ही प्रतिपादन किये गए हैं। इस प्रकार जब सम्यक्त्व रत्न ठीक प्रकार से धारण किया जाए तब श्रमणोपासक के जो १२ व्रत कथन किये गए हैं, उनको यथाशक्ति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को देख कर धारण करना चाहिए। अतएव अब १२ वृतों का स्वरूप संक्षेप से लिखा जाता है।

थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं

ठाणांगसूत्रस्थान ५ उद्देश ॥ १ ॥

इस सूत्र का यह आशय है कि-कर्मों के कारण संसार के चक्र में दो प्रकार के जीव वर्णन किए गये हैं। जैसेकि-सूक्ष्म १ और स्थूल २। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि स्थावर जीव सूक्ष्म कथन किये गए हैं। जिन का गृहस्थ से सर्वथा त्याग नहीं हो सकता तदपि उन का विवेक अवश्य होना चाहिए। अतएव शास्त्रकार ने पहिले ही 'स्थूल' शब्द ग्रहण किया है। यद्यपि-पांच स्थावरों के भी शास्त्रकारों ने सूक्ष्म और बादर (स्थूल) दो भेद कर दिये हैं तथापि त्रस आत्माओं की अपेक्षा वे सर्व सूक्ष्म ही कहे जाते हैं। सो इस स्थान पर स्थूल शब्द का अर्थ त्रस जीवों से सम्बन्ध रखता है। त्रस आत्मा चार प्रकार से प्रतिपादन किए गए हैं, जैसेकि—द्वींद्रिय जीव

दो इंद्रियों वाले जिनके केवल शरीर और मुख ही होता है यथा शंख, जोंक, गंडोयादि। त्रीन्द्रिय जीव, जैसे-जूं लीख, कीड़ी आदि। चतुरिन्द्रिय जीव जैसे-मक्खी, मशक (मच्छर) आदि। पञ्चेन्द्रिय जीव जैसे-नारकीय १ तिर्यग् २ मनुष्य और देवता: इन के स्पर्श, जिह्वा, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियां होती हैं। इन सब जीवों को जानकर और देख कर जो जीव निरपराध हैं उनके मारने का अवश्य त्याग होना चाहिए, किन्तु जो सापराध हैं उनके सम्बन्ध में कोई त्याग नहीं है। जैसेकि—कोई दुष्ट किसी श्रावक की स्त्री से व्यभिचार करने की चेष्टा करता है अथवा उसका धन लूटने के ध्यान में लगा हुआ है या मारने के लिए कई प्रकार के उपाय सोच रहा है तो क्या वह श्रावक अपनी रक्षा के लिए उपाय न करे? अर्थात् अवश्य करे, क्योंकि-यदि मौन धारण किया जाएगा तो संसार में व्यभिचार विशेष विस्तृत हो जाएगा। अतएव गृहस्थ को निरपराध जीवों का ही त्याग हो सकता है न कि सापराध का भी। यदि जैन धर्म के पालन करने वाला कोई राजा श्रावक के १२ व्रत धारण कर ले तो क्या वह अपराधियों को दंडित नहीं करेगा? अवश्य करेगा। इस कथन से यह भली भांति सिद्ध हो रहा है कि-जैन-धर्म न्याय की पूर्ण शिक्षा देता है। उसका मन्तव्य है कि-निरपराधी जीवों को हास्य, लोभ, धर्म, अर्थ, काम, मूढ़ता, दर्प, क्रोध, मोह, अज्ञानता इत्यादि कारणों से न मारा जाए और जो सापराध हैं उनको उनके कर्मानुसार शिक्षित किया जाय यह गृहस्थ का न्याय धर्म है। गृहस्थ को इस प्रकार का नियम नहीं हो सकता है कि-वह अपराधी को भी शिक्षित न करे। यदि कोई कहे कि-जब घर के सब काम काज करने पड़ते हैं तथा दुकान पर अनेक प्रकार के पदार्थों का क्रय विक्रय होता है तो क्या उस समय कोई निरपराधी जीव नहीं मारा जाता? जब उनका मरना सिद्ध है तो फिर 'निरपराधी जीव को नहीं मारना' यह नियम किस प्रकार पल सकता है? इस शंका का उत्तर यह है कि-वादी ने जो उक्त प्रश्न किया है वह अक्षर २ सत्य है किन्तु जिस आत्मा ने अहिंसाव्रत धारण कर लिया है उसको प्रत्येक कार्य करते समय यत्न होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि-वह विना देखे कोई भी कार्य न करे। घर के वा दुकान के यावन्मात्र कार्य हैं वह विना देखे न करने चाहिएं और नांही खाने योग्य पदार्थ विना देखे खाने चाहिएं एवं यावन्मात्र गृह सम्बन्धी कार्य हैं उनको विना यत्न कभी न करना चाहिए। यदि फिर भी जीव-हिंसा हो जाय तो श्रावक के त्याग में दोष नहीं है। क्योंकि उस ने पहिले ही इस बात की प्रतिज्ञा करली है कि-जान कर देख कर वा मारने का संकल्प कर निरपराधी जीव को नहीं मारूंगा। शास्त्र में लिखा है जैसेकि--

समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव तसपाणसमारंभे पच्चक्खाए भवति पुढविसमारंभे अपच्चक्खाए भवइ से य पुढविं खणमाणेऽएणयरं तसं पाणं विहिंसेज्जा से णं भंते ! तं वयं अतिचरति ? णो तिणट्ठे समट्ठे नो खलु से तस्स अतिवायाए आउट्टति । समणोवासयस्स णं भंते ! पुव्वामेव वणस्सइ-समारंभे पच्चक्खाए से य पुढविं खणमाणे अन्नयरस्स रुक्खस्स मूलं छिंदेज्जा से णं भंते ! तं वयं अतिचरति ! णो तिणट्ठे समट्ठे नो खलु तस्स अइवायाए आउट्टति ।

भगवतीसूत्रशतक ७ उद्देश १ सू० ॥ २६३ ॥

वृत्ति—श्रमणोपासकाधिकारादेव "समणोवासगे" त्यादि प्रकरणम्, तत्र च "तसपाणसमारंभे" त्ति त्रसवधः नोखलु से तस्स अतिवायाए आउट्टइ" त्ति न खलु असौ "तस्य" त्रसप्राणस्य "अतिपाताय" वधाय "आ-वर्त्तते" प्रवर्त्तते इति "न संकल्पवधोऽसौ" सङ्कल्पवधादेव च निवृत्तोऽसौ, न चैष तस्य संपन्न इति नासावतिचरति व्रतम्"

भावार्थ—भगवान् गौतम स्वामी श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से प्रश्न करते हैं कि—हे भगवन् ! किसी श्रमणोपासक ने त्रस जीवों के समारंभ का पहिले ही त्याग किया हुआ है, किन्तु पृथ्वीकाय के जीवों के समारंभ का उसे त्याग नहीं है । यदि पृथ्वी को खनता (खोदता) हुआ वह किसी अन्य त्रस प्राणी की हिंसा करदे तो क्या हे भगवन् ! वह अपने ग्रहण किये हुए व्रत को अतिक्रम करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं कि-हे गौतम ! वह अपने ग्रहण किये हुए व्रत का अतिक्रम नहीं करता । क्योंकि-उस का संकल्प त्रस जीव के मारने का नहीं है । अतएव वह अपने व्रत में दृढ़ है । पुनः प्रश्न हुआ कि हे भगवन् ! किसी श्रमणोपासक ने वनस्पतिकाय के समारंभ करने का परित्याग कर दिया, यदि फिर वह पृथ्वी को खनता हुआ किसी अन्य वृक्ष के मूल को छेदन करदे तो क्या वह अपने ग्रहण किये हुए व्रत का अतिक्रम कर देता है अर्थात् क्या इस प्रकार करने से उसका नियम टूट जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् प्रतिपादन करते हैं कि-हे गौतम ! वह पुरुष अपने ग्रहण किये हुए नियम को उल्लंघन नहीं करता । कारण कि-उस का संकल्प वनस्पति-छेदन का नहीं है ।

इसी प्रकार किसी समय मारने का संकल्प तो नहीं होता, परन्तु मारना पड़ जाता है । जैसेकि—कल्पना करो कोई बालक सम्यक्तया विद्याऽध्ययन नहीं करता तब उसके माता पिता तथा अध्यापकादि उसको शिक्षा के लिये मारते भी हैं । इस प्रकार की क्रियाओं के करने से उनके व्रत में दोष नहीं है

क्योंकि—उनके संकल्प उसको शिक्षित करने के ही होते हैं नतु मारने के। एवं कोई वैद्य या डाक्टर किसी रोगी के अंगोपांग छेदन करता हो तो उसके व्रत में दोष नहीं है। क्योंकि-उसके भाव उस रोगी को रोग से विमुक्त करने के हैं नतु मारने के। ऐसे अनेक दृष्टान्त विद्यमान हैं, जिनका सारांश भावों पर अवलम्बित है। सो गृहस्थ ने जो जानकर, देखकर वा संकल्प कर निरपराधी जीव के मारने का परित्याग किया हुआ है, वह अपने नियम को विवेक तथा सावधानता पूर्वक सुख से पालन कर सकता है। हां यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि-उक्त नियम वाले गृहस्थ को प्रत्येक कार्य करते समय विवेक और यत्न रखना होगा।

इस नियम को शुद्ध पालन करने के लिये श्रीभगवान् ने इस व्रत के पांच अतिचार प्रतिपादन किए हैं। जैसेकि—

तयाणन्तरं चणं थूलगस्स पाणाइवाय वेरमणस्स समणोवासए णं पञ्च अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—बंधे वहे छविच्छेए अइभारे भत्तपाणवोछिए ॥ १ ॥

(उपासकदशाङ्गसूत्र अ० १॥)

भावार्थ—जब श्रमणोपासक सम्यक्त्व रत्न के पांच मुख्य अतिचारों को सम्यक्तया दूर कर दे तब उसको चाहिए कि-स्थूल प्राणातिपात वेरमण जो प्रथम अनुव्रत धारण किया हुआ है, उसके भी पांच अतिचार समझे किन्तु उन पर आचरण न करे। क्योंकि—आचरण करने से उक्त नियम भंग होजाता है। वे अतिचार निम्न प्रकार वर्णन किये गये हैं। जैसे--

बन्धअतिचार--पशु वा मनुष्यादि को निर्दयता से बांधने को बन्धअतिचार कहते हैं। उस का आचरण करने से पशु आदि को परम दुःख पूर्वक समय व्यतीत करना पड़ता है और बान्धने वाले का प्रथम व्रत भंग हो जाता है। अतः यदि किसी कारण से किसी जीव को बांधना भी पड़ जाय तो उसको कठिन बंधनों से न बांधना चाहिये। जैसे कि–व्यवहार पक्ष में गो, वृषभ, अश्व, गज आदि पशु बांधने पड़ते हैं, परन्तु बंधन करते समय कठिन बंधन का अवश्यमेव ध्यान रखना चाहिये। ताकि-ऐसा न हो इस अनाथ पशु आदि के प्राण ही

१ इह खलु आणंदाइ समणे भगवं महावीरे आणंदं समणोवासगं एवं वयासी--एवं खलु आणंदा ! समणोवासए णं अभिगयजीवाजीवेणं जावअणइक्कमणिज्जेणं सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा- संका कङ्खा विइगिच्छा परपासंडपसंसा परपासंडसंथवे ॥ यह पाठ उपासकदशाङ्गसूत्र के प्रथम अध्ययन में आता है। इसके आगे व्रतों के अतिचारों का वर्णन कियागया है। इस सूत्र का अर्थ प्राग्वत् ही है ॥

विमुक्त होजाएं वा उसके श्वास का निरोध होजाए या वह सुखपूर्वक चल फिर न सके। एवं जो केवल दृष्टिराग के वश होते हुए शुक (तोते) आदि पक्षियों को आयुभर के लिये कारावास में बन्द कर देते हैं वे व्यक्ति भी अनुचित क्रियाएं ही करते हैं। क्योंकि-उस पक्षिवर्ग ने उन बांधने वालों का कोई भी अपराध नहीं किया था, निरपराध ही उसको बन्धन में जकड़ दिया। अतएव इस प्रकार का अभ्यास न करना चाहिए। अन्यथा पाप का बोझा सिर चढ़ाना पड़ेगा।

२ वधअतिचार—निर्दयतापूर्वक पशु वा मनुष्यादि के मारने को वध-अतिचार कथन करते हैं। उसका आचरण करना निषिद्ध है, क्योंकि-निर्दयता-पूर्वक और क्रोध के वशीभूत होकर जो मारना है वह प्रथम व्रत को कलंकित करता है। अतएव यदि उक्त क्रियाओं के करने का अवसर प्राप्त भी हो जाए तो निर्दयतापूर्वक बर्ताव न होना चाहिए। उक्त क्रियाएं केवल शिक्षा पर ही निर्भर हों।

३ छविच्छेदातिचार—पशु वा मनुष्यादि के अंगोपांग का छेदन करना छविच्छेदातिचार कहा है। उसका सर्वथा परित्याग करदेना चाहिए। क्योंकि--इस प्रकार करने से वे पशु आदि वर्ग अंगहीन होजाते हैं और जो अंगोपांग के छेदन करने वाला होता है, उसके भाव निर्दयता की ओर अधिकतर झुक जाते हैं। अतएव प्रथम व्रत की रक्षा के लिये उक्त क्रियाएँ कदापि न करनी चाहिएं।

४ अतिभारातिचार—चौथा अतिचार अतिभाररूप है। जो व्यक्तियां पशु आदि के ऊपर अतिभार लादती हैं, उन्हें अपना स्वार्थ ही प्रिय होने के कारण पशुआदि के दुःखों की कुछ भी चिन्ता नहीं रहती, जिस का फल यह होता है कि-पशु आदि अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त होजाते हैं और निर्दयता बढ़ जाती है। अतएव पशु आदि की शक्ति को देखकर फिर शक्ति से न्यून उस से काम लिया जाए वा भारादि लादा जाए, तब ही व्रत भली प्रकार से पाला जा सकता है। इसके अतिरिक्त इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि-अन्य किसी के पशु वर्ग को देखकर उसकी भांति विना विचार किये केवल देखादेखी से पशु आदि के साथ निर्दयतापूर्वक बर्ताव न किया जाए।

५ भातपानीव्यवच्छेदातिचार—पशु आदि जीवों के अन्न पानी का व्यवच्छेद करने का नाम भातपानीव्यवच्छेदातिचार है। यह भी व्रत में दोष का कारण है। क्योंकि-जो किसी का वेतन न देना वा वेतन देने में विलम्ब कर देना अथवा जो समय पशु आदि के खाने का हो उसकी स्मृति न रखना अथवा यावन्मात्र में पशु वा मनुष्यादि अपने अधिकार रहने वाले हैं

उनकी यथोचित रक्षा न करना ये क्रियाएं हैं इन से प्रथम व्रत में दोष लगता है। अतएव उक्त पांचों प्रधान दोषों से रहित प्रथम अनुव्रत का पालन करना चाहिए।

थूलाओ मुसावाआओ वेरमणं

ठाणांगसू-स्थान ५ उद्देश ॥ १ ॥

जब प्रथम अनुव्रत का पालन किया जाए फिर द्वितीय अनुव्रत को शुद्धतापूर्वक पालन करना चाहिए। कारणकि-सत्यव्रत सर्व व्रतों में परम प्रधान है, आत्मविशुद्धि का परमोत्कृष्ट मार्ग है, लोक में प्रत्येक गुण का भाजन है। परन्तु सत्यव्रत के भी दो भेद हैं, जैसेकि—द्रव्यसत्य और भावसत्य। दृढ़ प्रतिज्ञा का ही नाम द्रव्य सत्य है, और जो षद् द्रव्यों के गुण पर्यायों को भली भांति जानना है तथा उन्हीं पर्यायों के अनुसार सत्य भाषण करना है उसे भावसत्य कहाजाता है। अतएव भाव सत्य के लिए ज्ञानाभ्यास वा शास्त्रश्रवण का अभ्यास अवश्यमेव करना चाहिए। सो श्रावक के सम्यक्त्व व्रत के होजाने से भावसत्य तो होता ही है, परन्तु द्रव्यसत्य के लिये शास्त्र-कार ने स्थूल शब्द दे दिया है। क्योंकि—गृहस्थावास में रहते हुए गृहस्थ से सर्वथा मृषावाद का त्याग तो हो ही नहीं सकता। अतएव वह स्थूल मृषा-वाद का तो त्याग अवश्य कर दे। जैसेकि—

१ कन्यालीक—कन्याओं के लिये असत्य भाषण न करे।

२ गवालीक—गौ आदि पशु वर्ग के लिये असत्य न बोले।

३ भूम्यलीक—भूमि के लिये असत्य का भाषण न करे।

४ न्यासापहार—किसी ने विश्वास-पात्र पुरुष जान कर विना साक्षियों के वा विना लिखत किये वस्तु को धरोहर रख दिया जब उसने वह वस्तु मांगी तो कह देना कि—मुझे तो उक्त पदार्थ की खबर ही नहीं है, न मैंने उस पदार्थ को देखा है इत्यादि बातें करना।

५ कूटसाक्षी—असत्य साक्षी देना इत्यादि अनेक भेद स्थूल मृषावाद के हैं। सो दूसरे अनुव्रत के पालन करने वाला उक्त प्रकार के असत्य भाषणों का परित्याग कर दे। फिर इस व्रत की शुद्धि के पांच अतिचारों (दोषों) का भी परिहार करदे। जैसेकि—

तयाणन्तरं चणं थूलगस्स मुसावाय वेरमणस्स पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—सहसाऽब्भक्खाणे रहसाऽब्भक्खाणे सदारमंत-भेए मोसोवएसे कूडलेह करणे।

उपासकदशांग सू. अ. ॥ १ ॥

भावार्थ—जब प्रथम अनुव्रत का स्वरूप अवगत हो जावे तब द्वितीय

अनुव्रत के स्वरूप को जानना चाहिए। और वे पांच अतिचार जानकर आसेवन न करने चाहिएं जैसेकि—

१ सहसाभ्याख्यान—किसी को विना विचारे कलंकित कर देना अर्थात् असत्य दोषारोपण करना।

२ रहस्याभ्याख्यान—किसी के मर्म को प्रकट करना वा गुप्त बातों का प्रकाश करना।

३ स्वदारामंत्रभेद—अपनी स्त्री की गुप्त बातों को प्रकाश करना, उपलक्षण से गृह सम्बन्धी बातों का प्रकाश करना।

४ मृषाउपदेश—अन्य आत्माओं को असत्य बोलने के लिये प्रस्तुत करना।

५ कूटलेखकरणअतिचार—असत्य लेख लिखने, असत्योपदेश लिखने तथा व्यापारादि में असत्य लेखों द्वारा काम लेना। यह पांचवाँ अतिचार है। उक्त पांचों अतिचारों को छोड़कर शुद्धतापूर्वक द्वितीय अनुव्रत का पालन करना चाहिए।

जब दूसरा अनुव्रत ठीक प्रकार पालन कर लिया जाय फिर तृतीय अणुव्रत को इस प्रकार पालन करना चाहिए। जैसेकि—

थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं।

ठाणांगसूत्रस्थान ५ उद्देश १॥

भावार्थ—श्रावक को तृतीय अणुव्रत में स्थूल चोरी का परित्याग करना चाहिए। जैसे कि—विश्वास-घात द्वारा लोगों को लूटना, मार्ग में लूटना संधि-छेदन करना, गाँठ कतरना, अन्य के तालों के खोलने के लिए कुंचिका बनाकर पास रखना तथा विना आज्ञा किसी की वस्तु को उठाना। इसका नाम चोरी है, परन्तु इस स्थान पर स्थूल शब्द चोरी का विशेषण इसलिये ग्रहण किया गया है कि-जो सूक्ष्म चोरी है उसका गृहस्थी से त्याग नहीं होसकता। क्योंकि—घर सम्बन्धी वा व्यापार सम्बन्धी सूक्ष्म चोरियां अनेक प्रकार से वर्णन की गई हैं। यथा—कोई अपनी हट्ट पर किसी व्यापारी का गुड़ बेच रहा है, परन्तु कुछ गुड़ की डलियाँ अपने मुख में भी डालता जा रहा है, इस प्रकार की क्रियाएं करने से उसे चोरी का तो दोष लगता है परन्तु लोग उसे चोर नहीं कहते। सो इस प्रकार की क्रियाएं अगर अज्ञानता वश कर भी ली जाएं तो विशेष पाप नहीं। किन्तु जिनके करने से चोर संज्ञा पड़े वे क्रियाएं सर्वथा न करनी चाहिएं। एवं द्रव्य और भाव रूप चोरी का सर्वथा त्याग करना चाहिए। सो द्रव्य चोरी का तो इस स्थान पर वर्णन किया गया है, किन्तु भाव चोरी का स्वरूप नहीं

दिखाया। सो भाव चोरी उसका नाम है जो निज गुण से बाहिर के पुद्ग-लादि पदार्थ हैं उनके परित्याग होने के परिणाम होने हैं। इसके अतिरिक्त शास्त्रकार ने द्रव्य चोरी की रक्षा के वास्ते पांच अतिचार प्रतिपादन किये हैं जो गृहस्थधर्म के पालने वाले व्यक्ति को कदापि आसेवन न करने चाहिएं। जैसेकि--

तयाणन्तरं चणं थूलगस्स अदिण्णादाण वेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—तेणाहडे तक्करप्पओगे विरुद्धरज्जाइक्कमे कूडतुलकूडमाणे तप्पडिरूवगववहारे ॥३॥

भावार्थ--द्वितीय अणुव्रत के पश्चात् तृतीय अणुव्रत का वर्णन किया जाता है। जो कि-स्थूल अदत्तादानत्यागरूप व्रत है। उसके भी पांच अतिचार वर्णन किये गए हैं जो कि—जानने योग्य तो हैं परन्तु आसेवन करने योग्य नहीं हैं। जैसेकि—

१ स्तेनाहृत—लालच के वश होते हुए चोरी का बहुमूल्य पदार्थ अल्प मूल्य में लेना। परन्तु जब बहुमूल्य वाले पदार्थ को अल्प मूल्य में लिया जायगा तो अवश्यमेव संदेह होसकता है कि—यह पदार्थ चोरी का है जिससे चोरों की जो दशा होती है जिसे लोग भली भांति जानते हैं, वही उसकी होती है। क्योंकि—चोरी का माल लेने वाला भी एक प्रकार का चोर है।

२ तस्करप्रयोगातिचार—चोरों को प्रेरित करना कि—तुम आजकल व्यर्थ कालक्षेप क्यों कर रहे हो? चोरी करो, तुम्हारी चोरी का माल हम विक्रय कर देंगे। इस प्रकार करने से तृतीय अणुव्रत में दोष लगता है।

३ विरुद्धराज्यातिक्रम—राजा की आज्ञा का पालन न करना। जैसे कि—राजा की आज्ञा हुई कि-अमुक राजा के देश से व्यापार मत करो, परन्तु उसकी आज्ञा पर न रह कर उस देश से व्यापार करते रहना। सो जो राजा न्याय से राज्य शासन कर रहा है उसकी आज्ञा का उल्लंघन कर देना यह भी उक्त व्रत में दोष का कारण है।

४ कूटतुलाकूटमानातिचार—तोलने और मापने में न्यूनाधिक करना। क्योंकि-इस प्रकार करने से व्यापार का नाश होजाता है। यदि यह विचार किया जाए कि--इस प्रकार से लक्ष्मी की वृद्धि होजाएगी तो यह विचार अतिनिकृष्ट है: क्योंकि लक्ष्मी की स्थिति न्याय से होती है नतु अन्याय से। अतएव धर्म और व्यापार की शुद्धि रखने के लिये व्यापारी वर्ग को उक्त दोष पर अवश्य विचार करना चाहिए।

५—तत्प्रतिरूपकव्यवहार—शुद्ध वस्तु में उसके सदृश वा उसके असदृश वस्तु मिला कर बेचना। जैसेकि—दुग्ध में जल, केशर में कसुंबा, घृत

में चरबी तथा अफीम में धतुरादि का प्रयोग करना। इस अतिचार का यह मन्तव्य है कि—लालच के वश होते हुए शुद्ध वस्तुओं में अशुद्ध वस्तुओं का प्रयोग कर देना। सो ये पांचों अतिचार (दोष) तृतीय अणुव्रत के हैं। जो गृहस्थ उक्त व्रत के पालन करने वाला है, उसको योग्य है कि—अपने उपयोग के द्वारा उक्त दोषों के दूर करने का उपाय करता रहे। कारण कि—जब तक किसी वस्तु पर ध्यान पूर्वक विचार नहीं किया जायगा तब तक उसके पालन करने से असुविधा बनी रहेगी। अतएव जब उस पर ठीक ध्यान दिया जायगा तब वह नियम ठीक पल जायगा।

जब श्रावक तृतीय अणुव्रत को ठीक प्रकार से समझले फिर चतुर्थ अणुव्रत के जानने की ओर चित्त को आकर्षित करे। जैसेकि—

स्वदारासंतोष—

ठाणांगसूत्रस्थान ५ उद्देश ॥ १ ॥

भावार्थ—श्रावक अपने चतुर्थ अणुव्रत में परस्त्री आदि का त्याग करके केवल स्वदारसंतोष व्रत पर ही अवलम्बित रहे तथा देवी और तिर्यञ्चणी के संग का सर्वथा परित्याग कर दे। कारण कि—ब्रह्मचर्य व्रत दोनों लोकों में कल्याण करने वाला है और शारीरिक बल के प्रदान करने वाला भी है। अतएव अपने चंचल मन को वश करके इस व्रत को शुद्धता पूर्वक पालन करना चाहिए।

स्मृति रहे कि गृहस्थ लोग इस व्रत का पालन एक करण और एक योग से ही कर सकते हैं, जैसेकि—"करूं नहीं कायसा" अर्थात् परस्त्री आदि का संग काय द्वारा नहीं करूंगा। क्योंकि—मोहनीय कर्म के उपशम करने के लिए और व्यभिचार रोकने के लिये ही विवाह संस्कार की प्रथा चली आती है। सो उक्त कार्य में संतोष धारण करना ही सर्वोत्तम कर्तव्य है। परन्तु स्वदारा के साथ भी मैथुन कीडा दिन में न करनी चाहिए। नांही धर्म तिथियों में उक्त क्रियाएँ करनी चाहिएं तथा परस्त्रियों के साथ उपहास्यादि क्रियाए न करनी चाहिएं। साथ ही इस अणुव्रत के जो पांच अतिचार रूप दोष हैं उन्हें त्यागना चाहिए। जैसेकि—

तयाणंतरं चणं सदारसंतोसिए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—इत्तरिय परिग्गहियागमणे अपरिग्गहियागमणे अणंगकीडा परविवाहकरणे कामभोगातिव्वाभिलासे ॥

उपासकदशाङ्गसूत्र अ० ॥ १ ॥

भावार्थ—स्वदारासंतोषरूप चतुर्थ अणुव्रत के पांच अतिचार रूप दोष प्रतिपादन किये हैं। जैसेकि—

१ इत्वरकालपरिगृहीतागमन—कामबुद्धि के वशीभूत होकर अगर इस प्रकार विचार करो कि—मेरा तो केवल पर स्त्री के गमन करने का ही त्याग है इसलिये किसी स्त्री को विशेष लोभ देकर कुछ समय के लिये अपनी स्त्री बना कर रख लूं तो क्या दोष है ? तो उसका यह विचार सर्वथा अयुक्त है क्योंकि—इस प्रकार करने से वह स्वदारासंतोषव्रतअतिचार रूप दोष से कलंकित होजाता है। कतिपय आचार्य इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार से भी करते हैं कि—यदि लघु अवस्था में ही विवाह संस्कार होगया हो तो यावत्काल पर्यन्त उस स्त्री की अवस्था उपयुक्त न होगई हो तावत्कालपर्यन्त उसके साथ समागम नहीं करना चाहिए, नहीं तो व्रत कलंकित होजाता है।

२ अपरिगृहीतागमन—जिस का विवाह संस्कार नहीं हुआ है जैसे वेश्या, कुमारी कन्या, तथा अनाथ कन्या इत्यादि। उनके साथ गमन करते समय अगर विचार किया जाय कि—मेरा तो केवल परस्त्री के संग करने का नियम है, परन्तु ये तो किसी की भी स्त्री नहीं है। इसलिए इनके साथ गमन करने से दोष नहीं; तो उसका यह विचार अयुक्त है। क्योंकि—इस प्रकार के कुतर्क से उक्त व्रत को कलंकित किया जाता है। कतिपय आचार्य इस प्रकार से भी उक्त सूत्र का अर्थ करते हैं कि—यदि किसी कन्या के साथ मंगनी होगई हो परन्तु विवाह संस्कार नहीं हुआ हो, और उसी कन्या का किसी एकान्त स्थान में मिलना होगया हो तो भावी स्त्री जान कर यदि संग किया जाएगा तब भी उक्त नियम भंग हो जाता है।

३ अनंगक्रीड़ा—काम की वासना के वशीभूत होकर परस्त्री के साथ कामजन्य उपहास्यादि क्रियाएँ करनी तथा काम जागृत करने की आशा पर पर-स्त्री के शरीर को स्पर्श करना वा अन्य प्रकार से कुचेष्टाएँ करनी ये सब क्रियाएँ उक्त व्रत को मलीमस करने वाली मानी जाती हैं। अतः इनका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए।

४ परविवाहकरण—अपने सम्बन्धियों को छोड़ कर पुण्य प्रकृति जान कर वा लोभ के वशीभूत होकर परविवाह करने के लिए सदैव उद्यत रहना यह भी उक्त व्रत के लिये अतिचार रूप दोष है। क्योंकि—मैथुन प्रवृत्ति करना पुण्य रूप नहीं हुआ करता। वृत्ति में भी लिखा है —"परविवाहकरणे' त्ति—परेषाम् आत्मन आत्मीयापत्येभ्यश्च व्यतिरिक्तानां विवाहकरणं परविवाहकरणम्। अयमभिप्रायः—स्वदारसंतोषिणो हि न युक्तः परेषां विवाहादिकरणेन मैथुननियोगोऽनर्थको विशिष्टविरतियुक्तत्वादित्येवमनाकलयतः परार्थकरणोद्यततया अतिचारोऽयमिति"—इसका अर्थ प्राग्वत् है। तथा कोई २ आचार्य इस सूत्र का अर्थ यह भी करते हैं कि—यदि किसी कन्या का सम्बन्ध विवाह संस्कार से पूर्व ही किसी अन्य पुरुष के साथ होगया है,

तो उस सम्बन्ध को तुड़वा कर अपने साथ वह सम्बन्ध जोड़ना भी एक प्रकार का अतिचाररूप दोष है क्योंकि—वह एक प्रकार से परस्त्री ही है।

५ कामभोगतीव्राभिलाषा—काम भोग सेवन की तीव्र अभिलाषा रखना। "कामभोग" से शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पांचों का बोध माना है तथा विषय की वृद्धि के लिये नाना प्रकार की औषधियों का सेवन करना, धातु आदि बलिष्ट पदार्थों का आसेवन करना, सदैव काल श्रुति का विषय सेवन की ओर लगा रहना, इत्यादि क्रियाओं से उक्त व्रत मलिन हो जाता है। अतएव उक्त पांचों अतिचाररूप दोषों को छोड़ कर उक्त व्रत शुद्धतापूर्वक पालन करना चाहिए जिससे मनोकामना की शीघ्र सिद्धि होजावे।

जब गृहस्थ चतुर्थ स्वदारा संतोष व्रत को धारण करले फिर उसको पंचम अणुव्रत धारण कर लेना चाहिए जैसेकि—

इच्छापरिमाणे

ठाणांगसूत्र स्थान ५ उद्देश १।

इस अणुव्रत का अपर नाम इच्छापरिमाणव्रत भी है। क्योंकि—आत्मा की अनंत इच्छाएं हैं। सो वह आत्मा इच्छा के वशीभूत होता हुआ ही दुःखों का अनुभव करता रहता है। यावत्काल यह संतोषव्रत को धारण नहीं करता तावत्काल पर्यन्त इसको सुखों की प्राप्ति भी नहीं हो सकती क्योंकि-शास्त्रकार मानते हैं कि-संसार में परिग्रह के समान कोई भी बंधन नहीं है। जीव जब इसके वशीभूत हो जाते हैं तब धर्म कर्म वा सांसारिक सम्बन्ध सब छूट जाते हैं।

इतना ही नहीं किन्तु इसके लिये जिनसे अति प्रेम (राग) होता है उनके साथ संग्राम करना पड़ता है, बध और बंधन का यह मुख्य कारणीभूत है। चतुर्गति रूप संसार चक्र में इसके कारण से जीव भटकते फिरते हैं यावन्मात्र संसार में अकृत्य कार्य हैं अविवेकी आत्मा इसके लिये प्रायः सब कर बैठते हैं। अतएव शास्त्रकार प्रतिपादन करते हैं कि इच्छा का परिमाण अवश्य होना चाहिए।

यद्यपि शास्त्रों में परिग्रह के अनेक भेद प्रतिपादन किये गए हैं तथापि मुख्य दो ही भेद होते हैं जैसेकि-द्रव्य परिग्रह और भाव परिग्रह। द्रव्य परिग्रह धन धान्यादि होता है और भाव परिग्रह अन्तरंग मोहनीय कर्म की प्रकृति रूप है। सो जब मोहनीय कर्म की प्रकृतियां क्षयोपशम भाव में होजाएँ तब द्रव्य परिग्रह का परिमाण सुखपूर्वक किया जा सकता है, अतः गृहस्थ अपने निर्वाह का ठीक अन्वेषण करता हुआ पंचम स्थूल परिग्रह अणुव्रत का परिमाण करले। क्योंकि—इच्छा का जब परिमाण होजाएगा तब उस आत्मा को संतोषरूपी

रत्न उपलब्ध होजाता है जिस के कारण से वह सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करसकता है। सो धन, धान्य, क्षेत्र, वाहन, गृह, दास, दासी आदि का यावन्मात्र परिमाण किया गया हो उस को फिर उसी प्रकार पालन करना चाहिए। क्योंकि—इस अणुव्रत के भी पांच ही अतिचार रूप दोष वर्णन किये गए हैं जैसेकि—

तयाणन्तरं चणं इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—खेत्तवत्थु पमाणाइक्कमे हिरण्ण सुवण्ण पमाणाइक्कमे दुपयचउप्पय पमाणाइक्कमे धणधान्नपमाणाइक्कमे कुवियपमाणाइक्कमे ॥

भावार्थ—चतुर्थ अणुव्रत के पश्चात् श्रमणोपासक को इच्छा परिमाण अनुव्रत के पांच अतिचार जानने चाहिएं किन्तु उन पर आचरण न करना चाहिए जैसेकि—

१ क्षेत्रवास्तुकप्रमाणातिक्रम—क्षेत्र (भूमि) वा गृहादि का यावन्मात्र परिमाण किया गया हो जैसेकि—इयान्मात्र हलों की भूमि का मैं परिमाण करता हूं तथा आरामादि का परिमाण करता हूं। इसी प्रकार हट्ट हवेली आदि का परिमाण करता हूं सो यावन्मात्र परिमाण किया हुआ हो उसे अतिक्रम न करना चाहिए। यदि वह परिमाण उल्लंघन किया जायगा तब उक्त अणुव्रत में अतिचार रूप दोष लग जायगा अतएव परिमाण करते समय सर्व प्रकार से विचार लेना चाहिए जिस से फिर व्रत में दोष न लग जावे।

२ हिरण्य सुवर्णप्रमाणातिक्रम-घटित और अघटित चाँदी और सुवर्ण का यावन्मात्र परिमाण किया गयाहो उस परिमाण को अतिक्रम न करना चाहिए। जब उक्त पदार्थ परिमाण से अधिक बढ़ जाएँ तब लोभ के वशीभूत होकर इस प्रकार का विचार उत्पन्न नहीं करना चाहिए कि—यह पदार्थ पुत्र की निश्राय है, यह पदार्थ धर्मपत्नी की निश्राय किया गया है तथा यह पदार्थ जब पुत्र उत्पन्न होगा उसके जन्मोत्सव में लगा दिया जायगा। इन संकल्पों से उक्त व्रत दूषित होजाता है। अतएव जिस प्रकार उक्त पदार्थों का परिमाण किया हुआ है उस परिमाण को उसी प्रकार पालन करना चाहिए यदि उक्त प्रकार पालन नहीं किया जायगा तो उक्त व्रत मलिन होजायगा।

३ धनधान्य प्रमाणातिक्रम—यावन्मात्र धन और धान्यादि (अनाज) का परिमाण किया गया हो उसको अतिक्रम कर देना उक्त व्रत में दोष का कारण है। अतएव उक्त परिमाण विधिपूर्वक पालन करना चाहिए। धन आदि की वृद्धि हो जाने पर कुतर्कों द्वारा व्रत को मलिन न करना चाहिए। जैसेकि- परिमाण मैं ने किया है इसलिये पदार्थ को मैं अपनी स्वाधीनता में

नहीं रख सकता। दूसरा तो इसे रख सकता है सो उस के नाम का रहा। ये कुतर्क हैं। अतएव इस प्रकार नहीं करना चाहिए। परिमाण करते समय अपने निर्वाह का ध्यान रखना चाहिए ताकि पश्चात् व्रत भग्न न हो जाए।

४ द्विपद चतुष्पद परिमाणातिक्रम—यावन्मात्र दास दासी तथा पशु आदि का परिमाण किया गया हो उसको अतिक्रम न करना चाहिए। यदि परिमाण अतिक्रम किया जायगा तब उक्त व्रत मलिन होजायगा अतएव परिमाण अतिक्रम न करना चाहिए।

५ कुपदपरिमाणातिक्रम—घर का यावन्मात्र उपकरण है जैसे-थाली, कच्चोल, कटोरा आदि उसका परिमाण करना चाहिए। परन्तु जितना परिमाण किया गया हो उस परिमाण को अतिक्रम न करना चाहिए। इस प्रकार पंचम अणुव्रत को शुद्धतापूर्वक पालन करना चाहिए।

श्री भगवान् ने गृहस्थों के लिये पांच अणुव्रतों की रक्षा के वास्ते तीन गुणव्रत प्रतिपादन किये हैं। क्योंकि—इन गुणव्रतों द्वारा पांच अणुव्रतों की भली प्रकार से रक्षा की जासकती है जैसेकि दिग्व्रत के द्वारा बाहिर के क्षेत्र के जीवों को अभयदान देने से प्रथम अणुव्रत को लाभ पहुंचता है। परिमाण से बाहिर जाना बंद होने से उस क्षेत्र में असत्य बोलने का भली प्रकार नियम पल जाता है जिससे द्वितीय अणुव्रत को लाभ पहुंचता है, क्षेत्र के परिमाण से बाहिर क्षेत्र में चोरी आदि का भी भली प्रकार नियम पल जाने से तृतीय अणुव्रत को लाभ होजाता है। मैथुन का परित्याग होने से चतुर्थ अणुव्रत को लाभ होता है। इसी प्रकार बाहिर के क्षेत्र में क्रय विक्रय न होने से पंचम अणुव्रत को लाभ पहुंचता है। सो इन गुणव्रतों द्वारा पांचों ही अणुव्रतों को लाभ पहुंच जाता है। इसलिये इनको गुणव्रत कहते हैं। दिग्व्रत-इस व्रत को कथन करने का यह तात्पर्य है कि—असंख्यात योजन परिमाण का लोक है; उसमें जीव दो प्रकार से गति करते हैं एक द्रव्य से और दूसरे भाव से। सो गमन क्रिया द्रव्य से काय द्वारा होसकती है और भाव से कर्मों द्वारा। इसी क्रम को द्रव्य और निश्चयदिग्व्रत भी कहते हैं। सो श्रावक को उक्त व्रत दो प्रकार से धारण करना चाहिए। जैसेकि—निश्चय से वे कर्म न करने चाहिएं जिन से संसार चक्र में परिभ्रमण करना पड़े। व्यवहार से काय द्वारा दश दिशाओं (पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तर ऊंची और नीची यह छै दिशा और चार विदिशा) में जाने का परिमाण होना चाहिए और यावन्मात्र परिमाण किया हो उसको अतिक्रम न करना चाहिए। इसी लिये इस गुणव्रत के भी पांच ही अतिचार वर्णन किये गए हैं। जैसेकि-

तयाणंतरं चणं दिसिवयस्स पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरिय-

व्वा तंजहा–उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे अहोदिसिपमाणाइक्कमे तिरिय दिसि पमाणाइक्कमे खेत्तवुड्ढी सइअन्तरद्धा ॥

भावार्थ—पंचम अणुव्रत के पश्चात् छठे दिग्व्रत के पांच अतिचार जानने चाहिएं परन्तु आचरण न करना चाहिए। जैसेकि—

१ उर्ध्वदिशापरिमाणातिक्रमातिचार-यावन्मात्र ऊर्ध्व दिशामें जाने का परिमाण किया गया हो उसको अतिक्रम करना प्रथम अतिचार है।

२ अधोदिग् परिमाणातिक्रम अतिचार-नीची दिशा में यावन्मात्र जाने का परिमाण किया गया हो, उस परिमाण को अतिक्रम करना इस व्रत का दूसरा अतिचार है।

३ तिर्यक् दिग् परिमाणातिक्रम अतिचार-यावन्मात्र तिर्यग् दिशा में गमन करने का परिमाण किया हो। जैसेकि-अपने नगर से चारों ओर हज़ार २ योजन वा कोस तक जानेका परिमाण कर लिया हो परन्तु फिर उस परिमाण का अतिक्रम कर जाना इस व्रत का तीसरा अतिचार है।

४ क्षेत्र वृद्धि-यावन्मात्र परिमाण किया गया हो उस परिमाण में परस्पर न्यूनाधिक कर लेना। जैसेकि-पूर्वदिशा में जाने का सौ योजन का परिमाण किया गया हो और सौ ही योजन पश्चिम दिशा में जाने का परिमाण हो परन्तु पूर्व दिशा में विशेष काम जानकर उस के डयोढे योजन कर लेने और पश्चिम में पच्चास ही योजन रख लेने। इस प्रकार करने से उक्त व्रत में दोष लगता है। क्योंकि-यह एक प्रकार का कुतर्क है।

५ स्मृति अन्तर्धान अतिचार-यदि गमन करते समय स्मृति विस्मृत हो जाए और उस शंका में आगे चला जावे तब भी उक्त व्रत में दोष लगता है। क्योंकि-स्मृति के विस्मृत होजाने पर भी आगे चलते जाना व्रत को मलिन करता है। अतएव उक्त पांचों दोषों के परिहार पूर्वक इस गुणव्रत को शुद्धतापूर्वक पालन करना चाहिए।

उपभोगपरिभोगगुणव्रत-इसगुणव्रत में खान पान और व्यापारादि का वर्णन किया गया है। जहां तक बन पड़े गृहस्थ को योग्य है कि-वह इस प्रकारका भोजन न करे जो सचित्त और बहु हिंसास्पद हो। क्योंकि-भोजन करने का वास्तव में यह उद्देश है कि-शरीर रहे। सो शरीर को भाटक देना तो एक प्रकार का सुयोग्य कर्तव्य है किन्तु शरीर का सेवक बन जाना और उसके लिए नाना प्रकार के पापोपार्जन करने तथा स्वादु पदार्थों का ही अन्वेषण करते रहना यह कदापि प्रशंसनीय नहीं है। अतएव प्रथम मद्य और मांस का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि-मद्य और मांस के सेवन से प्रायः

आस्तिक भाव रहने में ही संशय उत्पन्न होजाता है।

इस स्थान पर उक्त दोनों पदार्थों के त्याग के विषय में उल्लेख किया गया है, अवगुणों के विषय में नहीं। क्योंकि-इन के अवगुण प्रायः सर्वत्र सुप्रसिद्ध हैं। साथ ही जो मादक पदार्थ हैं, उन के सेवन करने का भी यत्न होना चाहिए जैसेकि-अफीण (अफीम), चरस, भांग, चंडु, तमाखु इत्यादि पदार्थों का सेवन करना युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि-ये पदार्थ बुद्धि को विकल करने वाले होते हैं। अतएव इन का सेवन न करना चाहिए।

जब इनका भली प्रकार त्याग कर लिया जाय तब वनस्पति में जो साधारण वनस्पतिकाय है, जिसे अनंतकाय भी कहते हैं। जैसे- आलु, मूली, गाजर, ज़िमीकंदादि। ये पदार्थ भी श्रावक धर्म की क्रियाएं करने वाले व्यक्ति को भक्षण करने योग्य नहीं हैं। क्योंकि-उनके भक्षण करने से बहुहिंसा होती है। जब यथाशक्ति कंदमूलादि का परित्याग किया जाय, तब जो प्रत्येक संज्ञक वनस्पति है उसका सर्वथा परित्याग वा परिमाण करना चाहिए। क्योंकि-यावत्काल पर्यन्त उसका परित्याग न किया जायगा तावत्काल पर्यन्त उक्त गुणव्रत शुद्धतापूर्वक नहीं पल सकता है। इस व्रत में खाने वाले पदार्थों का परिमाण और हिंसक व्यापार का निषेध किया गया है।

यद्यपि आवश्यक सूत्र में इस व्रत में २६ अंकों के खाने के परिमाण विषय वर्णन किया गया है, तथापि आचार्यों ने उक्त अंकों का समावेश १४ अंकों में कर दिया है, अतएव प्रत्येक गृहस्थ को नित्यप्रति १४ बोलों का परिमाण करना चाहिए। जैसेकि-

सचित्त दव्व विगइ वाणेह तंबोल वत्थ कुसुमेसु। वाहण सयण विलेवण बंभदिसि न्हाण भत्तेसु ॥ १ ॥

भावार्थ-इस गाथा में गृहस्थ के नित्यप्रति करने योग्य पदार्थों के परिमाण विषय वर्णन किया गया है जैसेकि-

१ सचित्त—जो वस्तु सचित्त है, उसके खाने का सर्वथा परित्याग होना चाहिए। यदि गृहस्थ सर्वथा परित्याग न कर सकता हो तो उसका परिमाण अवश्यमेव होना चाहिए। सचित्त शब्द से पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजोकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये सब ग्रहण किये जाते हैं। अतएव श्रावक को योग्य है कि—अपनी तृष्णा का निरोध करता हुआ अपने आत्मा के दमन के वास्ते विवेक अवश्य धारण करे। इस बात में कोई भी सन्देह नहीं है कि यावत्काल पर्यन्त तृष्णा का निरोध नहीं किया जायगा तावत्काल पर्यन्त आत्मा आत्मिक सुखों का अनुभव नहीं कर सकता ॥

२ द्रव्यनियम—अपने मुख में अपनी अंगुली के विना यावन्मात्र पदार्थ खाने में आते हैं, उनकी द्रव्य संज्ञा है, सो इस बात का नित्यप्रति परिमाण कर लेना चाहिए कि-आज मैं इतने द्रव्य आसेवन करूंगा। जैसे कि-मूंग की दाल-एक द्रव्य, गेहूं की रोटी-दो द्रव्य, पानी-तीन द्रव्य। इसी प्रकार अनेक द्रव्यों की कल्पना कर लेनी चाहिए। परन्तु इस विषय में दो प्रकार से परिमाण किया जाता है जैसे कि-एक तो सामान्यतया और दूसरे विशेषतया। यदि सामान्यतया परिमाण करना हो तो मूंग की दाल, उड़द की दाल, हरहर की दाल इत्यादि सर्व प्रकार की दालें एक द्रव्य में गिनी जायेंगी और विशेषतया परिमाण करना हो तो दालों के जितने नाम हैं तावन्मात्र ही द्रव्य गिने जायेंगे। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्यों के विषय जानना। सो द्रव्यपरिमाण बांधते समय सामान्य विशेष का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। इस नियम से तृष्णा का निरोध और संतोषवृत्ति की प्राप्ति होती है। साथ ही "परिणामान्तरापन्नं द्रव्यमुच्यते" इस वाक्य का अर्थ जान लेना चाहिए अर्थात् द्रव्य उसको कहते हैं जो अपने परिणाम से अन्य परिणाम में परिणत होगया हो।

३ विगयनियम-जो पदार्थ विकृत रूप से उत्पन्न हुआ है वह विगय कहलाता है। वह विगय नव हैं जैसे मद्य १ मांस २ मदिरा ३ नवनीत ४ दुग्ध ५ दही ६ घृत ७ तेल ८ गुड़ ९। जिनमें गृहस्थ के लिये मद्य और मांस का तो सर्वथा त्याग होता ही है, परन्तु शेष विगयों का परिमाण अवश्यमेव होना चाहिए। अतएव गृहस्थ को उचित है कि-शेष विगयों का नित्यंप्रति परिमाण करता रहे।

४ उपानहनियम-जोड़ा पगरखा---बूट आदि पदार्थ जो पाओं के वेष्टन के काम आते हैं उनका परिमाण करना चाहिए। यदि शक्ति हो तो सर्वथा ही धारण न करने का नियम करदे क्योंकि ये सब आडम्बर जीवहिंसा के कारणभूत हैं परन्तु यदि संसार में रहते हुए उक्त क्रियाओं का परित्याग न होसके तो उनका परिमाण अवश्यमेव होना चाहिए।

५ तांबूलपरिमाण-जो पदार्थ मुख शुद्धि के लिये ग्रहण किये जाते हैं। जैसेकि—पान, सुपारी, लवंग, इलायची आदि। उनका परिमाण करना चाहिए।

६ वस्त्रविधिपरिमाण-वस्त्रों के धारण करने की संख्या नियत करनी चाहिए। जैसेकि-आज और इतनी संख्या में पहनूंगा। अमुक २ वस्त्र पहरूंगा २ स्वदेशी वा विदेशी वस्त्र तथा कार्पास के इस प्रकार वस्त्रविधि में सर्व जाति के वस्त्रों का परिमाण होना चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रहे कि-जिस वस्त्र में हिंसादि कृत्यों की विशेष संभावना हो वह वस्त्र त्याग देना चाहिए।

७ पुष्पविधि परिमाण-अपने भोगने के लिये पुष्पों का परिमाण करना

चाहिए। जैसेकि पुष्पों की माला, पुष्पशय्या, पुष्पों का पंखा, पुष्पों का मुकुट इत्यादि कार्यों के वास्ते पुष्पों की जाति तथा पुष्पों का परिमाण करना चाहिए।

८ वाहनविधि परिमाण–इस परिमाण में यावन्मात्र गमन करने के साधन हैं। जैसे–मोटर, गाड़ी, रेलगाड़ी, यान, शकट, आकाशयान, वायुयान, यानपात्र, अश्वयुक्त यान, वृषभयुक्त यान, इत्यादि इन सब वाहनों का परिमाण करना चाहिए।

९ शयनविधि परिमाण–खाट, कुरसी, पाद, पीठ इत्यादि पदार्थों का परिमाण करे। शयन उसे ही कहते हैं जिसपर सुखपूर्वक बैठा जाय।

१० विलेपनविधि परिमाण–अपने शरीर पर विलेपन करने के लिए जो चन्दनादि तथा साबुनादि पदार्थ तथा अंग मर्दनादि के लिये तैलादि पदार्थ उपयुक्त किये जाते हैं उन सब पदार्थों का परिमाण करना चाहिए। सारांश यह है कि–मस्तकादि की सुन्दरता के वास्ते यावन्मात्र कार्य किये जाते हैं तथा यावन्मात्र तैलादि पदार्थ हैं उन सब का परिमाण नित्यंप्रति कर लेना चाहिए। इस नियम में अंजन (सुरमा) वा दर्प्पण आदि का भी परिमाण किया जाता है।

११ ब्रह्मचर्यनियम–दिन को मैथुनकर्म का तो श्रावक सर्वथा परित्याग कर दे और रात्रि का परिमाण करना चाहिये। यद्यपि परस्त्री और वेश्या तथा कुचेष्टा कर्म का पूर्व ही परित्याग किया हुआ होता है तदपि अपनी स्त्री के साथ भी रात्रि में परिमाण से बाहिर काम क्रीड़ादि नहीं करनी चाहिए।

१२ दिग् परिमाण–अपने ग्राम वा नगरादि से बाहिर जाने का यावन्मात्र परिमाण किया गया हो उस परिमाण को उसी प्रकार पालन करना चाहिए। लेकिन इसका परिमाण करते समय इस बात का अवश्य ध्यान रख लेना चाहिए कि–मैं ही नहीं जाऊंगा अपितु अन्य को भी इस परिमाण से बाहिर नहीं भेजूंगा।

१३ स्नानविधि परिमाण—इस परिमाण में श्रावक लोग स्नान करने का परिमाण करते हैं। क्योंकि श्रावक को स्नान करने का सर्वथा नियम (त्याग) नहीं होता। हां—श्रावक को दिन में वा रात्रि में स्नान कितनी वार वा कितने जल से तथा कूप वापी तडाग आदि के जल में स्नान करने का परिमाण करना चाहिए। इसी प्रकार क्षुद्र नदी वा महानदी आदि के विषय में भी जानना चाहिए।

१४ भात पानी का परिमाण—इस नियम में अन्न पानी और खाद्य पदार्थों के वज़न का परिमाण करना चाहिए। इस का सारांश यह है कि—अपने शरीर की अपेक्षा यावन्मात्र पदार्थ भक्षण करने में आते हों उनके परि-

माण करने की अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि-परिमाण करने के पश्चात् आत्मा संतोष वृत्ति में आजाता है।

यदि उक्त पदार्थों का सविस्तार स्वरूप देखना हो तो उपासकदशाङ्ग सूत्र के प्रथमाध्याय और आवश्यक सूत्र का चतुर्थाध्याय को देखना चाहिए। उक्त दोनों सूत्रों में "दंतणविहि" सूत्र से लेकर २६ अंकवर्णन किये गए हैं अर्थात् दांतून करने का परिमाण करे। जैसेकि-अमुक वृक्ष की दांतून करूंगा।

उक्त सूत्र के पठन करने से यह भली भांति सिद्ध होजाता है कि--श्रावकवर्ग को प्रत्येक वस्तु का परिमाण करना चाहिए। किन्तु जो मांस और मद्य इत्यादि अभक्ष्य पदार्थ हैं उनका सर्वथा ही त्याग किया जाता है

भोजन विधि का परिमाण करने के पश्चात् फिर १५ पंचदश कर्मादान--पाप कर्मों का परित्याग कर देना चाहिए जैसेकि

कम्मओ य समणोवासएणं पणदसकम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न समायरियव्वाइं तंजहा इङ्गालकम्मे वणकम्मे साडीकम्मे भाड़ीकम्मे फोडीकम्मे दंतवाणिज्जे लक्खवाणिज्जे रसवाणिज्जे विसवाणिज्जे केसवाणिज्जे जंतपीलणकम्मे निल्लञ्छणकम्मे दवग्गिदावणया सरदहतलावसोसणया असईजणपोसणया।

उपासकदशाङ्गसूत्र अ. १॥

भावार्थ-शास्त्रकारने १५ व्यापार इस प्रकार के वर्णन किये हैं, जिन के करने से हिंसा विशेष होती है। इसी वास्ते उन कर्मों के उत्पत्ति कारण को जानना तो योग्य है, परन्तु वे कर्म ग्रहण न करने चाहिएं। क्योंकि-जो श्रावक आस्तिक और निर्वाणगमन की अभिलाषा रखता है उसको बहुहिंसक व्यापारों से पृथक ही रहना चाहिए और जहाँ तक बन पड़े आर्य व्यापारों से ही अपने निर्वाह करने का उपाय सोचना चाहिए। यदि किसी कारण वश आर्य व्यापार उपलब्ध न होते हों तब वह दासकर्म आदि कृत्यों से तो अपना निर्वाह करले परन्तु मद्य और मांसादि अनार्य व्यापार कदापि न करे

अब पंचदश कर्मादानों का नीचे संक्षेप से स्वरूप दिखलाते हैं। जैसेकि-

१ अंगारकर्म-यावन्मात्र अग्नि के प्रयोग से व्यापार किये जाते हैं वे सब अंगारकर्म में ही ग्रहण किये जातेहैं। जैसे-कोयले का व्यापार, ईटों का पकाना, लुहार का काम, हलवाई का काम, धातु का काम इत्यादि। जो अपने वास्ते श्रावक को अग्नि का प्रयोग करना पड़ता है उसका उस को परित्याग नहीं है। जैसेकि-भोजनादि के वास्ते अग्नि का आरंभ करना पड़ता है तथा

विवाह आदि के समय बहुतसी अग्नि के समारंभ की क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। व्यापार के अर्थ उपरोक्त कर्म वर्जित है। ये सब अर्थ उपलक्षण से ही लिये गए हैं, किन्तु मुख्य अर्थ इस का कोयले का व्यापार ही है। जैसे कोयले बनाकर या खानि से खोद कर कोयलों का व्यापार करना। इसी प्रकार सर्व कर्मादान विषय जान लेना चाहिए।

२ वनकर्म--वनस्पति का छेदन करना वा वनादि का बेचना, वन कटवाना इत्यादि कृत्य सब वनकर्म में लिये जाते हैं।

३ शकटकर्म--अनेक प्रकार के यानों वा शकटों को बना या बनवा कर बेचना इस कर्म में सर्व प्रकार के वाहन ग्रहण किये जाते हैं।

४ भाटककर्म—पशुओं को भाड़ (किराया) पर देना। क्योंकि-जो पशु को भाटक पर लेजाता है वह उस की प्रायः दया पूर्वक रक्षा नहीं करता अपितु सीमा से बाहिर होकर काम लेना चाह (जान) ता है अतएव गो वृषभ ऊंटादि द्वारा भाटक व्यवहार न करना चाहिए।

५ स्फोटककर्म—भूमि को खोदने के कर्म, जैसेकि-खान आदि का खुदवाना। ये सब विशेष हिंसा के होने से कुकर्म कहे जाते हैं।

अब शास्त्रकार पांच प्रकार के कुवाणिज्य के विषय कहते हैं। जैसेकि-

६ दंतवाणिज्य—'दान्त' आदि यावन्मात्र पशु के अवयव हैं उनके द्वारा आजीविका करना सब दंतवाणिज्य कहा जाता है। जैसे-चर्म के वास्ते लाखों पशु मारे जाते हैं, वैसेही हाथी के दान्त, घूघू के नख, जीभ, पक्षियों के रोम, गाय का चमर, हरिण के शृंग इत्यादि अवयवों के बेचने से जीवहिंसा विशेष बढ़ जाएगी। अतएव उक्त व्यापार हिंसाजनक होने से न करना चाहिए।

७ लाक्षावाणिज्य—लाख जीव उत्पत्ति होने की कारणीभूत है। अतएव लाक्षादि का व्यापार न करना चाहिए।

८ रसवाणिज्य—सुरादि का बेचना यह व्यापार परम निषिद्ध है।

९ केशवाणिज्य—मनुष्य, पशु तथा पक्षियों का बेचना केशवाणिज्य में लिया जाता है अर्थात् केशवाले जीवों का बेचना केशवाणिज्य है। अतएव पशुविक्रय तथा कन्या विक्रय आदि व्यापार न करने चाहिएं। वृत्तिकार इस शब्द की वृत्ति करते समय लिखते हैं कि-"केश वाणिज्य" "केशवतां दासगवोष्ट्र-हस्त्यादिकानां विक्रयरूपम्" अर्थ इस का प्राग्वत् है।

१० विषवाणिज्य—इस कर्म में सर्व प्रकार के विष तथा अस्त्र और शस्त्र विद्या ग्रहण की जाती है अर्थात् विष का सर्व प्रकार के शस्त्रों तथा अस्त्रों का बेचना यह सब विषवाणिज्य कर्म है। कारण कि-जिस प्रकार विष का मारने का स्वभाव है ठीक उसी प्रकार शस्त्र और अस्त्रों द्वारा जीवघात

की जाती है अतएव श्रावक को उक्त प्रकार का वाणिज्य न करना चाहिए।

पांच प्रकार के सामान्य कर्म प्रतिपादन किये गए हैं जैसेकि-

११ यंत्रपीडनकर्म—यंत्र (मशीन) द्वारा तिल और इक्षु आदि का पीडना यह भी हिंसा का निमित्त कारण है।

१२ निर्लाञ्छनकर्म—वृषभ आदि का नपुंसक (खस्सी) करना।

१३ दावाग्निदानकर्म—वन को आग लगा देना। जैसेकि-कोई व्यक्ति जो धर्म से अनभिज्ञ हो उसके मन में यह संकल्प उत्पन्न हो जाता है कि-यदि मैं वन को अग्नि लगा दूंगा तब इस वन में नूतन घास उत्पन्न होजायगी जिससे प्रायः पशुवर्ग को बड़ा सुख प्राप्त होजायगा अतएव वन को अग्नि लगाना एक प्रकार का धर्मकृत्य है। परन्तु जो उस अग्नि द्वारा असंख्य जीवों का नाश होना है उस का उस को सर्वथा बोध नहीं है। अतएव यह कर्म भी न करना चाहिए।

१४ सरोह्रदतडागपरिशोषणताकर्म—स्वभाव से जो जल भूमि से उत्पन्न होजावे उसे सर कहते हैं। नद्यादि का निम्नतर जो प्रदेश होता है, उस का नाम ह्रद है तथा जो जल भूमि-खनन से उत्पन्न किया गया हो उसका नाम तड़ाग है। उपलक्षण से यावन्मात्र कूपादि जलाशय हैं उन को अपने गोधूमादि खेतों को वपने के वास्ते सुखा देवे तथा अन्य किसी कारण को मुख्य रख कर जलाशयों को शुष्क करदेवे तो महाहिंसा होने की संभावना की जाती है। जैसेकि एक तो पानी के रहने वाले जीवों का विनाश दूसरे जो जल के आश्रय निर्वाह करने वाले जीव हैं उनका नाश। अतएव यह कर्म भी गृहस्थों को परित्याग करने योग्य है।

१५ असतीजनपोषणताकर्म—हिंसा के भाव रख कर हिंसक जीवों की पालना करनी। जैसेकि-शिकार के लिये कुत्ते पालने, मूषकों के मारने के लिये मार्जार की पालना तथा किसी अनाथ कन्या की वेश्या वृत्ति के लिये पालना करनी इत्यादि। इसी प्रकार हिंसक जीवों के साथ व्यापार करना, क्योंकि—उनके साथ व्यापार करने से हिंसक कर्मों की विशेष वृद्धि होजाती है। इस कर्म में व्यापार सम्बन्धी उक्त क्रियाओं के करने का निषेध किया गया है, अनुकंपा के वास्ते नहीं। सो विवेकशील गृहस्थों को योग्य है कि-वे उक्त पंचदश कर्मादानों का परित्याग करदें। फिर उपभोग परिभोग गुणव्रत के पांच अतिचार भी छोड़दें। जो निम्नलिखितानुसार हैं।

तत्थणं भोयणओ समणोवासएणं पंचअइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—सचित्ताहारे सचित्तपडिबद्धाहारे अप्पउलिओ

सहिभक्खणया दुप्पउलिओ सहिभक्खणया तुच्छोसहिभक्खणया ॥

उपासकदशाङ्गसू. अ. ॥१॥

भावार्थ—सातवें गुणव्रत में कर्म और भोजन का अधिकार वर्णित है। सो कर्मों का अधिकार तो पूर्व लिखा जा चुका है। किन्तु भोजन के पांच अतिचार निम्न प्रकार से कथन किये गए हैं जैसेकि—

१ सचित्ताहार—गृहस्थ के परिमाण से बाहिर सचित्त वनस्पति आदि का आहार न करना चाहिए तथा मिश्र पदार्थों को अचित्त जान कर न खाना चाहिए।

२ सचित्तप्रतिबद्धाहार—सचित्त के प्रति त्याग होने से यदि सचित्त के प्रतिबद्ध से खाना खाया जावे तो भी अतिचार होता है। जैसेकि-वृक्ष से उतार कर गूंद खाना वा सचित्त पत्तों पर कंदोई की दुकान पर से नाना प्रकार के पदार्थों का भक्षण करना इत्यादि।

३ अपक्काहार—जो आहारादि अग्निसंस्कार से परिपक्व न हुआ हो उन का तथा औषध आदि मिश्र पदार्थों का आहार करना।

४ दुपक्काहार—अग्निसंस्कार द्वारा जो आहार पूर्ण पक्व दशा को प्राप्त न हुआ हो, जैसे लोग चणक और मक्की की छल्लिएं आदि को अग्नि में परिपक्व करते हैं, किन्तु वे पूर्णतया परिपक्व नहीं होते सो ऐसे पदार्थों का भक्षण न करना चाहिए। इस प्रकार सर्व धान्यों के विषय जानना चाहिए।

५ तुच्छौषधिभक्षण अतिचार—जिस पदार्थ के खाने से हिंसा विशेष होती हो किन्तु उदर-पूर्त्ति न हो सके उस का आहार करना वर्जित है। जैसे-सकोमल वनस्पति तथा खसखस का आहार।

उक्त पांचों अतिचारों को छोड़कर उक्त गुणव्रत का शुद्धतापूर्वक पालन करना चाहिए।

सातवें उपभोग गुणव्रत के पश्चात् तृतीय गुणव्रत अनर्थदंड विरमण है इसका स्वरूप शास्त्रकारों ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है। यद्यपि हिंसादि कर्म सर्व ही पापोपार्जन के हेतु हैं, परन्तु उनमें अर्थ और अनर्थ इस प्रकार दो भेद किये जाते हैं। जो अनर्थ पाप हैं उन्हें गृहस्थ कदापि न करे। क्योंकि—जब उन कर्मों के करने से किसी भी अभीष्ट-सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती तो भला फिर वे कर्म क्यों किये जाएँ? हाँ—अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये जो पाप कर्म किया जाता है उसको अर्थदंड कहते हैं।

गृहस्थावास में रहते हुए प्राणी को अर्थदंड का परित्याग तो हो सकता ही नहीं किन्तु उसे अनर्थदंड कदापि न करना चाहिए। जैसे-कल्पना करोकि-कोई गृहस्थ एक बड़े सुंदर राजमार्ग पर चला जा रहा है जो अत्यन्त

स्वच्छ और सुखप्रद है, उसी मार्ग के समीप वनस्पति तथा घास से युक्त दूसरा उपमार्ग हो तो फिर वह गृहस्थ क्यों उस राजमार्ग को छोड़ कर उप-मार्ग में चलने लग पड़े ? कदापि नहीं। बस इसी का नाम अनर्थदंड है, क्योंकि उपमार्ग पर चलने से जो वनस्पतिकाय आदि जीवों की हिंसा हुई है वह हिंसा अनर्थ रूप ही है। इसी प्रकार अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए।

शास्त्रकार महर्षियों ने अनर्थदंड के मुख्यतया चार भेद प्रतिपादन किये हैं, जैसेकि—अपध्यान १ पापोपदेश २ हिंसाप्रदान ३ प्रमादाचरित ४

१ अपध्यान अनर्थदंड—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान न करना चाहिए क्योंकि—जब सुख वा दुःख कर्माधीन माना जाता है तो फिर फल की असिद्धि में चिंता वा शोक क्यों ? क्योंकि-जो कर्म बांधा गया है उस कर्म ने अवश्यमेव उदय होकर फल देना है। सो इस प्रकार की भावनाओं से चिंता वा रौद्रध्यान दूर कर देना चाहिए।

२ पापोपदेश-अपने से भिन्न अन्य प्राणियों को पापकर्म का उपदेश करना। जैसे कि—तुम अमुक हिंसक कर्म अमुक रीति से करो।

३ हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड—जिन पदार्थों के देने से हिंसक क्रियाओं की निष्पत्ति होवे उन पदार्थों का दान करना, यह अनर्थदण्ड है। जैसेकि—शस्त्र और अस्त्रों का दान करना तथा मूशल वा वाहन अथवा यानादि पदार्थों का दान करना।

४ प्रमादाचरण अनर्थदण्ड—धर्म क्रियाओं के करने में तो आलस्य किया जाता है, परन्तु नृत्यकलादि के देखने में आलस्य का नाम मात्र भी नहीं इस का नाम प्रमादाचरण अनर्थ दण्ड है तथा यावन्मात्र धर्म से प्रतिकूल क्रियाएं हैं जिन से संसार चक्र में विशेष परिभ्रमण होता हो उसी का नाम प्रमादाचरण है। शब्द, रूप, गंध, रस, और स्पर्श इन के भोगने की अत्यन्त इच्छा और उन के (भोगने के) लिये ही पुरुषार्थ करते रहना उसे प्रमादा-चरण दण्ड कहते हैं।

इस गुण व्रत की रक्षा के लिये शास्त्रकारों ने पांच अतिचार प्रतिपादन किये हैं जैसेकि—

तयाणन्तरं चणं अणट्ठादण्ड वेरमणस्स समणोवासएणं पंचअ-इयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—कंदप्पे कुक्कुइए मोहरिए संजुत्ता-हिगरणे उवभोग परिभोगाइरित्ते ॥८॥

भावार्थ—सातवें उपभोग और परिभोग गुणव्रत के पश्चात् आठवें

अनर्थ दण्ड व्रत के पांच अतिचार वर्णन किये गये हैं जैसेकि—

१ कन्दर्प—कामचेष्टा को उत्पन्न करने वाले वाक्यों का प्रयोग करना तथा शरीर के अवयवों द्वारा उपहास्यादि क्रियाएं करना अर्थात् जिन चेष्टाओं से काम की जागृति हो उन्हीं में निमग्न रहना यह प्रथम अतिचार है, क्योंकि-इन से ही कन्दर्प-उद्दीपन होजाता है।

२ कौत्कुच्यम्—जिस प्रकार भांड लोग मुखविकारादि द्वारा हास्यादि क्रियाएं उत्पन्न करते रहते हैं, उसी प्रकार अन्य आत्माओं को विस्मय करने के लिये तद्वत् क्रियाएं करना यह भी अनर्थ दण्ड है। होली आदि पर्वों में बहुतसे लोग विशेषता से उक्त क्रियाएं करते हैं। जिसका फल क्लेश होता है ऐसे कर्म कदापि न करें।

३ मौखर्यम्—धृष्टता के साथ प्रायः मिथ्या वचनों का प्रयोग करना और असंबद्ध वचन बोलते जाना, जिस से अर्थसिद्धि कुछ भी न हो यह भी एक अतिचार है।

४ संयुक्ताधिकरणम्—जिन उपकरणों के संयोग से हिंसा होने की संभावना हो उनका संग्रह करना संयुक्ताधिकरण अतिचार होता है। क्योंकि-जो उस उपकरण को लेजायगा वह अवश्य ही हिंसक क्रियाओं में प्रवृत्त हो जायगा। जैसेकि-तीर के साथ धनुष मुशल के साथ उलूखल फाले के साथ हल इत्यादि। सो उक्त उपकरणों का दान वा परिमाण से अधिक संग्रह कदापि न करना चाहिए।

५ उपभोगपरिभोगातिरिक्त—अपने शरीर के लिये यावन्मात्र पदार्थों की उपभोग और परिभोग के लिये आवश्यकता हो उन से अधिक संग्रह करना वर्जित है। क्योंकि—जब लोग देखते हैं कि-इसके पास अमुक पदार्थ अधिक है तब वे उस से लेकर आरंभ समारंभ में प्रवृत्त होजाते हैं, जैसे-कल्पना करो, कोई पुरुष कूपादि के ऊपर स्नान करने के लिये तैलादि विशेष ले गया तब बहुतसे लोग उस से तैल लेकर स्नानादि क्रियाओं में प्रवृत्त हो जाते हैं अतएव हिंसाजनक उपभोग और परिभोग पदार्थों का अधिक संग्रह न करना चाहिए, क्योंकि-अर्थदण्ड तो गृहस्थ को लगता ही है किन्तु अनर्थदण्ड से तो अवश्यमेव बचना चाहिए।

उक्त आठों व्रतों के लिये शांति के उत्पादक श्रीभगवान् ने चार शिक्षा-व्रतों का वर्णन किया है। जिनमें प्रथम शिक्षाव्रत सामायिक है।

सामायिक सम-आय्-और इकण्-प्रत्यय के लगने से सामायिक शब्द सिद्ध होता है, जिसका मन्तव्य है कि-रागद्वेष से निवृत्त होकर किसी काल पर्यन्त प्रत्येक प्राणी के साथ "सम" भाव रक्खा जाय। प्रत्येक जीव के साथ

'सम' भाव रखने से आत्मा को ज्ञान दर्शन और चारित्र का सम्यग्‌तया 'आय' लाभ होजायगा। जिस समय आत्मा सम्यग्ज्ञानदर्शन और चारित्र से 'इकए' एक रूप होकर ठहरेगा उस समय को विद्वान् 'सामायिक' काल कहते हैं। सो जबतक आत्मा को सामायिक के समय की प्राप्ति पूर्णतया नहीं होती तब तक आत्मा निजानन्द का अनुभव भी नहीं कर सकता। सो निजानन्द को प्रकट करने के लिये, समता रस का पान करने के लिये, आत्मविशुद्धि के लिये, दैनिक चर्या के निरीक्षण के लिये, आत्मविकाश (स) के लिये प्रत्येक श्रावक को दोनों समय सामायिक अवश्यमेव करनी चाहिए। सामायिक व्रत करने के वास्ते चार विशुद्धियों का करना अत्यन्त आवश्यक है। जैसेकि—

१ द्रव्यशुद्ध—सामायिक द्रव्य (उपकरण) जैसे आसन, रजोहरणी, मुख वस्त्रिका तथा अन्य शरीर वस्त्र शुद्ध और पवित्र होने चाहिएं। जहां तक बन पड़े सामायिक का उपकरण सांसारिक क्रियाओं में नहीं वर्तना चाहिए।

२ क्षेत्रशुद्धि—सामायिक करने का स्थान स्वच्छ और शांतिप्रदान करने वाला हो। स्त्री पशु वा नपुंसक से युक्त तथा मन के भावों को विकृत करने वाला न होना चाहिए। जिस स्थान पर कोलाहल होता हो और बहुतसे लोगों का गमनागमन होता हो उस स्थान पर समाधि के योग स्थिर नहीं रह सकते। अतएव सामायिक करने वालों के लिये क्षेत्रशुद्धि की अत्यन्त आवश्यकता है।

३ कालशुद्धि—यद्यपि सामायिक व्रत प्रत्येक समय किया जा सकता है तथापि शास्त्रकारों तथा पूर्वाचार्यों ने दो समय आवश्यकीय प्रतिपादन किये हैं जैसेकि-प्रातःकाल और सायंकाल। सो दोनों समय कम से कम दो दो घटिका प्रमाण सामायिक व्रत अवश्यमेव करना चाहिए। क्योंकि जो क्रियाएँ नियत समय पर की जाती हैं, वे बहुत फलप्रद होती हैं।

४ भावशुद्धि—सामायिक करने के भाव अत्यन्त शुद्ध होने चाहिएं। इस कथन का सारांश इतना ही है कि-लज्जा वा भय से सामायिक व्रत धारण किया हुआ विशेष फलप्रद नहीं हुआ करता। अतः शुद्ध भावों से प्रेरित होकर सामायिक व्रत धारण करना चाहिए।

उपरोक्त सामायिक व्रत के भी पांच अतिचार हैं, जिनका जानना तो आवश्यक है किन्तु उन पर आचरण नहीं करना चाहिए यथा—

तयाणन्तरं चणं सामाइयस्स समणोवासएणं पञ्चअइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—मणदुप्पणिहाणे वयदुप्पणिहाणे कायदुप्पणिहाणे सामाइयस्स सइ अकरणया सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया ॥ ९ ॥

१ मनोदुष्प्रणिधान—सामायिक व्रत धारण करके मनोयोग को दुष्ट धारण करना अर्थात् मन द्वारा सांसारिक सावद्य कार्यों का अनुचिंतन करना तथा पाप कर्मों का अनुचिंतन करते रहना यह पहला अतिचार है

२ वाग्दुष्प्रणिधान—वचन योग का अकुशल भाव में प्रयोग करना अर्थात् कठोर और हिंसक वचन को प्रयोग में लाना यह दूसरा अतिचार है।

३ कायदुष्प्रणिधान—काययोग को सम्यग्तया धारण न करना अर्थात् सामायिक काल में विना प्रत्युपेक्षित किये यत्र तत्र बैठ जाना तथा भूमि-भाग को सम्यग्तया प्रत्युपेक्षित न करना यह तीसरा अतिचार है।

४ स्मृतिअकरण—सामायिक काल वा सामायिक की स्मृति का न करना। जैसेकि-क्या सामायिक का समय होगया है ? मैंने सामायिक की है वा नहीं ? क्या मैंने सामायिक पार ली है अथवा नहीं ? इत्यादि यह चतुर्थ अतिचार है।

५ अनवस्थितकरण—सामायिक का काल विना पूर्ण हुए सामायिक को पार लेना तथा सामायिक न तो समय पर करना और नाँही उसके काल को पूर्ण करना यह पांचवां अतिचार है।

उक्त पांचों दोषों को छोड़कर दोनों समय शुद्ध सामायिक करनी चाहिए। शास्त्रकार कहते हैं कि-यदि शुद्ध भावों से एक भी सामायिक हो जाए तो आत्मा संसार चक्र से पृथक् होने के मार्ग पर आरूढ़ होजाता है। नवें सामायिक व्रत के पश्चात् दशवें देशावकाशिक व्रत का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

देशावकाशिक द्वितीय शिक्षाव्रत है। वास्तव में यह व्रत छठे व्रत का ही अंशरूप है। क्योंकि-छठे व्रत में यावज्जीव पर्यन्त छः दिशाओं का परिमाण किया जाता है, परन्तु उस परिमाण को संक्षेप करना इस व्रत का मुख्योद्देश है। जैसेकि-कल्पना करो, किसी ने चारों दिशाओं में सौ सौ योजन पर्यन्त गमन करना निश्चय किया हुआ है, परन्तु प्रतिदिन जाने का काम नहीं पड़ता तब नित्यंप्रति यावन्मात्र काम पड़ता हो तावन्मात्र परिमाण में क्षेत्र रख लेना जैसेकि—आज मैं इस नगर से चार कोस के उपरान्त चारों ओर नहीं जाऊँगा इत्यादि।

ऐसा करने से परिमाण के क्षेत्र में उसका सम्वर भाव हो जाता है तथा परिमाण करते समय यह ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि-क्या मैंने नहीं जाना ? वा किसी और को प्रेषण नहीं करना तथा परिमाण के क्षेत्र से उपरान्त क्रय विक्रय करना वा नहीं करना ? पत्रादि पठन करने हैं या नहीं ? इत्यादि बातों का परिमाण करते समय विवेक कर लेना चाहिए। इस शिक्षा-

व्रत का मुख्योद्देश्य इच्छा का निरोध करना ही है। क्योंकि-इच्छाओं के निरोध से ही आत्मिक शाँति उपलब्ध हो सकती है।

देशावकाशिक व्रत धारण कर लेने के पश्चात् श्रावक को इस व्रत के भी पांच अतिचार छोड़ने चाहिएं जैसेकि—

तयाणन्तरं चणं देसावगासियस्स समणोवासएणं पञ्चअइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा-तंजहा—आणवणप्पओगे पेसवणप्पओगे सद्दाणुवाए रूवाणुवाए वहियापोग्गलपक्खेवे ॥ १० ॥

उपासकदशाङ्गसूत्र अ० ॥ १ ॥

१ आनयनप्रयोग—आवश्यकीय काम पड़ जाने पर परिमाण से बाहिर भूमि से किसी पदार्थ का किसी के द्वारा मंगवाना, यह देशावकाशिक व्रत का प्रथम अतिचार है। क्योंकि-क्षेत्र का परिमाण हो जाने पर फिर परिमाण से बाहिर क्षेत्र से वस्तु का मंगवाना योग्य नहीं है।

२ प्रेष्यप्रयोग—जिस प्रकार बाहिर के क्षेत्र से वस्तु मंगवाने का अतिचार प्रतिपादन किया गया है। उसी प्रकार वस्तु के प्रेषण करने का भी अतिचार जानना चाहिये।

३ शब्दानुपात—परिमाण की भूमि से बाहिर कोई अन्य पुरुष जा रहा हो उस समय आवश्यकीय कार्य कराने के निमित्त मुख के शब्द से अर्थात् आवाज़ देकर उस पुरुष को अपना बोध करा देना। क्योंकि-वह पुरुष जान लेगा कि-यह शब्द अमुक पुरुष का है। इस प्रकार करने से भी अतिचार लगता है।

४ रूपानुपात—जिस समय देशावकाशिक व्रत में बैठा हो उस समय किसी व्यक्ति से कोई काम कराना स्मृति आगया तब अपना रूप दिखला कर उस को बोधित करना उस का नाम रूपानुपात अतिचार है। जैसे कि—गवाक्षादि में बैठकर अपना रूप दिखला देना।

५ पुद्गलाक्षेप अतिचार—परिमाण की हुई भूमि से बाहिर कोई वस्तु गिराकर अपने मन के भावों को औरों के प्रति प्रकाश करना यह भी अतिचार है।

तदनन्तर एकादशवां पौषधोपवास व्रत है। उपवास करके आठ पहर विशेष धर्मध्यान में व्यतीत करना, 'पोषध' कहलाता है। पर्व के दिनों में, जैसे कि-द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी और अमावस्या वा पौर्णमासी आदि तिथियों में शुद्ध वसति पोषधशालादि स्थान में सांसारिक कार्यों को छोड़कर पौषधोपवास करना चाहिए। जहां तक बन पड़े वह पवित्र समय ध्यानवृत्ति में ही लगाना चाहिए, क्योंकि-विना ध्यान समाधि नहीं लग सकती है। साथ ही पौषधोपवास में सांसारिक कार्य वा स्नानादि क्रियाएं त्याग

कर तथा शुद्ध ब्रह्मचारी बनकर अपना पवित्र समय धर्म ध्यान में ही व्यतीत करना चाहिए। यदि विशेष पौषधोपवास न हो सके तो एक मास में दो पौषधोपवास अवश्यमेव करने चाहिएं। क्योंकि-पौषधोपवास द्रव्य और भाव दोनों रोगों के हरण करने वाले हैं। जैसे कि—

पर्व दिनों में पौषधोपवास करने वाले की जठराग्नि मन्द नहीं होती किन्तु ठीक प्रकार से काम करती रहती है। उन को रोग पराभव नहीं करते। पुनः कर्मों की निर्जरा हो जाने से उन के आत्मप्रदेश निर्मल होजाते हैं। क्षुधा (भूख) के सहन करने की शक्ति भी बढ़ जाती है। इसलिए पौषधोपवास अवश्यमेव करना चाहिए।

तयाणन्तरं चणं पोसहोववासस्स समणोवासएणं पञ्चअइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा-अप्पादिलेहिए दुप्पादिलेहिए सिज्जा-संथारे अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सिज्जासंथारे अप्पदिलेहिय उच्चारपासवण-भूमी अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय उच्चारपासवणभूमी पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया ॥

उपासकदशाङ्ग अ० ॥ १ ॥

भावार्थ-दशवें देशावकाशिक व्रत के पश्चात् एकादशवें पौषधोपवास व्रत के पांच अतिचार जानने तो चाहिएं, परन्तु समाचरण न करने चाहिएं। जैसेकि-

१ अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित-शय्यासंस्तारक-जिसस्थान पर पौषधोपवास व्रत धारण करना हो उस शय्या और संस्तारक को भली प्रकार विशेष रूप से निरीक्षण न करना। यदि करना तो अस्थिर चित्त से।

२ अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक-शय्या और संस्तारक भली प्रकार विशेषरूप से रजोहरणादि द्वारा प्रमार्जित न करना। यदि करना तो अस्थिर चित्त से।

३ अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चारप्रस्रवणभूमि-भली प्रकार से विशेष रूप उच्चार (विष्टा) प्रस्रवण (मूत्र) की भूमि को निरीक्षण न करना। यदि करना तो अस्थिर चित्त से।

४ अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि-भली प्रकार विशेषरूप से मल मूत्र के त्यागने की भूमि को प्रमार्जित (शुद्ध) नहीं करना। यदि करना तो अस्थिर चित्त से।

५ पौषधोपवासस्य सम्यग् अननुपालनता-पौषधोपवास सम्यगृतया पालन न करना अर्थात् चित्त की अस्थिरता के साथ पौषधोपवास में नाना

प्रकार के खान पान सम्बन्धी संकल्प विकल्प उत्पन्न करना। इन पांच अति-चार रूप दोषों को छोड़कर शुद्ध पौषधोपवास धारण करना चाहिए।

पौषधोपवास व्रत के पश्चात् द्वादशवाँ अतिथिसंविभाग व्रत विधि पूर्वक पालन करना चाहिए। क्योंकि-साधु का नाम वास्तव में अतिथि है। उस ने सर्व प्रकार की सांसारिक तिथियों को छोड़ कर केवल आत्म-ध्यान में ही चित्त स्थिर करलिया है। अतएव जब वे भिक्षा के लिये गृहों में प्रविष्ट होते हैं तब किसी तिथि के आश्रित होकर घरों में नहीं जाते। नाँही वे प्रथम गृहपति को सूचित करते हैं कि-अमुक दिन हम आप के गृह में भिक्षा के लिये अवश्य आएँगे। अतः ऐसे भिक्षु जो अपनी वृत्ति में पूर्ण दृढ़ता रखते हुए मधुकरी भिक्षा वृत्ति से अपने जीवन को व्यतीत करते हैं, जब वे गृह में पधार जाएँ तब आनन्द पूर्वक प्रसन्न चित्त होकर उन की वृत्ति के अनुसार शुद्ध और निर्दोष पदार्थों की भिक्षा देकर लाभ उठाना चाहिए कारणकि-सुपात्र दान का महाफल इस लोक और परलोक दोनों में प्राप्त होता है। इस लिये सुपात्र दान कर के चित्त परम प्रसन्न करना चाहिए। जो स्वधर्मी भाई साधु मुनिराजों के दर्शनों के वास्ते आते हैं, वे भी उक्त व्रत में ही गर्भित किये जाते हैं। अतः उन की भी यथायोग्य प्रतिपत्ति करने से अतिथि संविभाग की ही आराधना होती है। साथ ही इस बात का भी ज्ञान रहे कि-जो द्रव्य न्यायपूर्वक उत्पादन किया गया है उसी को विद्वान् वर्ग ने अतिथि-संविभाग व्रत के उपयोगी प्रतिपादन किया है। सारांश केवल इतना ही है कि-चतुर्विध संघ की यथायोग्य प्रतिपत्ति करनी श्रावक वर्ग का मुख्य कर्तव्य है। सो जब मुनि महाराज निज गृह में भिक्षा के लिये पधार जाएँ तब शुद्ध चित्त से उन की यथायोग्य आहारादि द्वारा सेवा करनी चाहिए।

तयाणन्तरं चणं अहासंविभागस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—सचित्तनिक्खेवणया सचित्तपिहणिया कालाइक्कमे परववदे से मच्छरिया॥

उपासकदशाङ्गसूत्र अ० ॥१॥

भावार्थ-एकादशवें व्रत के पश्चात् बारहवें अतिथिसंविभाग व्रत के भी पांच अतिचार जानने चाहिए, परन्तु आसेवन न करने चाहिएं। जैसेकि-

१ सचित्तनिक्षेपण अतिचार-साधु को न देने की बुद्धि से निर्दोष पदार्थों को सचित्त पदर्थों पर रखदेना अर्थात् जल पर वा अन्न पर तथा वनस्पति आदि पर निर्दोष पदार्थ रख दे, ताकि साधु अपनी वृत्ति के विप-रीत होने से उस पदार्थ को न ले सके।

२ सचित्तविधानं–न देने की बुद्धि से निर्दोष पदार्थों पर सचित्त पदार्थ रख देने अर्थात् दुग्ध के भाजन को जल के भरे भाजन से ढाँप देना इसी प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी जान लेना चाहिए।

३ कालातिक्रम–भिक्षादि का समय अतिक्रम होजाने के पीछे साधु को आहारादि की विज्ञप्ति करनी और मन में यह भाव रख लेना कि–अकाल में तो इन्हों ने भिक्षा को जाना ही नहीं। अतः विज्ञप्ति करके भावों से लाभ उठालो।

४ परव्यपदेश– न देने की बुद्धि से साधु के सन्मुख कथन करनाकि–हे भगवन् ! अमुक पदार्थ मेरे नहीं हैं; अपितु अन्य के हैं ताकि साधु उन को न मांग सके। क्योंकि–जो साधारण पदार्थ होते हैं, साधु उनको भी विना सबकी सम्मति नहीं ले सकते, फिर जो केवल हैं ही दूसरों के, वह पदार्थ साधु किस प्रकार ले सकते हैं ?

वृत्तिकार लिखते हैं कि—

परव्यपदेशः—परकीयमेतत् तेन साधुभ्यो न दीयते इति साधुसमक्षं भणनम्, जानन्तु साधवो यद्यस्यैतद्भक्तादिकं भवेत्तदा कथमस्मभ्यं न दद्यात् ? इति साधुसम्प्रत्ययार्थं भणनं अथवा अस्माद्दानात्मम मात्रादेः पुण्यमस्त्विति भणनमिति । अर्थ प्राग्वत् ।

सो न देने की बुद्धि से निज पदार्थों को पर के बतलाना यह भी एक अतिचार है।

५ मत्सरिता–अमुक गृहस्थ ने इस प्रकार दान दिया है तो क्या मैं उससे किसी प्रकार न्यूनता रखता हूं ? नहीं, अतः मैं भी दान दूंगा। इस प्रकार असूया वा अहंकार पूर्वक दान करना पांचवाँ अतिचार है।

सो उक्त पांचों अतिचारों को छोड़ कर अतिथिसंविभाग व्रत शुद्ध पालन करना चाहिए।

इस प्रकार श्रावक को सम्यक्त्वपूर्वक द्वादश व्रत पालन करने चाहिएं। यदि इन का विशेष विस्तार देखना हो तो जैन–शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये। क्योंकि—इस स्थान पर तो केवल संक्षेप ही वर्णन किया गया है।

जिस प्रकार समुद्र तैरने के लिये यानपात्र मुख्य साधन होता है वा वायुयान के लिये वायु साधन होता है, गति के लिये धर्म साधन होता है अथवा कर्त्ता को प्रत्येक क्रिया की सिद्धि में करण सहायक बनता है और कर्ता की कर्म सिद्धि की क्रिया में करण सहायक माना गया है, ठीक उसी प्रकार संसार समुद्र से पार होने के लिये मुख्य साधन श्रावक के तीन मनोरथ प्रतिपादन किये गए हैं जैसेकि—

तिहिं ठाणेहिं समणोवासते महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति तंजहा–कया ण महमप्पं वा बहुयं वा परिग्गहं परिचइस्सामि १ कया णं अहं

मुंडे भवित्ता आगारातो अणगारितं पव्वइस्सामि २ कया णं अहं अपच्छिम-मारणंतिय संलेहणा झूसणा झूसिते भत्तपाणपडियातिक्खते पाओवगते कालं अणवकंखमाणे विहरस्सामि ३ एवं समणसा सवयसा सकायसा पागडेमाणे जागरेमाणे समणोवासते महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति ॥

ठाणांगसूत्रस्थान ३ उद्देश ४ सू. ॥ २१० ॥

भावार्थ—तीन प्रकार की शुभ भावनाओं से श्रावक कर्मों की परम निर्जरा और संसार का अन्त कर देता है, परन्तु वे मन, वचन और काय द्वारा होनी चाहिएं। क्योंकि-अन्तःकरण की शुभ भावनाएँ कर्मों की प्रकृतियों की जड़ को निर्मूल करने में सामर्थ्य रखती हैं, जिस कारण आत्मा विकास मार्ग में आजाता है। जैसेकि—

श्रमणोपासक सदैव काल अपने अन्तःकरण में इस बात की भावना उत्पादन करता रहे कि-कब मैं अल्प वा बहुत परिग्रह का परित्याग (दान) करूँगा। क्योंकि—गृहस्थों का मुख्य धर्म दान करना ही है। धार्मिक क्रियाओं में धन का सदुपयोग करना उन का मुख्य कर्तव्य है।

२ कब मैं संसार पक्ष को छोड़कर अर्थात् गृहस्थावास को छोड़कर साधुवृत्ति धारण करूँगा। क्योंकि-संसार में शाँति का मार्ग प्राप्त करना सहज काम नहीं है। मुनिवृत्ति में शाँति की प्राप्ति शीघ्र हो सकती है। अतः मुनिवृत्ति धारण करने के भाव सदैव काल रहने चाहिएं। यह बात भली प्रकार से मानी हुई है कि—जब प्राणी मात्र से वैर जाता रहा तो फिर शांति की प्राप्ति सहज में ही उपलब्ध होजाती है।

३ कब मैं शुद्ध अन्तःकरण के साथ सब जीवों से मैत्रीभाव धारण करके भक्त पानी को छोड़ कर पादोपगमन अनशनव्रत को धारण कर काल की इच्छा न करता हुआ विचरूंगा अर्थात् शुद्ध भावों से समाधि पूर्वक पादोपगमन अनशन व्रत धारण करूंगा। यद्यपि यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि—मृत्यु अवश्यमेव होनी है परन्तु जो पादोपगमन के साथ समाधियुक्त मृत्यु है वह संसार समुद्र से जीवों को पार कर देती है। अतएव जब मृत्यु का समय निकट आ जावे तब सब जीवों से वैरभाव छोड़कर अपने पूर्वकृत पापों का पश्चात्ताप करते हुए गुरु के पास शुद्ध आलोचना करके फिर यथा-शक्ति प्रमाण अनशन व्रत धारण कर लेना चाहिए।

इस अनशन व्रत के शास्त्रकर्त्ता ने पांच अतिचार वर्णन किये हैं उन्हें छोड़ देना चाहिए जैसे कि—

तयाणन्तरं चणं अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा झूसणा राहणाए पंच

अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा—इहलोगासंसप्पओगे परलोगासंसप्पओगे जीवियासंसप्पओगे मरणासंसप्पओगे कामभोगासंसप्पओगे ॥

उपासकदशाङ्ग सूत्र अ॰ ॥ १ ॥

भावार्थ—बारहवें व्रत के पश्चात् श्रावक को अपश्चिम मारणांतिक संलेखना जोषणाराधना व्रत के भी पांच अतिचार जानने चाहिएं, किन्तु आसेवन न करने चाहिएं। जैसेकि-जब अनशन व्रत धारण कर लिया हो तब यह आशा करना कि—मर कर अमात्य वा इभ्य श्रेष्ठादि होजाऊँ १ तथा मर कर देवता बन जाऊँ २ तथा जीवित ही रहूं। क्योंकि-मेरी यशोकीर्त्ति अब अत्यन्त हो रही है ३ वा यशोकीर्त्ति तो हुई नहीं इसलिये अब शीघ्र मृत होजाऊँ तो अच्छा है ४ अथवा मर कर देवता वा मनुष्यों के मुझे काम भोग उपलब्ध हो जायँगे ५।

सो उक्त पांचों अतिचारों को छोड़कर शुद्ध अनशन व्रत के द्वारा आराधना करनी चाहिए। जब श्रमणोपासक श्रावक के द्वादश व्रतों की यथाशक्ति आराधना करले फिर उसको योग्य है कि—श्रमणोपासक की एकादश पडिमाएँ (प्रतिज्ञाएँ) धारण करे। जिनका सविस्तर स्वरूप दशाश्रुत स्कंध सूत्र के ५ वें अध्ययन में वर्णित हैं। इसी का नाम आगारचरित्र धर्म है। इस धर्म की सम्यगृतया आराधना करता हुआ आत्मा कर्मों के बंधन से छूटकर मोक्ष प्राप्त करता है। जिन आत्माओं की सर्व वृत्तिरूप मुनिधर्म ग्रहण करने की शक्ति न हो उन को योग्य है कि-वे गृहस्थ धर्म के द्वारा अपना कल्याण करें।

इति श्री जैनतत्त्वकलिकाविकासे विशेषगृहस्थधर्मस्वरूपवर्णनात्मिका पंचमी कलिका समाप्ता।

अथ षष्ठी कलिका।

अस्तिकायधर्म—अस्तयः—प्रदेशास्तेषां कायो—राशिरस्तिकायः धर्म्मो – गतिपर्याये जीवपुद्गलयोर्धारणादित्यस्तिकायधर्मः ॥१०॥

भावार्थ—अस्ति प्रदेशों का नाम है, काय—उन की राशि का नाम है, अर्थात् जो प्रदेशों का समूह है, उसी का नाम धर्मास्तिकाय है। क्योंकि—जो द्रव्य सप्रदेशी है वह काय के नाम से कहा जाता है। फिर उस द्रव्य का जो स्वाभाविक लक्षण वा गुण है, उस गुण की अपेक्षा उस द्रव्य की वही नाम संज्ञा बन जाती है। जब द्रव्य लक्षण और पर्याय से युक्त होता है तब व्यवहार पक्ष में वह नाना प्रकार की क्रियाएँ करता दीख पड़ता है। इसका मुख्य कारण यह भी है कि—जैनमत द्रव्यार्थिक नय के मत से प्रत्येक द्रव्य को अनादि अनंत

मानता है; परन्तु पर्यायार्थिक नय के मत से प्रत्येक द्रव्य अपनी वर्त्तमान की पर्याय क्षणभंगुर में रखता है । क्योंकि—"सत् द्रव्यलक्षणम्" द्रव्य का लक्षण सत् प्रतिपादन किया गया है, किन्तु "उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" जो उत्पन्न व्यय और ध्रौव्य इन तीनों दशाओं से युक्त हो उसी की द्रव्य संज्ञा है। जैसे कि—मृत्ति का (मिट्टी) का पिंड कभी तो घटाकार होजाता है, कभी ईंटाकार और कभी अन्य रूप में परिणत होजाता है। उसके आकारों में तो परिवर्त्तन होता ही रहता है, परन्तु यदि निश्चय नय के मत के आश्रित होकर विचार किया जाय तब मृत्तिका द्रव्य ध्रौव्य भाव में निश्चित होगा । क्योंकि—चाहे उस द्रव्य से किसी पदार्थ की भी निष्पत्ति होजाए परन्तु प्रत्येक पर्याय में मृत्तिका द्रव्य सद्रूप से विद्यमान रहता है । ठीक इसी प्रकार जैनमत भी प्रत्येक द्रव्य की यही दशा वर्णन करता है। द्रव्यों के समूह का नाम ही जगत् वा लोक है। अतएव यह स्वतः ही सिद्ध होजाता है कि—जब द्रव्य अनादि अनन्त है तो भला फिर जगत् सादि सान्त कैसे सिद्ध होगा? कदापि नहीं।

इसलिये द्रव्यार्थिक नय के मत से यह जगत् अनादि अनन्त है। परन्तु किसी पर्याय के आश्रित होकर उस क्षणस्थायी पर्याय के अवलम्बन से उस द्रव्य को क्षणविनश्वर कह सकते हैं जैसे-मनुष्य की पर्याय को लेकर मनुष्य की अस्थिरता का प्रतिपादन करना। क्योंकि—मनुष्य पर्याय की अस्थिरता का वर्णन किया जा सकता है, नतु जीव की अस्थिरता वा जीव की अनित्यता का।

अतएव निष्कर्ष यह निकला कि—इस जगत् में मूल तत्त्व दो ही हैं, एक जीव और दूसरा जड़। सो दोनों के विस्तार का नाम जगत् है । दोनों द्रव्यों का जो अनादि स्वभाव (धर्म) है उसी को अस्तिकाय धर्म कहते हैं।

जैनमत में छः द्रव्यात्मक जगत् माना गया है, जैसे कि—धर्म द्रव्य १ अधर्मद्रव्य २ आकाश द्रव्य ३ कालद्रव्य ४ पुद्गलद्रव्य ५ और जीव द्रव्य ६ इन छः द्रव्यों में केवल एक द्रव्य जो काल संज्ञक है, उसको अप्रदेशी द्रव्य माना गया है, शेष पांच द्रव्य सप्रदेशी कथन किये गए हैं। क्योंकि—काल द्रव्य के प्रदेश नहीं होते हैं । केवल किसी अपेक्षा पूर्वक उसके भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान यह तीन विभाग हो जाते हैं। अपितु जो धर्मादि द्रव्य हैं वे सप्रदेशी होने से उनकी "पंचास्तिकाय" संज्ञा कथन की गई है। इन ६ द्रव्यों के लक्षण शास्त्रकार ने निम्न प्रकार से कथन किये हैं—जैसे कि—

गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे ॥

उत्तराध्ययन सूत्र २८ गा० ६ ।

टीका—गुणानां रूपरसस्पर्शादीनां आश्रयः स्थानं द्रव्यं यत्र गुणा उत्पद्यन्तेऽवतिष्ठन्ते विलीयन्ते तत् द्रव्यं इत्यनेन रूपादिवस्तु द्रव्यात् सर्वथा अतिरिक्तं अपि नास्ति। द्रव्ये एव रूपादिगुणा लभ्यन्ते इत्यर्थः—गुणाहि एकद्रव्याश्रिताः एकस्मिन् द्रव्ये आधारभूते आधेयत्वेनाश्रिता एकद्रव्याश्रितास्ते गुणा उच्यन्ते इत्यनेन ये केचित् द्रव्यं एव इच्छन्ति तद्व्यतिरिक्तान् रूपादीन् इच्छन्ति, तेषां मतं निराकृतं, तस्माद् रूपादीनां गुणानां द्रव्येभ्यो भेदोप्यस्ति तु पुनः पर्यायाणां नवपुरातनादिरूपाणां भावानां, एतल्लक्षणं ज्ञेयं एतत् लक्षणं किं ? पर्याया हि उभयाश्रिता भवेयुः उभयोर्द्रव्यगुणयोराश्रिताः उभयाश्रिताः, द्रव्येषु नवीनपर्यायाः नाम्ना आकृत्या च भवंति गुणेष्वपि नवपुराणादिपर्यायाः प्रत्यक्षं दृश्यन्ते एव ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस गाथा में द्रव्य गुण और पर्याय के लक्षण वर्णन किये गए हैं। जैसे-कि–गुणों का आश्रित द्रव्य होता है अर्थात् जहां गुण ठहरते हैं उसी का नाम द्रव्य है। फिर उसी प्रकार एक द्रव्य के आश्रित गुण होते हैं क्योंकि इस स्थान पर द्रव्य आधार भूत और गुण आधेय भाव में कथन किये गए हैं। सारांश केवल यह ही है कि–कोई २ वादी द्रव्य से गुण पृथक् मानते हैं, उनके मत का निराकरण किया गया है। अतएव द्रव्य गुण युक्त कथन किया गया है। क्योंकि यह बात स्वाभाविक मानी हुई है कि गुण द्रव्य के आश्रित ही देखे जाते हैं, जैसे कि—घट का रूप। जब उस घट के रूप के नाश करने की उत्कटता बढ़ जाएगी तब वह घट भी न रहेगा। अतएव गुण द्रव्य के आश्रय हैं और किसी विवक्षित द्रव्य के आश्रय गुण देखे जाते हैं। परन्तु परस्पर पृथक् नहीं हैं, जैसे कि—गुणों से शून्य द्रव्य माना जाये और द्रव्य से पृथक् गुण स्वीकार किए जाएं। परन्तु पर्यायों का यह लक्षण जानना चाहिए कि वह गुण और द्रव्य दोनों के आश्रित होकर रहता है। जिस प्रकार द्रव्य नवीन २ आकृतियां धारण करता है, उसी प्रकार गुणों में भी नव पुरातन पर्यायें देखी जाती हैं। अतएव शास्त्रकार ने यही प्रतिपादन किया है कि पर्याय गुण और द्रव्य इन दोनों के आश्रित होकर ठहरता है। क्योंकि-गुण पर्याय युक्त द्रव्य माना गया है, परन्तु पर्याय द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित होकर रहता है।

यदि द्रव्य केवल गुण और पर्याय शून्य ही माना जायेगा तब संसार में जो नाना प्रकार की रचना देखने में आती है, वह सर्व असत्य सिद्ध हो जायेगी। क्योंकि—जब द्रव्य गुण और पर्याय से शून्य होगा तब वह अक्रियात्मक हो जायगा। जब द्रव्य नाना प्रकार के रूपों में परिवर्त्तनशील देखा जाता है, तब इस से निश्चय होता है कि—जब द्रव्य और गुण में पर्याय परिवर्त्तन होता है तब संसार की नाना प्रकार की रचनाएँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। यदि केवल गुण में वा केवल द्रव्य में ही पर्याय परिवर्त्तन माना

जाय तब एक पक्ष नित्य अवश्यमेव सिद्ध हो जायगा। किन्तु इस प्रकार देखा नहीं जाता। अतएव द्रव्य को गुण पर्याय युक्त मानना ही युक्तियुक्त है। जैसे द्रव्य पुद्गल है उस के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श गुण हैं। नाना प्रकार की आकृतियां तथा नव पुरातनादि व्यवस्थाएँ उस की पर्याय होती हैं। इस लिये द्रव्य उक्त गुण युक्त मानना युक्ति-संगत है। यद्यपि द्रव्य का लक्षण सत् प्रतिपादन किया गया है, तथापि "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" उत्पन्न व्यय और ध्रौव्य लक्षण वाला ही द्रव्य सत् माना गया है। जिस प्रकार एक सुवर्ण द्रव्य नाना प्रकार के आभूषणों की आकृतियां धारण करता है और फिर वे आकृतियां उत्पाद व्यय युक्त होने पर भी सुवर्ण द्रव्य को ध्रौव्यता से धारण करती हैं। सो इसी का नाम द्रव्य है।

यदि ऐसे कहा जाय कि—एक द्रव्य उत्पाद और व्यय यह दोनों विरोधी गुण किस प्रकार धारण कर सकता है? तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि—पर्याय क्षण विनश्वर माना गया है। पूर्व क्षण से उत्तर क्षण विलक्षणता सिद्ध करता है। जिस प्रकार कंकण से मुद्रिका की आकृति में सुवर्ण चला गया है, परन्तु सुवर्ण दोनों रूपों में विद्यमान रहता है। हाँ पूर्व पर्याय उत्तर पर्याय की आकृति को देख नहीं सकता है। क्योंकि—जिस प्रकार अंधकार और प्रकाश एक समय एकत्व में नहीं रह सकते हैं उसी प्रकार पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय भी एक समय इकट्ठे नहीं हो सकते हैं।

जैसे युवावस्था वृद्धावस्था की आकृति को नहीं देख सकती, उसी प्रकार पूर्व पर्याय उत्तर पर्याय का दर्शन नहीं कर सकती; परन्तु शरीर दोनों अवस्थाओं को धारण करता है, उसी प्रकार द्रव्य उत्पाद और व्यय दोनों पर्यायों के धारण करने वाला होता है।

जिस प्रकार हम रात्रि और दिवस दोनों का भली भांति अवलोकन करते हुए धारण करते हैं, परन्तु रात्रि और दिवस वे दोनों युगपत् (इकट्ठे हुए) नहीं देखे जाते, ठीक उसी प्रकार द्रव्य दोनों पर्यायों को धारण करता हुआ अपनी सत्ता सिद्ध करता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—द्रव्यों की संख्या कितनी मानी गई है? इसके उत्तर में सूत्रकार वर्णन करते हैं। जैसेकि—

धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गलजंतवो।
एस लोगोत्ति पएणत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥

उत्तराध्ययन सूत्र अ. २८ गा० ॥७॥

वृत्ति—धर्म्म इति—धर्मास्तिकायः १ अधर्म्म इति—अधर्मास्तिकायः २ आकाशमिति आकाशास्तिकायः ३ कालः समयादिरूपः—४ पुग्गलत्ति—पुद्गलास्तिकायः ५ जन्तव इति जीवाः ६

एतानि षट् द्रव्याणि ज्ञेयानि, इति अन्वयः एष इति सामान्यप्रकारेण इत्येवं रूपः उक्तः षट्द्रव्यात्मको लोको जिनैः प्रज्ञप्तः कथितः कीदृशैर्जिनैर्वरदर्शिभिः सम्यक् यथास्थितवस्तुरूपज्ञैः ॥ ७ ॥

भावार्थ—सामान्यतया यदि देखा जाय तो संसार में जीव और अजीव यह दोनों ही द्रव्य देखे जाते हैं। परन्तु जब रूपी और अरूपी द्रव्यों पर विचार किया जाता है तब छः द्रव्य सिद्ध होते हैं । यद्यपि जीव द्रव्य वास्तव में अरूपी प्रतिपादन किया गया है तथापि अजीव द्रव्य रूपी और अरूपी दोनों प्रकार से माना गया है जिसका वर्णन आगे यथास्थान किया जायगा । किन्तु इस स्थान पर तो केवल षट् द्रव्यों के नाम ही प्रतिपादन किये गये हैं। जैसेकि—धर्मास्तिकाय १ अधर्मास्तिकाय २ आकाशास्तिकाय ३ कालद्रव्य ४ पुद्गलास्तिकाय ५ और जीवास्तिकाय ६ ।

श्री अर्हन्त भगवन्तों ने यही षट् द्रव्यात्मक लोक प्रतिपादन किया है अर्थात् षट् द्रव्यों के समूह का नाम ही लोक है। जहां पर षट् द्रव्य न हों केवल एक आकाश द्रव्य ही हो उसका नाम अलोक है। नाना प्रकार की जो विचित्रता दृष्टिगोचर होरही है यह सब षट् द्रव्यों के विस्तार का ही माहात्म्य है। अतएव यह लोक षट् द्रव्यात्मक माना गया है ।

साथ ही शास्त्रकार ने जो "वर" शब्द गाथा में दिया है, उसका कारण यह है कि—अवधिज्ञानी वा मनःपर्यवज्ञानी जिनेन्द्रों ने उक्त कथन नहीं किया है। किन्तु जो केवल ज्ञानी जिनेन्द्र देव हैं उन्हों ने ही षट् द्रव्यात्मक लोक प्रतिपादन किया है । क्योंकि—अवधिज्ञानी और मनःपर्यवज्ञानी जिन तो अरूपी पदार्थों को सर्व प्रकार से देख नहीं सकते हैं, किन्तु जो केवल ज्ञानी जिन हैं जिन्हों के ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अंतराय यह चारों घातियें कर्म नष्ट हो गये हैं, उन्होंने ही षट् द्रव्यात्मक लोक प्रतिपादन किया है।

पुनः उसी विषय में कहते हैं ।

धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गलं जंतवो ॥ ८ ॥

उत्तराध्ययन अ. २८ गा. ॥ ८ ॥

वृत्ति—धर्मादिभेदानाह—धर्म्म १ अधर्म्म २ आकाशं ३ द्रव्यं इति प्रत्येकं योज्यं-धर्म्मद्रव्यं अधर्म्मद्रव्यं आकाशद्रव्यमित्यर्थः। एतत् द्रव्यं त्रयं एकैकं इति एकत्वं युक्तं एव तीर्थंकरैः आख्यातं अग्रेतनानि त्रीणि द्रव्याणि अनंतानि स्वकीयस्वकीयानन्तभेदयुक्तानि भवंति तानि त्रीणि द्रव्याणि कानि ? कालः समयादिरनन्तः अतीतानागताद्यपेक्षया पुद्गला अपि अनन्ताः जन्तवो जीवा अपि अनन्ता एव । अथ षट्द्रव्यलक्षणमाह ।

भावार्थ—श्री भगवान् ने षड्द्रव्यात्मक लोक प्रतिपादन किया है। वे द्रव्य

इस प्रकार लोक में अपनी सत्ता रखते हैं जैसेकि–धर्मद्रव्य १ अधर्मद्रव्य २ और आकाश द्रव्य ३ ये तीनों द्रव्य असंख्यातप्रदेशप्रमाण लोक में एक एक संख्या के धारण करने वाले प्रतिपादन किये गए हैं। यद्यपि आकाश द्रव्य भी अनंत है परन्तु लोक में वह असंख्यात प्रदेशों को धारण किये हुए ही रहता है। क्योंकि—लोक असंख्यात योजनों के आयाम और विष्कंभ के धारण करने वाला है। अतएव शास्त्रकार ने धर्म, अधर्म तथा आकाश ये तीनों द्रव्य लोक में एक २ ही प्रतिपादन किये हैं। यद्यपि धर्मद्रव्य के स्कन्ध, देश और प्रदेश रूप तीन भेद प्रतिपादन किये गए हैं तथापि भेद केवल जिज्ञासुओं के बोध के लिये ही दिखलाए गए हैं, किन्तु वास्तव में धर्मद्रव्य अविछिन्न भाव से एक रूप होकर ही लोक में स्थित है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य और आकाश-द्रव्य के विषय में जानना चाहिए। जिस प्रकार धर्मद्रव्य अविछिन्न भाव से लोक में स्थित है, ठीक उसी प्रकार अधर्म और आकाश द्रव्य भी लोक में स्थित हैं। किन्तु कालद्रव्य १, पुद्गलद्रव्य २ और जीवद्रव्य ३ ये तीनों लोक में अनंत प्रतिपादन किये गए हैं। क्योंकि–तीनों काल की अपेक्षा काल-द्रव्य अनंत प्रतिपादन किया गया है। जैसेकि–जब द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से संसार अनादि अनंत है तब भूतकाल वा भविष्यत् काल भी अनंत सिद्ध हो जाता है। अतएव कालद्रव्य तीनों काल की अपेक्षा से अनंत प्रतिपादन किया गया है। ठीक उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी अनंत कथन किया गया है। क्योंकि-एक परमाणु पुद्गल से लेकर अनंत प्रदेशी स्कन्ध पर्यन्त पुद्गलद्रव्य विद्यमान है। वह अनंत वर्गणाओं के समूह का उत्पादक भी है। इस लिये यह द्रव्य भी लोक में अपने द्रव्य की अनंत संख्या रखता है। जिस प्रकार पुद्गल-द्रव्य अनंत है, ठीक उसी प्रकार जीव द्रव्य भी अनंत है अर्थात् लोक में अनंत आत्माएँ निवास करती हैं।

कतिपय वादियों ने एक आत्मा ही स्वीकार किया है। उनका मन्तव्य यह है कि—एक आत्मा का ही प्रतिबिम्ब रूप अनेक आत्माएँ हैं। वास्तव में शुद्ध आत्मद्रव्य एक ही है। तथा किसी वादी ने आत्मद्रव्य भिन्न २ माना है। एक आत्मा के मानने वालों का सिद्धान्त युक्तियों से बाध्य कर दिया है। परन्तु जैन-सिद्धान्तकारों ने आत्मद्रव्य द्रव्यरूप से अनंत स्वीकार किया है परन्तु ज्ञानात्मा के मत से आत्मद्रव्य एक भी है। जिस प्रकार सहस्र दीपक द्रव्यरूप से सहस्र रूप ही हैं परन्तु सहस्र दीपकों का प्रकाश गुण एक ही है ठीक उसी प्रकार आत्मद्रव्य अनंत होने पर भी ज्ञानदृष्टि और गुण के सम होने पर एक ही है। परन्तु व्यवहार पक्ष में आत्मद्रव्य अनंत है। अतएव काल-द्रव्य पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य अनंत प्रतिपादन किये गए हैं।

अब शास्त्रकार षद्द्रव्यों के लक्षण विषय कहते हैं—

गइलक्खणो उधम्मो अहम्मोठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाह लक्खणं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८ गा० ॥ ६ ॥

वृत्ति—धम्मों धर्मास्तिकायो गतिलक्षणो ज्ञेयः, लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनेति लक्षणम् एकस्माद्देशात् जीवपुद्गलयोर्देशान्तरं प्रति गमनं गतिर्गतिरेव लक्षणं यस्य स गतिलक्षणः । अधम्मों अधर्मास्तिकायः, स्थितिलक्षणो ज्ञेयः स्थितिः स्थानं गतिनिवृत्तिः सैव लक्षणं अस्येति स्थानलक्षणोऽधर्मास्तिकायो ज्ञेयः, स्थिति-परिणतानां जीवपुद्गलानां स्थितिलक्षणकार्यं ज्ञायते स अधर्मास्तिकायः यत्पुनः सर्वद्रव्याणां जीवादीनां भाजनं आधाररूपं नभः आकाशं उच्यते तत् च नभः अवगाहलक्षणं अवगाढुं प्रवृत्तानां जीवानां पुद्गलानां आलम्बो भवति इति अव-गाहः अवकाशः स एव लक्षणं यस्य तत् अवगाहलक्षणं नभ उच्यते ॥ ६ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त गाथाओं में द्रव्यों के नाम वा उन का परिमाण प्रति-पादन किया गया है, किन्तु इस गाथा में द्रव्यों के लक्षण-विषय प्रतिपादन किया गया है । जैसे कि-धर्मद्रव्य का गति लक्षण है, क्योंकि-जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाय वा लक्षित किया जाय उसी को लक्षण कहते हैं, सो जब जीव वा पुद्गल द्रव्य गति करने में प्रवृत्त होते हैं तब उस समय धर्मद्रव्य उन की गति में सहायक बनता है । जिस प्रकार चलने वालों के लिये राज-मार्ग सहायक होता है तथा मत्स्य की गति में जल सहायक होता है ठीक उसी प्रकार जीव और पुद्गल की गति में धर्मद्रव्य सहायक बनजाता है परन्तु धर्मद्रव्य स्वयं उक्त द्रव्यों की गति में प्रेरक नहीं माना जाता जैसे कि—जल वा राजमार्ग जीव और पुद्गल की गति में प्रेरक नहीं है परन्तु सहायक है ठीक उसी प्रकार धर्मद्रव्य गति में प्रवृत्त हुए जीव और पुद्गल की सहा-यता में उपस्थित हो जाता है । अतएव धर्मद्रव्य का गति लक्षण प्रतिपादन किया है । सो जिस प्रकार धर्मद्रव्य गति में सहायक माना गया है ठीक उसी प्रकार जब जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य स्थिति में (ठहरने में) उपस्थिति करते हैं, तब अधर्मद्रव्य उन की स्थिति में सहायक बनता है, इसी वास्ते अधर्मद्रव्य का स्थिति लक्षण प्रतिपादन किया गया है ।

जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु से पीडित पथिक गमन क्रिया के समय एक छाया से सुशोभित वृक्ष का सहारा मानता है अर्थात् छाया-युक्त वृक्ष के नीचे बैठ जाता है उस समय माना जाता है कि—गति क्रिया के निरोध में वृक्ष स्थिति में सहायक बन गया, ठीक उसी प्रकार जीव और पुद्गल की स्थिति में अधर्मद्रव्य असाधारण कारण माना जाता है ।

फिर सर्वद्रव्यों का भाजनरूप आकाशद्रव्य जो प्रतिपादन किया गया है, उस का अवकाशरूप लक्षण कथन किया है, क्योंकि—आकाश का लक्षण वास्तव में अवकाशरूप ही है जिस प्रकार दुग्ध से भरे हुए कलश में शर्करादि पदार्थ समवतार हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ को अवकाश देने के लिये आकाशद्रव्य भाजनरूप माना गया है। तथा जिस प्रकार सहस्र दीपकों का प्रकाश परस्पर सम्मिलित होकर ठहर जाता है ठीक उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य आकाश में सम्मिलित होकर ठहरे हुए हैं। अतएव आकाश का अवकाशरूप लक्षण ही मानना युक्तियुक्त है। यद्यपि कतिपय वादियों ने "शब्दगुणकमाकाशम्" इस प्रकार से पाठ माना है, परन्तु उन का यह लक्षण युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि—यह बात स्वतः सिद्ध है कि—गुणी प्रत्यक्ष और गुण परोक्ष होता है परन्तु इस स्थान पर शब्दरूप गुण तो इन्द्रिय-ग्राह्य है और आकाश इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थ नहीं माना गया है तथा च-

काणाद शब्दस्तव चेन्नभोगुणोऽतीन्द्रियः स्यात् परिमाणवत्कथम् ?
गुणोऽपि चेत्तर्हि तदाश्रये च द्रव्येऽगृहीते किमु गृह्यतेऽसौ ? ॥

युक्तिप्रकाश श्लोक ॥ २२ ॥

टीका-अथ शब्दस्य गुणत्वं निषेधयति। काणाद-हे काणाद! तव मते चेत्-नभोगुणः शब्दोऽस्ति तदाऽतीन्द्रिय इन्द्रियाऽग्राह्यः कथं न स्यात् परिमाणवत् ? अधिकाराद् गगनपरिमाणमिव यथा गगनपरिमाणं तद्गुणत्वेनाऽतीन्द्रियं तथा शब्दो भवेदिति तस्मात् न गगनगुणः शब्दः। ननु शब्दस्य गगनगुणत्वं माऽस्तु तथाऽपि कस्यचिद् द्रव्यान्तरस्य गुणोऽयं भविष्यतीति वैशेषिककदाशां निराकरोति चेत् शब्दो गुणस्तर्हि तदाश्रये द्रव्येऽगृहीतेऽसौ कथं गृह्यते ? तस्मान्नायं गुणोऽपीति वृत्तार्थः-

भावार्थ—इस कारिका का मन्तव्य यह है कि-जब आकाश इन्द्रिय अग्राह्य पदार्थ है तो भला उस का गुण जो शब्द माना गया है वह इन्द्रिय अग्राह्य कैसे न होगा ? अपितु अवश्यमेव होना चाहिए। परन्तु शब्द श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य माना गया है अत एव शब्द आकाश का गुण युक्तिपूर्वक सिद्ध नहीं होता यदि ऐसे कहा जाय कि-आकाश में जो द्रव्य स्थित हैं उन द्रव्यों में जब परस्पर संघर्षण होता है तब शब्द उत्पन्न होजाता है, अतएव आकाशस्थ द्रव्य होने से वह शब्द आकाश का ही मानना चाहिए। इस शंका का यह समाधान किया जाता है कि-जब द्रव्यों के संघर्षण से शब्द उत्पत्ति मान ली जाए तब आकाश का गुण शब्द तो सर्वथा निर्मूल सिद्ध होगया। क्योंकि-आकाश-एक अरूपी पदार्थ संघर्ष करता ही नहीं है। अरूपी पदार्थ एक रसमय होता है। यदि आकाश में स्थित परस्पर द्रव्य संघर्षण करते हैं उन के कारण से शब्द

उत्पन्न होगया, इस प्रकार माना जाय तब भी यह पक्ष युक्तियुक्त नहीं है क्यों कि-आकाश द्रव्य तो सर्व द्रव्यों का भाजनरूप सिद्ध हो ही गया अब शेष द्रव्य जो माने गए हैं उन पर विचार करना रहा।

पुद्गलद्रव्य के स्कन्ध पर परस्पर संघर्षण करने से शब्द होता है यदि इस प्रकार माना जाय तब तो कोई भी आपत्ति की बात नहीं है। क्योंकि हमारा भी यह मन्तव्य है। यदि दिशादि द्रव्य माने जाएँ तब उनके मानने से वही दोष उत्पन्न होता है, जो आकाश का गुण शब्द मानने पर सिद्ध हो चुका है। अत-एव जैन-सिद्धान्तानुसार आकाश का लक्षण अवकाश रूप जो प्रतिपादन किया गया है वही युक्तियुक्त है।

अब सूत्रकार शेष द्रव्यों के लक्षणविषय कहते हैं।

वत्तणालक्खणो कालो जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य ॥

उत्तराध्ययनसूत्र अ. २८ गा. ॥ १० ॥

वृत्ति-वर्त्तते अनवच्छिन्नत्वेन निरन्तरं भवति इति वर्त्तना सा वर्त्तना एव लक्षणं लिङ्गं यस्येति वर्त्तनालक्षणः काल उच्यते तथा उपयोगो मति-ज्ञानादिकः स एव लक्षणं यस्य स उपयोगलक्षणो जीव उच्यते। यतोहि ज्ञानादि-भिरेव जीवो लक्ष्यते उक्तलक्षणत्वात्। पुनर्विशेषलक्षणमाह-ज्ञानेन विशेषा-वबोधेन च पुनर्दर्शनेन सामान्यावबोधरूपेण च पुनः सुखेन च पुनर्दुःखेन च ज्ञायते स जीव उच्यते॥

भावार्थ-जो सदैव काल वर्त रहा है, जिसके वर्त्तने में कोई भी विघ्न उपस्थित नहीं होता, उसी का नाम काल है सो वर्त्तना ही काल का लक्षण प्रतिपादन किया गया है। जब पदार्थों की पुरातन वा नवीन दशा देखी जाती है, तब इसी द्वारा ही कालद्रव्य की सिद्धि होती है। क्योंकि-वर्त्तनालक्षण ही कालद्रव्य का प्रतिपादन किया गया है। सो उसी के द्वारा पदार्थों की नूतन वा पुरातन दशा देखी जाती है, किन्तु जीवद्रव्य का लक्षण उपयोग प्रति-पादन किया है। क्योंकि-ज्ञान ही जिसका लक्षण है वही उपयोगलक्षण युक्त जीव है।

इस स्थान पर लक्ष्य और लक्षण अधिकरण द्वारा प्रतिपादन किया गया है। परन्तु अवकरण द्वारा जीव द्रव्य की सिद्धि की जाती है। जैसेकि-ज्ञान-विशेष बोध से, दर्शन-सामान्यबोध से, सुख और दुःख से जो जाना जाता है वही जीव द्रव्य है। साराँश इतना ही है कि जिस को ज्ञान और दर्शन हो साथ ही सुख और दुःखों का अनुभव हो उसी का नाम जीव है। पदार्थों का बोध और सुख दुःख का अनुभव यह लक्षण जीव के बिना अन्य किसी भी द्रव्य में

उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि पुद्गलद्रव्य के कतिपय स्कन्ध क्रिया करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु उन क्रियाओं में विचार-शक्ति तथा सुख दुःखों का अनुभव करना सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार अनेक शाकों के भाजनों में दर्वी (कडछी) भ्रमण तो करती है परन्तु उन पदार्थों के रस के ज्ञान से वह वंचित ही रहती है, कारण कि--वह स्वयं जड़ है। इसी प्रकार घड़ी जनता को प्रत्येक समय का विभाग करके तो दिखलाती है, परन्तु स्वयं उस ज्ञान से वंचित होती है। अतएव जीव की सिद्धि जो सूत्रकार ने चार लक्षणों द्वारा प्रतिपादन की है वह युक्तियुक्त होने से सर्वथा उपादेय है। जैसेकि-जिस को प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान है, जिस की श्रद्धा दृढतर है, फिर जो सुख वा दुःख का अनुभव करता दृष्टिगोचर होता है, उसी की जीव संज्ञा है। इस से निष्कर्ष यह निकला कि-उपयोगलक्षण युक्त जीव प्रतिपादित है।

अब सूत्रकार जीवद्रव्य के लक्षणान्तरविषय में कहते हैं।

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एमं जीवस्स लक्खणं ॥११॥

उत्तराध्ययनसूत्र अ. २८ गा. ॥ ३१ ॥

वृत्ति—ज्ञानं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं च पुनर्दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं च पुनश्चरित्रं क्रिया चेष्टादिकं तथा तपो द्वादशविधं तथा वीर्यं वीर्यान्तराय क्षयोपशमात् उत्पन्नं सामर्थ्यं पुनरुपयोगो ज्ञानादिषु एकाग्रत्वं एतत् सर्वं जीवस्य लक्षणम् ॥

भावार्थ—जिस प्रकार १० वीं गाथा में जीव द्रव्य के लक्षण प्रतिपादन किये गए हैं, उसी प्रकार ११ वीं गाथा में भी जीव द्रव्य के ही लक्षण प्रतिपादित हैं। जैसेकि—जिसके द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाना जाय उस का नाम ज्ञान है तथा जिसके द्वारा पदार्थों के स्वरूप को सम्यगृतया देखा जाय उस का नाम दर्शन है। सो जीव ज्ञान, दर्शन तथा काय की चेष्टादि की जो संज्ञा चारित्र है उस से तथा द्वादशविध तप से युक्त है। इतना ही नहीं किन्तु वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम भाव से जो आत्मिक सामर्थ्य उत्पन्न हुआ है उस वीर्य से युक्त तथा ज्ञानादि में एकाग्र अर्थात् ज्ञानादि में उपयोग युक्त है। ये सब जीव द्रव्य के लक्षण हैं। अर्थात् इन लक्षणों द्वारा ही जीव द्रव्य की सिद्धि होती है क्योंकि-लक्षणों द्वारा ही पदार्थों का ठीक २ बोध हो सकता है। परन्तु इस बात का अवश्य ध्यान कर लेना चाहिए कि—एक आत्मभूत लक्षण होता है दूसरा अनात्मभूत लक्षण होता है। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता आत्मभूत लक्षण है, ठीक उसी प्रकार दण्ड पुरुष का अनात्मभूत लक्षण है। सो ज्ञान, दर्शन, वीर्य और उपयोग इत्यादि यह सब आत्मभूत जीव द्रव्य के लक्षण प्रतिपादन किये गए हैं।

अब शास्त्रकार पुद्गल द्रव्य के लक्षणविषय कहते हैं—

सद्दंधयार उज्जोओ पहाछायातवे इया।
वण्णगंधरसा फासा पुग्गलाणं तु लक्खणम्॥ १२॥

उत्तराध्ययन सूत्र २८ गा. १२

वृत्ति—शब्दो ध्वनिरूपपौद्गलिकस्तथान्धकारं तदपि पुद्गलरूपं तथा उद्योतो रत्नादीनां प्रकाशस्तथा प्रभा चन्द्रादीनां प्रकाशः तथा छाया वृक्षादीनां छाया शैत्यगुणा तथा आतपो रवेरुष्णप्रकाशः इति पुद्गलस्वरूपं वा शब्दः समुच्चये वर्णगंधरसस्पर्शाः पुद्गलानां लक्षणं ज्ञेयं वर्णाः शुक्लपीतहरितरक्तकृष्णादयो गंधो दुर्गन्धसुगन्धात्मको गुणः रसाः षट् तीक्ष्णकटुककषायाम्लमधुरलवणाद्याः स्पर्शाः शीतोष्णखरमृदुस्निग्धरूक्षलघुगुर्वादयः एते सर्वेपि पुद्गलास्तिकायस्कन्ध-लक्षणवाच्याः ज्ञेयाः इत्यर्थः एभिर्लक्षणैरेव पुद्गला लक्ष्यन्ते इति भावः॥

भावार्थ—पांच द्रव्यों के लक्षण कथन करने के पश्चात् अब छठे पुद्गल द्रव्य के लक्षण विषय सूत्रकार कहते हैं। स्मृति रहे पूर्वोक्त पांच द्रव्य अरूपी और अमूर्तिक कथन किये गए हैं। परंच पुद्गलद्रव्य रूपी है। इसलिये इसके लक्षण भी रूपी ही हैं। जो शब्द होता है वह पुद्गलात्मक है। क्योंकि जिस समय पुद्गल द्रव्य के परमाणु स्कन्ध रूप में परिणत होते हैं, तब उनमें परस्पर संघर्षण होने के कारण एक ध्वनि उत्पन्न हो जाती है। वह ध्वनि अथवा शब्द तीन प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। जैसे कि जीव, अजीव और मिश्रित शब्द।

जिस पुद्गलद्रव्य को लेकर जीव भाषण करता है वह जीव शब्द कहा जाता है। जो अजीव पदार्थ परस्पर संघर्षण से शब्द उत्पन्न करते हैं उसे अजीव शब्द कहते हैं। जीव और अजीव के मिलने से जो शब्द उत्पन्न होता है उसका नाम मिश्रित शब्द है जैसे वीणा का बजना।

जिस प्रकार शब्द पुद्गल का लक्षण है उसी प्रकार अंधकार भी पुद्गल द्रव्य का ही लक्षण है। क्योंकि—यह कोई अभाव पदार्थ नहीं है। जिस प्रकार प्रकाश की सिद्धि की जाती है, ठीक उसी प्रकार अंधकार की भी सिद्धि होती है। रत्नादि का उद्योत, चन्द्रादि की प्रभा (प्रकाश), वृक्षादि की छाया जो शैत्यगुण युक्त होती है, रवि (सूर्य) का आतप (प्रकाश) यह सब पुद्गल द्रव्य के लक्षण हैं। जिस प्रकार ऊपर लक्षण कथन किये गए हैं ठीक उसी प्रकार पांच वर्ण जैसे—कृष्ण, पीत, हरित, रक्त और श्वेत; दो गंध जैसे—सुगंध और दुर्गन्ध; पांच रस जैसे—तीक्ष्ण, कटुक, कषाय, खट्टा और मधुर, आठ स्पर्श जैसे कि—कर्कश, सकोमल, लघु, गुरु, रूक्ष, स्निग्ध, शीत और

उष्ण यह सब पुद्गलास्तिकाय के लक्षण जानने चाहिएं।

सारांश इस का इतना ही है कि—उक्त लक्षणों द्वारा पुद्गल द्रव्य की सिद्धि की जाती है।

यद्यपि कतिपय वादियों ने पुद्गल द्रव्य के लक्षणों को किसी अन्य द्रव्य के लक्षण वर्णन कर दिये हैं, परन्तु यथार्थ में वह लक्षण न होने से युक्ति को सहन नहीं कर सकते। जैसे कि—तमस् को कतिपय वादियों ने अभाव पदार्थ स्वीकार कर लिया है, किन्तु वह युक्तियुक्त कथन नहीं है। अतएव पुद्गलद्रव्य के ही उक्त लक्षण स्वीकार करने युक्तियुक्त हैं।

यावन्मात्र पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, वे सर्व पौद्गलिक हैं। क्योंकि—अरूपी पदार्थों को तो छद्मस्थ आत्मा चक्षुओं द्वारा देख ही नहीं सकता। अतएव इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ रूपवान् हैं। रूपवान् ही होने से वे पौद्गलिक हैं।

इस प्रकार षद् द्रव्यों के लक्षण वर्णन करने के अनन्तर अब सूत्रकार पर्याय विषय कहते हैं। जैसेकि—

एगत्तं च पुहत्तं च संखा संठाणमेव य।
संजोगाय विभागा य पज्जवाणं तु लक्खणं ॥

उत्तराध्ययनसूत्र अ. २८ गा ॥ १३ ॥

वृत्ति—एतत्पर्यायाणां लक्षणं एतत् किम्—एकत्वं भिन्नेष्वपि परमाण्वादिषु यत् एकोऽयं इति बुद्धया घटोयं इति प्रतीतिहेतुः च पुनः पृथक्त्वं अयं अस्मात् पृथक् घटः पटाद् भिन्नः पटो घटाद्भिन्नः इति प्रतीतिहेतुः, संख्या एको द्वौ बहव इत्यादि प्रतीतिहेतुः च पुनः संस्थानं एव वस्तूनां संस्थानं आकारश्चतुरस्रवर्तुलत्रिस्रादि प्रतीतिहेतुः, च पुनः संयोगा अयं अंगुल्याः संयोग इत्यादि व्यपदेशहेतवो, विभागा अयं अतो विभक्त इति बुद्धिहेतवः, एतत् पर्यायाणां लक्षणं ज्ञेयं, संयोगा विभागा बहुवचनात् नवपुराणत्वाद्यवस्था ज्ञेयाः लक्षणत्वं साधारणरूपं गुणानां लक्षणं रूपादि प्रतीतत्वान्नोक्तम् ॥

भावार्थ—पहले कहा जा चुका है कि—द्रव्य गुण और पर्याय युक्त होता है। अतः इस गाथा में पर्याय का लक्षण प्रतिपादन किया गया है। अनंत परमाणुओं का समूह जब एक घटादि पदार्थों के रूप में आजाता है तब व्यवहारबुद्धि से कहा जाता है कि-यह एक घट है। यद्यपि वह घट अनंत परमाणुओं का समूह रूप है तथापि भिन्न २ परमाणुओं के होने पर भी व्यवहारबुद्धि में घट एक पदार्थ माना गया है। इसी प्रकार यह इस से पृथक् है अर्थात् यह घट से पट पृथक् है वा यह वस्तु अमुक वस्तु से पृथक् है इस प्रकार की जो प्रतीति है उसी का नाम पृथक्त्व है क्योंकि-पुद्गल द्रव्य एक होने पर भी यह इस पदार्थ से भिन्न पदार्थ है इस प्रकार की जो प्रतीति होती है यही पर्याय का लक्षण है।

जिस पर्याय में पदार्थ विद्यमान होता है उसी के मांगने पर अन्य पर्याय के पदार्थ के धरने वाले पदार्थ को उस के समीप नहीं उपस्थित किया जाता। जिस प्रकार किसी व्यक्ति ने शौच करने के लिये अपने दास से मिट्टी मंगवाई तब उस का दास मिट्टी की जो अन्य पर्याय घट रूप में परिणत हो रही है उस को शौच के लिये उसके पास उपस्थित नहीं करता, किन्तु जो शुद्ध मृत्तिका द्रव्य है उसी को उसके पास लाता है। इस से सिद्ध हुआकि--मृत्तिका द्रव्य एक होने पर भी पर्याय के कारण से भिन्न २ रूप में परिणत होरही है। सो पुद्गल द्रव्य की भी यही दशा है। पर्याय की अपेक्षा से ही यह कहा जाता है कि-यह एक है. यह इस से पृथक् है। इसी प्रकार संख्या में जो आने वाले पदार्थ हैं वे भी पर्याय के ही कारण से संख्याबद्ध होगए हैं जैसेकि—एक, दो वा बहुत इत्यादि। वस्तुओं के जो नाना प्रकार के संस्थान देखे जाते हैं, जैसेकि-चतुरंश, चतुष्कोण, त्रिकोण, वर्तुल इत्यादि; वे सब आकृतियां पर्याय को लेकर उत्पन्न हुई हैं। क्योंकि-एक परमाणु का कोई भी संस्थान नहीं माना जाता है। जब वे परमाणु द्व्यणुकादि रूप में आते हैं तब वे नाना प्रकार की आकृतियों के धरने वाले होजाते हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि-यावन्मात्र संस्थान (आकार) दृष्टिगोचर वा दृष्टिअगोचर हैं वे सब पुद्गल द्रव्य की पर्याय के कारण से ही उत्पन्न हुए हैं। साथ ही यावन्मात्र संयोग हैं वे भी पुद्गल द्रव्य की पर्याय सिद्ध करते हैं। क्योंकि-परमाणुओं के समूह का जो एकत्र होना है उसी का नाम संयोग है

जिस प्रकार संयोग का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार विभाग विषय में भी जानना चाहिए। क्योंकि-जब परमाणुओं का संयोग माना जाता है तब उनका विभाग भी अवश्यमेव मानना पड़ेगा। अतएव संयोग और विभाग जो बुद्धिकृत भेद हैं वे सब पुद्गल द्रव्य के ही पर्याय हैं।

जिस प्रकार द्रव्य के पर्याय कथन किये गए हैं उसी प्रकार रूपादि जो पुद्गल द्रव्य के लक्षण हैं उनके विषय में भी पर्यायों का परिवर्त्तन होना जानना चाहिए। क्योंकि-उन की भी नूतन वा पुरातन व्यवस्था देखी जाती है। अतएव द्रव्य का गुण और पर्यायों से युक्त मानना ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है।

जैन-शास्त्रों के अनुसार देखा जाय तो तब भली भान्ति उक्त कथन से यह सिद्ध होजाता है कि-यह लोक षद् द्रव्यात्मक है, जिसमें विशेषतया पुद्गल और कर्मयुक्त जीवों का ही सर्व प्रकार से विस्तार देखा जाता है। पुद्गल द्रव्य का ही संग करने से यह आत्मा अपने निज गुण को भूल कर नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव कर रहा है।

यद्यपि धर्मादि द्रव्यों के शास्त्रों में पांच २ भेद भी लिखे हैं तथापि वे सर्व

भेद उक्त विषय में संक्षेप रूप से समवतार होजाते हैं जैसेकि—

१ द्रव्य से धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है १, क्षेत्र से लोकपरिमाण है २, काल से अनादि अनन्त है ३, भाव से अरूपी है ४, गुण से गति इस का लक्षण है ५। दृष्टान्त जैसे पानी में मत्स्य।

२ द्रव्य से अधर्मास्तिकाय एक द्रव्य है १, क्षेत्र से लोकपरिमाण २, काल से अनादि अनंत ३, भाव से अरूपी ४, गुण से स्थिति इस का लक्षण है ५। दृष्टांत जैसे पथिक को वृक्ष का आधार।

३ द्रव्य से आकाशास्तिकाय एक १, क्षेत्र से लोकालोक परिमाण २,काल से अनादि अनंत ३, भाव से अरूपी ४, गुण से आकाश का अवकाश देने का स्वभाव ५। दृष्टान्त जैसे दुग्ध में शर्करा (मिट्टा)।

४ द्रव्य से कालद्रव्य अनंत १, क्षेत्र से अढ़ाई द्वीप परिमाण २, काल से अनादि अनंत ३, भाव से अरूपी ४, गुण से वर्त्तनालक्षण ५। दृष्टान्त–जैसे नूतन पदार्थ को कालद्रव्य पुराना करता है।

५ द्रव्य से जीवद्रव्य जीवास्तिकाय अनन्त १, क्षेत्र से चतुर्दशरज्जु परिमाण २ काल से अनादि अनन्त ३, भाव से अरूपी ४, गुण से चेतनालक्षण।

द्रव्य से पुद्गलास्तिकाय अनंत १, क्षेत्र से लोक परिमाण२,काल से अनादि अनंत ३, भाव से रूपी ४, गुण से सड़ना, पड़ना, मिलना, गलना, विध्वंसन होना ही इस का लक्षण है ५।

इस प्रकार उक्त द्रव्यों के स्वरूप को जाना जाता है। क्योंकि–प्रत्येक द्रव्य अपनी २, पर्यायों का कर्त्ता है।

६ अब इस स्थान पर आगमसार ग्रंथ के अनुसार षट् द्रव्यों के विषय में कहा जाता है। जैसेकि–षट् अनादि हैं। उनमें पांच अजीव और चेतनालक्षण वाला जीव है। परन्तु षट् द्रव्यों के गुण निम्न प्रकार से हैं जैसेकि—धर्मास्तिकाय के चार गुण हैं, यथा—अरूपी १, अचेतन २, अक्रिय ३ और गतिलक्षण ४। अधर्मास्तिकाय के भी चार गुण हैं–जैसेकि–अरूपी १, अचेतन २, अक्रिय ३ और स्थितिलक्षण ४। आकाशास्तिकाय के चार गुण–जैसेकि–अरूपी १, अचेतन २, अक्रिय ३ और अवगाहनगुण ४। कालद्रव्य के चार गुण–अरूपी १, अचेतन २, अक्रिय ३ और नव पुराणादि वर्त्तनालक्षण ४। पुद्गल द्रव्य के चार भेद रूपी १, अचेतन २, सक्रिय ३, मिलना और विछुड़ना स्वभाव ४। जीव द्रव्य के ४ गुण अनंतज्ञान १, अनंतदर्शन २, अनंतचारित्र ३, और अनंतवीर्य ४। ये छः द्रव्यों के गुण नित्य और ध्रुव हैं।

किन्तु षट्द्रव्यों के पर्याय निम्न प्रकार से हैं, जैसेकि—धर्मास्तिकाय के चार पर्याय हैं–स्कन्ध १, देश २, प्रदेश ३, और अगुरु लघु ४। अधर्मा-

स्तिकाय के भी यही उक्त चारों पर्याय हैं और यही चारों पर्याय आकाशास्तिकाय के हैं, किन्तु कालद्रव्य के चार भेद निम्न प्रकार से हैं, यथा-अतीत काल १, अनागत काल २, वर्त्तमान काल ३, अगुरुलघु ४। पुद्गल द्रव्य के चार पर्याय ये हैं—वर्ण १, गंध २, रस ३, स्पर्श अगुरुलघु सहित ४। जीवद्रव्य के भी चारों पर्याय हैं-जैसेकि—अव्यावाध १, अनवगाह २, अमूर्त्तिक ३, अगुरुलघु ४।

षद् द्रव्यों के पर्याय कहे जाने के अनन्तर अब छः द्रव्यों के गुण और पर्याय सधर्मता से कहे जाते हैं। जैसेकि-अगुरुलघु पर्याय सर्व द्रव्यों में सामान्य है, परन्तु अरूपी गुण पुद्गल द्रव्य को छोड़ कर पांच द्रव्यों में रहता है। इसी प्रकार अचेतनभाव पांच द्रव्यों में है, किन्तु जीवद्रव्य में चेतनभाव है। सक्रियभाव जीव और पुद्गल द्रव्य में है, अन्य चार द्रव्यों में नहीं है। चलनगुणस्वभाव धर्मास्तिकाय में है, शेष पांच द्रव्यों में नहीं है। स्थिरभाव अधर्मास्तिकाय में तो है परन्तु शेष पांच द्रव्यों में नहीं है। अवगाहन गुण आकाश द्रव्य में है, शेष पांचो में नहीं। वर्त्तनालक्षण कालद्रव्य में है अन्य द्रव्यों में नहीं है। मिलना और विछुड़ना गुण पुद्गल द्रव्य में नहीं है, शेष द्रव्यों में है। ज्ञानचेतनागुण जीव द्रव्य में तो है, परन्तु शेष द्रव्यों में नहीं। मूल गुण किसी भी द्रव्य का परस्पर नहीं मिलता है। किन्तु-धर्म, अर्धम और आकाश इन तीनों द्रव्यों के तीन २ गुण और चार पर्याय समान हैं तथा तीनों गुणों से कालद्रव्य भी समान प्रतिपादन किया गया है।

अब छः द्रव्यों के गुण जानने के लिये एक गाथा द्वारा १२ भंगी कहते हैं।

परिणाम १, जीव २, मुत्ता ३, सपएसा ४, एक ५, खित्त ६, किरियाए ७,
निच्चं ८, कारण ९, कत्ता १०, सव्वंगदई ११, यर अपवेसा १२।

इस गाथा का भावार्थ इस प्रकार है—जैसे कि-

छः ही द्रव्य निश्चय नय के मत से परिणामी हैं, किन्तु व्यवहार नय के मत से जीव और पुद्गल दोनों द्रव्य परिणामी हैं, धर्म १, अधर्म २, आकाश और काल ४ ये चार द्रव्य अपरिणामी हैं।

२ छः ही द्रव्यों में एक द्रव्य जीव है, शेष पांच द्रव्य अजीव हैं।

३ छः ही द्रव्यों में एक पुद्गल द्रव्य रूपवान् है, शेष पांच द्रव्य अरूपी हैं।

४ छः ही द्रव्यों में पांच द्रव्य सदेशी हैं, किन्तु एक कालद्रव्य अप्रदेशी है।

५ छः ही द्रव्यों में धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य एक एक हैं। किन्तु जीव, पुद्गल और काल ये तीनों अनेक (अनंत) हैं।

६ छः ही द्रव्यों में केवल एक आकाश द्रव्य क्षेत्री है, शेष पांच अक्षेत्री हैं।

७ निश्चय नय के मत से षट् ही द्रव्य सक्रिय हैं, किन्तु व्यवहार नय के मत से जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य ये दोनों ही द्रव्य सक्रिय हैं, शेष चार द्रव्य अक्रिय हैं।

८ निश्चय नय के मत से षट् द्रव्य नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं; किन्तु व्यवहारनय के मत से जीव और पुद्गल की अपेक्षा से ये दोनों द्रव्य अनित्य हैं, शेष चार द्रव्य नित्य हैं।

९ छः ही द्रव्यों में केवल एक जीव द्रव्य कारण है,शेष पांच द्रव्य अकारण हैं।

१० निश्चय नय के मत से छः ही द्रव्य कर्त्ता हैं किन्तु व्यवहार नय के मत से केवल एक जीव द्रव्य कर्त्ता है, शेष पांच द्रव्य अकर्त्ता हैं।

११ छः ही द्रव्यों में केवल एक आकाशद्रव्य सर्वव्यापी है, शेष पांच द्रव्य लोक मात्र व्यापी हैं।

१२ एक क्षेत्र में षट्द्रव्य एकत्व होकर ठहरे हुए हैं, किन्तु गुण सब का पृथक् २ है अर्थात् गुण का परस्पर संक्रमण नहीं होसकता।

अब एक २ में आठ २ पक्ष कहते हैं। जैसेकि—

नित्य १, अनित्य २, एक ३, अनेक ४, सत्य ५, असत्य ६, वक्तव्य ७, और अवक्तव्य ८।

अब नित्य अनित्य पक्ष विषय कहते हैं।

धर्मास्तिकाय के चार गुण नित्य हैं। पर्याय में धर्मास्तिकाय-स्कन्ध नित्य है। देश, प्रदेश, अगुरुलघु अनित्य हैं; इस प्रकार कहना चाहिए। अधर्मास्तिकाय के चार गुण-स्कंध लोक प्रमाण नित्य है, देश प्रदेश अगुरुलघु अनित्य हैं। आकाशास्तिकाय के चार गुण-स्कन्ध लोकालोक प्रमाण नित्य हैं। देश, प्रदेश अगुरुलघु अनित्य हैं। कालद्रव्य के चार गुण नित्य हैं चार पर्याय अनित्य हैं। पुद्गलद्रव्य के चार गुण नित्य हैं, चार पर्याय अनित्य हैं, किन्तु जीव द्रव्य के चार गुण और पर्याय नित्य हैं किन्तु अगुरुलघु अनित्य हैं।

अब एक और अनेक पक्ष विस्तार से कहा जाता है जैसेकि—

धर्म १ और अधर्म २ द्रव्य इन का स्कन्ध लोक प्रमाण एक है, किन्तु गुण, पर्याय और प्रदेश अनेक हैं। जैसेकि—गुण और पर्याय तो अनंत हैं, किन्तु प्रदेश असंख्यात हैं। आकाश द्रव्य का स्कन्ध लोकालोक प्रमाण एक है, गुण पर्याय और प्रदेश अनेक हैं। जैसेकि—गुण और पर्याय तो अनंत होते ही हैं किन्तु आकाशद्रव्य लोकालोक प्रमाण होने से उस के प्रदेश भी अनंत हैं। काल द्रव्य का वर्त्तनारूप गुण तो एक है, किन्तु गुण, पर्याय और समय अनेक हैं। जैसेकि—गुण अनंत और पर्याय अनन्त तथा समय अनंत। यथा—भूत काल के अनंत समय व्यतीत हो चुके और अनागत काल के अनंत समय व्यतीत

होंगे, परन्तु वर्त्तमान समय एक है। पुद्गल द्रव्य के अनंत परमाणु हैं, फिर एक २ परमाणु में अनंत गुण पर्याय हैं। पुद्गलद्रव्य अनंत है, किन्तु सर्व परमाणुओं में पुद्गलत्व एक है। इसी प्रकार जीवद्रव्य अनंत है, परन्तु एक २ जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। जीव द्रव्य अनंत गुण पर्याय संयुक्त है, किन्तु अनंत जीव होने पर भी जीवत्व भाव सब में एक समान है।

यदि ऐसे कहा जाए कि—जब सब जीव एक समान हैं, तो सिद्ध परमात्मा सर्वानन्दमय और संसारी जीव कर्मों के वश पड़े हुए दुःखी क्यों देखे जाते हैं और वे फिर पृथक् २ दीखते हैं? इस शंका के समाधान विषय कहा जाता है कि—निश्चय नय के मत पर जब हम विचार करते हैं, तब सिद्ध होता है कि—सर्व जीव सिद्ध समान हैं। संसारी जीव कर्म-क्षय करने से ही सिद्ध होते हैं। अतएव सर्व जीवों की सत्ता एक ही है। इस समाधान के विषय पुनः शंका यह उपस्थित होती है कि—जब सर्व जीव सिद्ध समान हैं तो फिर अभव्य जीव मोक्ष पद क्यों नहीं प्राप्त करता? इस के उत्तर में कहा है कि—अभव्यात्मा के कर्म ही इस प्रकार के होते हैं कि-जिन्हें वह सर्वथा क्षय ही नहीं करसकता। यह उस का अनादि काल से स्वभाव ही है। किन्तु सर्व जीवों के जो मुख्य आठ प्रदेश हैं, वे एक ही समान होने से सर्व जीव सिद्ध के समान कहे जासकते हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि-सर्व जीवों का सत्तारूप गुण एक ही है।

अब सत्य और असत्य पक्ष विषय कहते हैं-जैसेकि-

स्वद्रव्य १, स्वक्षेत्र २, स्वकाल और स्वभाव ४ के देखने से निश्चय होता है कि सर्व द्रव्य अपने गुण से सत् रूप हैं, परन्तु परद्रव्य १, परक्षेत्र २, परकाल ३, परभाव की अपेक्षा से असत् रूप हैं।

अब षद् द्रव्य में द्रव्य क्षेत्र काल और भाव विषय कहते हैं।

स्वद्रव्य द्रव्य का मूल गुण धर्मास्तिकाय का स्वद्रव्य चलनसहायक गुण १, अधर्मास्तिकाय का स्वद्रव्य स्थिरगुण २, आकाश का स्वद्रव्य अवगाहनगुण ३, कालद्रव्य का स्वद्रव्य वर्त्तनालक्षण ४, पुद्गल द्रव्य का स्वद्रव्य मिलना और विछुड़ना स्वभाव ५, जीव द्रव्य का स्वद्रव्य ज्ञानादि चेतनालक्षण।

स्वक्षेत्र प्रदेशत्व इस प्रकार से है। धर्म १, अधर्म २, स्वक्षेत्र असंख्यात प्रदेश परिमाण हैं। आकाश द्रव्य का स्वक्षेत्र अनंत प्रदेश है। काल का स्वक्षेत्र समय है। पुद्गल द्रव्य का स्वक्षेत्र एक परमाणु से लेकर अनंत परमाणु पर्यन्त है। जीव द्रव्य का स्वक्षेत्र अनंत जीवद्रव्य और प्रत्येक २ जीव के असंख्यात प्रदेश। स्वकाल अगुरुलघु पर्याय इस प्रकार से है, जैसेकि-स्वकाल अगुरुलघु पर्याय सर्व द्रव्यों में है किन्तु स्वभाव गुण पर्याय-सर्व द्रव्यों में स्व २

गुण पर्याय सदैव काल विद्यमान रहता है। जैसेकि-धर्म द्रव्य में स्वद्रव्य स्व-क्षेत्र स्वकाल और स्वभाव विद्यमान तो रहता है, किन्तु शेष पांच द्रव्यों का गुण पर्याय उस में नहीं रह सकता। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य में स्वद्रव्यादि चारों भाव विद्यमान रहते हैं, किन्तु शेष पांच द्रव्यों के गुण पर्याय नहीं रह सकते। जिस प्रकार इन का वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार आकाश द्रव्य में द्रव्यादि भाव रहते हैं; किन्तु शेष पांच द्रव्यों के गुण पर्याय नहीं रहते काल के भाव काल में रहते हैं पुद्गल के भाव पुद्गल में रहते हैं। जीव के स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल और स्वभाव जीव में रहते हैं शेष पांच द्रव्यों के स्वभाव जीव द्रव्य में नहीं रह सकते। इसी प्रकार षट् द्रव्य स्वगुण की अपेक्षा से सत् रूप प्रतिपादन किये गए हैं।

अब वक्तव्य और अवक्तव्य पक्ष कहते हैं।

षट् द्रव्य में अनंत गुण पर्याय वक्तव्य है अर्थात् वचन से कहा जासकता है और अनंत ही गुण पर्याय अवक्तव्य रूप है। जो वचन द्वारा नहीं कहा जासकता, किन्तु श्री केवली भगवान् ने सर्व भाव देखे हुए हैं, परन्तु दृष्ट भावों से भी वे अनंतवें भाग मात्र कह सकते हैं। इसी लिये वक्तव्यत्व और अवक्तव्यत्व ये दोनों भाव षट् द्रव्य में पड़ते हैं। किन्तु जब नित्य और अनित्य पक्ष माना जाता है तब इस पक्ष के मान ने से चतुर्भंग उत्पन्न होजाते हैं। जैसेकि-

१ अनादि अनंत—जिस की न तो आदि है नाँही अंत है।

२ अनादि सान्त—आदि तो नहीं है किन्तु अन्त दीखता है। (मानाजा सकता है)

३ सादि अनंत—जिसकी आदि तो मानी जाती है परन्तु अन्त नहीं माना जासकता।

४ सादिसान्त—जिस की आदि अन्त दोनों माने जा सकें, उसी का नाम सादि है।

परन्तु ये चारों भंग उदाहरणों द्वारा इस प्रकार प्रतिपादन किये गए हैं जैसेकि—जीव में ज्ञानादि गुण अनादि अनंत है १, भव्य आत्माओं के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि सान्त है २, जिस समय जीव कर्म क्षय करके मोक्षपद प्राप्त करता है, तब उसमें सादि अनंत भंग माना जाता है। क्योंकि—कर्मक्षय करने के समय की आदि तो होगई, परन्तु मुक्ति पुनरावृति वाली नहीं है। अतएव सादि अनंत भंग सिद्ध होगया। चारों गतियों में जो जीव पुनः २ जन्म मरण कर रहा है, उस की अपेक्षा संसारी जीवों में सादि सान्त भंग सिद्ध हो जाता है जैसेकि-मनुष्य मरकर देवयोनि में चलागया तब देवयोनि की अपेक्षा मनुष्य भाव सादिसान्त पद वाला बनगया इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य के विषय जानना चाहिए।

इस प्रकार जीव में चतुर्भंग दिखलाए गए। अब अन्य द्रव्यों के विषय चारों ही भंग दिखलाए जाते हैं। जैसेकि—धर्मास्तिकाय में चारों गुण अनादि अनंत हैं, किन्तु धर्मास्तिकाय में अनादि सान्त भंग नहीं बन पड़ता। अपितु स्कन्ध देश, प्रदेश, अगुरुलघु इन में सादि सान्त भंग पड़ जता है। किन्तु जीव में धर्मास्तिकाय के वही प्रदेश सादि अनंत हैं। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय में चतुर्भंग जानने चाहिएं। आकाशास्तिकाय में स्वगुण अनादि अनंत है, किन्तु द्वितीय भंग आकाशास्तिकाय में नहीं बन सकता। देश प्रदेश अगुरु लघुभाव सादि सान्त है। जीव जो सिद्ध पद प्राप्त करता है वह सादि अनंत पद वाला हो जाता है। अतएव जिन आकाश प्रदेशों पर जीव अवगाहित हुआ है वे प्रदेश भी सादि अनंत पद वाले हो जाते हैं। भव्य जीव और पुद्गल का सम्बन्ध अनादि सान्त है। परंच पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध सादि सान्त पद वाले होते हैं। सादि अनंत भंग पुद्गल द्रव्य में नहीं बन पड़ता। काल द्रव्य में चारों गुण अनादि अनंत हैं। पर्याय की अपेक्षा अतीत काल अनादि सान्त है किन्तु वर्त्तमान काल सादि सान्त है, अनागत काल सादि अनंत है। जीव द्रव्य में चारों गुण अनादि अनंत हैं, भव्य जीव के कार्यों का संयोग अनादि सान्त है। चारों गतियों का भ्रमण सादि सान्त है। किन्तु निर्वाणपद सादि अनंत है।

अब द्रव्य क्षेत्र काल और भाव में चतुर्भंग दिखलाए जाते हैं। जीव द्रव्य में ज्ञानादि गुण अनादि अनंत हैं। स्व क्षेत्र जीव के प्रदेश असंख्यात हैं। अतः वे सादि सान्त हैं। स्वकाल अगुरुलघु गुण अनादि सान्त हैं। फिर अगुरु लघु गुण का उत्पन्न होना सादि सान्त है। स्वभाव गुण पर्याय वह अनादि अनंत है। अगुरुलघु सादि सान्त है। धर्मास्तिकाय में गतिरूप लक्षण अनादि अनंत है। स्वक्षेत्र असंख्यात प्रदेश लोक प्रमाण वे सादि सान्त हैं। स्वकाल से फिर अगुरु लघु अनादि अनंत है। परन्तु उत्पाद व्यय वे सादि सान्त हैं। स्वभाव अगुरुलघु अनादि अनंत है। स्कन्ध देश प्रदेश अवगाहन मान सादि सान्त है।

इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के विषय में भी जानना चाहिए। आकाशास्तिकाय में स्वद्रव्य अवगाहना गुण वह अनादि अनन्त है। स्वक्षेत्र अनंत प्रदेश लोक और अलोक प्रमाण अनादि अनंत है। स्वकाल से अगुरुलघु गुण सर्वथा अनादि अनंत है, परन्तु पदार्थों की अपेक्षा उत्पाद व्यय भाव सादि सान्त है। भाव गुण ४ स्कंध अगुरुलघु अनादि अनंत है। देश प्रदेश सादि सान्त है, किन्तु आकाश के दो भेद हैं। एक लोकाकाश द्वितीय अलोकाकाश अतः लोक का स्कन्ध सादि सान्त है। अलोकाकाश स्कन्ध सादि अनंत है।

काल द्रव्य में स्वद्रव्य नया वा पुराना वर्त्तनागुण अनादि अनंत है। स्वक्षेत्र समय वह सादि सान्त है। स्वकाल अनादि अनन्त है। स्वभाव ४

गुण अगुरुलघु अनादि अनंत है। अतीतकाल अनादि सान्त और वर्त्तमान काल सादि सान्त है, किन्तु अनागत काल सादि अनंत है। पुद्गल द्रव्य में द्रव्यत्व भाव से गलन मिलन धर्म अनादि अनंत है। क्षेत्र से परमाणु पुद्गल सादि-सान्त है। काल से अगुरुलघु गुण अनादि अनंत है, किन्तु पुद्गल द्रव्य में उत्पाद और व्यय धर्म सादि सान्त है। स्वभाव गुण ४ अनादि अनन्त है। स्कन्ध देश प्रदेश अवगाहना मान सादि सान्त है। किन्तु वर्णादि पर्याय ४ सादि सान्त प्रतिपादन की गई हैं। इस प्रकार द्रव्यादि पदार्थों के चार भंग वर्णन किये गए हैं।

अब षट् द्रव्य सम्बन्धी चार भंग दिखलाये जाते हैं।

जब हम आकाश द्रव्य पर विचार करते हैं तब यह भली भांति सिद्ध होजाता है कि—जो अलोकाकाश है उसमें आकाश द्रव्य के विना अन्य कोई और द्रव्य नहीं है, किन्तु जो लोक का आकाश है उसमें षट् द्रव्य ही सदैव विद्यमान रहते हैं। वे कदापि आकाश द्रव्य से पृथक् नहीं होते। अतः वे अनादि अनंत हैं। आकाश क्षेत्र में जीवद्रव्य अनादि अनंत है, परन्तु संसारी जीव कर्म सहित लोक के आकाश-प्रदेशों के साथ उन का जो सम्बन्ध है वह सादि सान्त है।

जो सिद्ध आत्माओं के साथ आकाश प्रदेशों का सम्बन्ध हो रहा है वह भी सादि अनंत है, अपितु लोक के आकाश के साथ जो पुद्गल द्रव्य का सम्बन्ध है वह अनादि अनंत है, किन्तु जो आकाश प्रदेश के साथ परमाणु पुद्गल का सम्बन्ध है, वह सादि सान्त है।

इसी प्रकार धर्मास्तिकाय का सम्बन्ध सर्व जीवों के साथ जानना चाहिए। अपितु अभव्य आत्माओं के साथ पुद्गल द्रव्य का सम्बन्ध अनादि अनन्त है। क्योंकि—अभव्यात्मा कदापि कर्मक्षय नहीं कर सकता है अपितु भव्य आत्मा कर्म क्षय कर जब मोक्षपद प्राप्त करेगा तब उसके साथ कर्म्मों का सम्बन्ध अनादि सान्त कहा जाता है। तथा निश्चय नय के मत से षट् द्रव्य स्वभाव परिणाम से परिणत हैं। इस करके ये परिणामी हैं अतः वे परिणाम सदा नित्य हैं। इस लिये षट् द्रव्य अनादि अनंत हैं। अपरं च जीव द्रव्य और पुद्गलद्रव्य का जो मिलने का परस्पर सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध परिणामी है। सो वह परिणामिक भाव अभव्य जीव का अनादि अनंत है। भव्य जीव का अनादि सान्त है। किन्तु पुद्गलद्रव्य की परिणामिक सत्ता अनादि अनंत है। अपितु जो परस्पर मिलना और विछुड़ना भाव है वह सादि सान्त है। अतएव जब जीव और पुद्गल का परस्पर सम्बन्ध है तब ही जीव में सक्रियता होती है, परन्तु जिस समय जीव कर्मों से रहित हो जाता है, तब वह अक्रिय हो जाता है। परन्तु पुद्गलद्रव्य सदैव काल सक्रियत्व भाव में रहता है।

अब एक और अनेक पक्ष से निश्चय ज्ञान कहने के वास्ते नय कहते हैं।

सर्व द्रव्यों में अनेक स्वभाव हैं । वे एक वचन से कहे नहीं जाते अतएव परस्पर सात नय कहे जाते हैं। परन्तु मूलनय के दो भेद हैं जैसेकि-एक द्रव्यार्थिक नय १ द्वितीय पर्यायार्थिक नय २ । द्रव्यनय—उत्पाद व्यय पर्याय को गौण भाव से द्रव्य के गुण की सत्ता को ग्रहण करता है, परन्तु उस द्रव्यार्थिकनय के दश भेद प्रतिपादन किये गए हैं जैसेकि—

१ नित्य द्रव्यार्थिकनय—सर्व द्रव्य नित्य हैं, अगुरुलघु और वह क्षेत्र की अपेक्षा नहीं करता है। अतः वह मूल गुण को ग्रहण करता है। इसलिये वह एक द्रव्यार्थिकनय है।

२ सत् द्रव्यार्थिकनय—ज्ञानादि गुण के देखने से सर्व जीव एक समान हैं। इस से सिद्ध होता है जीव एक ही है, जो स्वद्रव्यादि को ग्रहण करता है वही सत् द्रव्यार्थिकनय है।

३ वक्तव्यद्रव्यार्थिक—जिस प्रकार "सत् द्रव्यलक्षणम्" इस में जो कहने योग्य है उसी को अंगीकार करना है उसी का नाम वक्तव्यद्रव्यार्थिक है।

४ अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय—जैसे अज्ञान युक्त आत्मा को अज्ञानी कहा जाता है।

५ अन्यद्रव्यार्थिकनय—सर्व द्रव्य गुण और पर्याय से युक्त हैं।

६ परमद्रव्यार्थिक—सर्व द्रव्यों की मूल सत्ता एक है।

७ शुद्धद्रव्यार्थिक—सर्व जीवों के आठ रुचक प्रदेश सदा निर्मल रहते हैं।

८ सत्ताद्रव्यार्थिक—सर्व जीवों के असंख्यात प्रदेश समान ही होते हैं।

९ परमभावग्राहिकद्रव्यार्थिक—गुण और गुणी द्रव्य एक होता है। जैसे आत्मा अरूपी है।

१० गुणद्रव्यार्थिक-प्रत्येक द्रव्य स्वगुण से युक्त है।

इस प्रकार द्रव्यार्थिकनय के दश भेद प्रतिपादन किये गए हैं, किन्तु अब पर्यायार्थिक नय विषय कहते हैं-क्योंकि-जो पर्याय को ग्रहण करता है उसी का नाम पर्यायार्थिक नय है; सो पर्यायार्थिक नय के ६ भेद वर्णन किये गए हैं। जैसे कि—

१ द्रव्यपर्याय—भव्य पर्याय और सिद्ध पर्याय।

२ द्रव्यपर्याय—आत्मीय प्रदेश समान।

३ गुणपर्याय—जो एक गुण से अनेक गुण हों जैसे-धर्मादि द्रव्य के गुणों से अनेक जीव और पुद्गल द्रव्य को सहायता पहुंचती है।

४ गुणव्यंजनपर्याय—जैसे-एक गुण के अनेक भेद सिद्ध हो जाते हैं।

५ स्वभावपर्याय—अगुरुलघु भाव।

ये पांच पर्याय सर्व द्रव्य में होते हैं किन्तु ६ विभावपर्याय जीव और पुद्गल में ही होती है-जैसे विभावपर्याय के वशीभूत होकर जीव चारों गति में नाना प्रकार के रूप धारण करता है और पुद्गल द्रव्य में विभाव पर्याय स्कन्ध रूप होती है। अपरंच षट्पर्याय निम्न प्रकार से और भी कथन किये गए हैं। जैसे कि—

१ अनादिनित्य पर्याय—जैसे मेरु पर्वत प्रमुख।

२ सादिनित्य पर्याय—सिद्धभाव।

३ अनित्य पर्याय—समय २ षट् द्रव्य उत्पाद और व्यय धर्म युक्त हैं।

४ अशुद्धनित्यपर्याय—जैसे जीव के जन्म मरण।

५ उपाधिपर्याय—जैसे जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध।

६ शुद्ध पर्याय—जो द्रव्यों का मूल पर्याय है। वह सब एक समान ही होता है। इस प्रकार पर्याय का वर्णन किया गया है।

सो पंचास्तिकाय रूप धर्म में सर्व द्रव्य और गुण पर्याय का वर्णन किया गया है। साथ ही ज्ञेय (जानने योग्य) रूप पदार्थों का सविस्तर रूप वर्णन किया गया है। अतएव यह जगत् षट् द्रव्यात्मिकरूप स्वतः सिद्ध है।

दश प्रकार के धर्म का स्वरूप संक्षेप से इस स्थान पर वर्णन किया है परन्तु उक्त धर्मों का सविस्तर स्वरूप यदि अवलोकन करना हो तो जैन-आगम तथा जैन-ग्रन्थों में देखना चाहिए। वहां पर बड़ी प्रबल युक्तियों से उक्त धर्मों का स्वरूप प्रतिपादन किया है, परन्तु इस स्थान पर तो केवल दिग्दर्शन मात्र कथन किया है। आशा है भव्य जन जैन-आगमों द्वारा उक्त धर्मों का स्वरूप देख कर फिर हेय (त्यागने योग्य) ज्ञेय (जानने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थों को भली भांति समझ तथा धारण कर निर्वाण पद के अधिकारी बनेंगे।

इति श्रीजैन-तत्त्वकलिकाविकासे अस्तिकाय एवं दशविधधर्मवर्णनात्मिका षष्ठी कलिका समाप्ता।

अथ सप्तमी कलिका।

पूर्व कलिकाओं में दश प्रकार के धर्म का संक्षेपता से वर्णन किया गया है। इस कलिका में जैन-शास्त्रानुसार लोक (जगत्) के विषय में कहा जाता है क्योंकि-बहुतसे भव्य आत्माओं को इस बात की शंका रहा करती है कि-जैन-मत वाले जगदुत्पत्ति किस प्रकार से मानते हैं? तथा कतिपय तो शास्त्रीय

ज्ञान से अपरिचित होने के कारण जैनमत को नास्तिकों की गणना में गणन करते हैं।

यद्यपि उन के कुतर्कों से जैन-मत के सम्यग् सिद्धान्त को किसी प्रकार की भी क्षति नहीं पहुंचती तथापि अनभिज्ञ आत्माओं की अनभिज्ञता का भली प्रकार परिचय मिल जाता है।

सो जिस प्रकार जैन-सिद्धान्त जगत्-विषय अपना निर्मल और सद् युक्तियों से युक्त सिद्धान्त रखता है उस सिद्धान्त का शास्त्रीय प्रमाणों से इस स्थान पर दिग्दर्शन कराया जाता है।

यह बात जैन-सिद्धान्त पुनः २ विशद भावों से कह रहा है कि-इस अनादि जगत् का कोई निर्माता नहीं है। जैन-मत को यह कोई आग्रह तो है ही नहीं कि-निमार्ता होने पर निर्माता न माना जाए; परन्तु युक्ति वा आगम प्रमाणों से निर्माता सिद्ध ही नहीं हो सकता। इतना ही नहीं किन्तु निर्माता ऐसे ऐसे दूषणों से ग्रसित हो जाता है जिससे वादी लोगों को निर्माता को शुद्ध रखने के लिये नाना प्रकार की निर्बल और असमर्थ कुयुक्तियों का आश्रय लेना पड़ता है। अतएव पक्षपात छोड़ कर अब इस स्थान पर जैन-जगत् के विषय को ध्यानपूर्वक अनुभव द्वारा विचार कर पठन कीजिये साथ ही सत्यासत्य पर विचार कीजिये। क्योंकि-आस्तिक का कर्तव्य है कि-सर्व भावों पर भली प्रकार से विचार करे।

अणादीयं परिणाय अणवदग्गेति वा पुणो
सासय मसासए वा इति दिट्ठिं न धारए।

सूत्रकृतांगसूत्र द्वितीयश्रुतस्कन्ध अ. ५ गा. २॥

दीपिका टीका–(अणादीयमिति) अनादिकं जगत् प्रमाणैः सांख्याभिप्रायेण परिज्ञाय अनवदग्रमनंतं च तन्मत एव। ज्ञात्वा सर्वमिदं शाश्वतं बौद्धाभिप्रायेण वाऽशाश्वतं इति दृष्टिं न धारयेत् एनं पक्षं नाऽश्रयेत्॥ २॥

भावार्थ–इस गाथा में इस बात का प्रकाश किया गया है कि-अनादि और अनंत संसार को भली प्रकार जान कर फिर सांख्यमत के आश्रित हो कर सर्व पदार्थ एकान्त शाश्वत हैं और बौद्ध-मत के आश्रित होकर सर्व पदार्थ एकान्त अशाश्वत हैं; इस प्रकार की दृष्टि धारण न करनी चाहिए। क्योंकि-सांख्यमत का यह सिद्धान्त है कि-सर्व पदार्थ एकान्त भाव से शाश्वत हैं और बौद्धमत का सिद्धान्त है कि-सर्व पदार्थ क्षणविनश्वर हैं। जब हम दोनों सिद्धान्तों को एकान्त नय से देखते हैं। तब उक्त दोनों सिद्धान्त सद् युक्तियों से गिर जाते हैं। क्योंकि-सांख्यमत का शाश्वतवाद और बौद्धमत का

क्षणविनश्वर वाद दोनों वाद ही युक्तियों के सहन करने में अशक्त हैं।

अब इसी बात को शास्त्रकार वर्णन करते हैं जैसेकि-

एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो ण विज्जई
एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायारं तु जाणए।

सूत्रकृतांगसूत्र द्वितीयश्रुतस्कन्ध अ. ५ गा. ॥ ३ ॥

दीपिका-(एएहिंति) एताभ्यां एकान्तं नित्यं एकान्तमनित्यं चेति द्वाभ्यां स्थानाभ्यां व्यवहारो न विद्यते। एकान्तनित्ये एकान्तानित्ये च वस्तुनि व्यवहारो व्यवस्था न घटत इत्यर्थः। तस्मादेताभ्यां स्थानाभ्यां स्वीकृताभ्यामनाचारं जानीयात् ॥ ३ ॥

भावार्थ—उक्त दोनों पक्षों के एकान्त मानने से व्यवहार क्रियाओं का सर्वथा उच्छेद हो जाता है: क्योंकि जब सर्व पदार्थ एकान्त नित्यरूप स्वीकार किये जायें तब जो नूतन वा पुरातन पदार्थों का पर्याय देखने में आता है वह सर्वथा उच्छेद हो जायगा। तथा किसी भी पदार्थ को व्यवहार पक्ष में उत्पाद और व्यय धर्म वाला नहीं कहा जासकेगा। जब पदार्थों का उत्पाद और व्यय धर्म सर्वथा न रहा तब पदार्थ केवल अच्युतानुत्पन्नस्थिरैक स्वभाव वाले सिद्ध हो जायेंगे। परन्तु देखने में ऐसे आते नहीं हैं। अतएव एकान्त नित्य मानने पर व्यवहार पक्ष का उच्छेद होजाता है।

यदि एकान्त अनित्यता ग्रहण की जाए तब भी वह पक्ष युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि जब पदार्थ एकान्त अनित्यता ही धारण किये हुए हैं, तब भविष्यत् काल के लिये जो घट, पट, धन धान्यादि का लोग संग्रह करते हैं वे अनर्थक सिद्ध होंगे। यदि पदार्थ क्षणविनश्वर धर्म वाले हैं तब वह किस प्रकार संगृहीत किये हुए स्थिर रह सकेंगे? परन्तु व्यवहार पक्ष में देखा जाता है कि-लोग व्यवहार पक्ष के आश्रित होकर उक्त पदार्थों का संग्रह अवश्यमेव करते हैं, अतएव एकान्त अनित्यता स्वीकार करने पर भी व्यवहार में विरोध आता है।

इसलिये जैन-दर्शन ने एकान्त पक्ष के मानने का निषेध किया है। परन्तु जब हम स्याद्वाद के आश्रित होकर नित्य और अनित्य पर विचार करते हैं तब दोनों पक्ष युक्तियुक्त सिद्ध हो जाते हैं जैसे कि जब हम पदार्थों के सामान्य धर्म के आश्रित होकर विचार करते हैं तब पदार्थ नित्यरूपत्व धारण करलेते हैं अर्थात् पदार्थों के नित्य धर्म मानने में कोई आपत्ति उपस्थित नहीं होती। क्योंकि सामान्य धर्म पदार्थों में नित्य रूप से रहता है तथा जब हम पदार्थों के विशेष रूप धर्म पर विचार करते हैं तब प्रत्येक पदार्थ की अनित्यता देखी जाती है क्यों कि विशेष अंश के ग्रहण करने से

ही व्यवहार पक्ष में पदार्थों की नूतनता वा पुरातनता प्रतिक्षण दृष्टिगोचर होती रहती है। अतएव जैन-दर्शन ने स्याद्वाद के आश्रित होकर उक्त दोनों पक्ष उक्त ही प्रकार से ग्रहण किये हैं। आर्हत दर्शन प्रत्येक पदार्थ की उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप तीनों दशाएँ स्वीकार करता है।

जब प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप गुण वाला है तब उस पदार्थ में नित्य और अनित्य ये दोनों पक्ष भली प्रकार से माने जा सकते हैं। ऐसा मानने से व्यवहार पक्ष में कोई भी विरोध भाव उपस्थित नहीं होता। जिस प्रकार पदार्थों के विषय में कथन किया गया है उसी प्रकार जगत् विषय में भी जानना चाहिए।

यदि इस विषय में यह शंका की जाए कि जब जगत् का जैन-मत में कोई भी निर्माता नहीं मानागया है तब जगत् के विषय में नित्यता और अनित्यतारूप धर्म किस प्रकार माने जा सकेंगे? इस विषय में जैन-मत को उक्त दोनों धर्मों में से केवल एक धर्म को ही स्वीकार करना पड़ेगा। जब एक धर्म स्वीकार किया गया तब वह धर्म एकान्त होने से युक्तियुक्त नहीं रहेगा। जब वह धर्म युक्ति को सहन न कर सका तब जैन-मत का कोई भी युक्तियुक्त सिद्धान्त नहीं ठहरेगा। इस शंका का समाधान यों है कि--जैनमत में नित्यता और अनित्यता रूप दोनों धर्म जगत् विषय में स्वीकार किये गए हैं जो युक्तियुक्त होने से सर्वप्रकार से माननीय सिद्ध होते हैं। यद्यपि जैनमत ईश्वर को जगत्-कर्ता स्वीकार नहीं करता तथापि प्रत्येक पदार्थ को उत्पाद व्यय और ध्रौव्य धर्म वाला मानता है। निम्न पाठ के देखने से सर्व शंकाओं का समाधान हो जायगा। तथा च पाठः—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे वियडभोती यावि होत्था तएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स वियट्ट भोगियस्स सरीरं ओरालं सिंगारं कल्लाणं सिवंधएणं मंगलं सास्सिरीयं अणलंकिय विभूसियं लक्खण वंजण गुणोववेयं सिरीए अतीव २ उवसोभेमाणे चिट्ठइ। तएणं से खंदए कच्चायणस्स गोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स वियट्ट भोगिस्स सरीरं ओरालं जाव अतीव२ उवसोभेमाणं पासइत्ता हट्ठ तुट्ठ चित्तमाणंदिए पीइमणे परम सोमास्सिए हरिस वस विसप्पमाणहियए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं प्पयाहिणं करेइ जाव पज्जुवासइ। खंदयाति समणे भगवं महावीरे

खंदयं कच्चाय० एवं वयासी—से नूणं तुमं खंदया ! सावत्थीए नयरीए पिंगल-एणं णियंठेणं वेसालिय सावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए मागहा । किं सअंत लोए अणंते लोए एवं तं जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए, से नूणं खंदया । अयमट्ठे समट्ठे ? हंता अत्थि जे वियते खंदया । अयमेयारूवे अब्भात्थिए चिंत्तिए पात्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—किं स अंते लोए अणंते लोए ? तस्स वियणं अयमट्ठे—एवंखलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पन्नत्ते तंजहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ ! दव्वओणं एगे लोए स अंते ? खेत्तओणं लोए असंखेज्जाओ जोयण कोडाकोडीओ आयाम विक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयण कोडा कोडीओ परिक्खेवेणं पअत्थिपुणसे अंते२ काल-ओ णं लोएण कयाविण आसी न कयावि न भवति न कयावि न भविस्सति भविंसु य भवति य भाविस्सइ य धुवे णितिय सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे णात्थिपुणसे अंते ॥३॥ भावओ णं लोए अणंता वण्ण पज्जवा गंध० रस० फास पज्जवा अणंता संठाणपज्जवा अणंता गुरुयलहुय पज्जवा अणंता अगुरुयलहुय पज्जवा नत्थिपुण से अंते ४ सेतं खंदगा ! दव्वओ लोए स अंते खेत्तओ लोए स अंते कालओ लोए अणंते भावओ लोए अणंते ।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र शतक २ उद्देश ॥१॥ स्कंधकचरित ।

भावार्थ-[1]जिस समय स्कन्धक परिव्राजक श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समीप प्रश्नों का समाधान करने के वास्ते आए, उस समय श्रीश्र-मण भगवान् महावीर स्वामी नित्य भोजन करने वाले थे अर्थात् अनशनादि व्रतों से युक्त नहीं थे । अतः उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी नित्य आहार करने वालों का शरीर प्रधान जैसे शृंगारित होता है अतः शृंगारित कल्याण रूप, शिवरूप, धन्यकारी मंगलरूप शरीर की लक्ष्मी से युक्त विना अलंकारों से विभूषित लक्षण और व्यंजनों से उपेत लक्ष्मी द्वारा अतीव सौंदर्यता प्राप्त कर रहा था अर्थात् सौंदर्यता को प्राप्त हो रहा था । तदनन्तर वह कात्यायन गोत्रीय स्कन्धक श्रमण भगवान् नित्य आहार करने वालों के प्रधान यावत् अतीव उपशोभायमान शरीर को देख कर हर्षचित्त वा संतुष्ट

१ 'वियट्ट भोइत्ति' व्यावृत्ते २ सूर्ये भुङ्क्ते वयेत्‍इं शालो व्यावृत्तभोजी प्रतिदिनभोजीत्यर्थः । अभयदेवीया वृत्ति ॥

होकर प्रीतियुक्त मन तथा परम सौमनास्यिक से हर्ष के वश होकर हृदय जिस का विकसित होगया फिर जहाँ पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहाँ पर आकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिण करके यावत् पर्युपासना करने लगा। तब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कात्यायन गोत्रीय स्कन्धक को स्वयमेव इस प्रकार कहने लगे कि-हे स्कन्धक! श्रावस्ती नगरी में पिंगल निर्ग्रन्थ वैशालिक श्रावक के द्वारा यह आक्षेप पूछे जाने पर कि- हे मागध ! लोक सान्त है किंवा अनंत यावत्। उक्त प्रश्न के उत्तर को पूछने के लिये ही क्या तू मेरे समीप शीघ्र आया है क्या यह निश्चय ही, हे स्कन्धक! अर्थसमर्थ है अर्थात् ठीक है? स्कन्धक परिव्राजक ने उत्तर में कहा कि-हे भगवन्! हाँ यह बात ठीक है। श्री भगवान् फिर कहते हैं कि-हे स्कन्धक! जो तेरे इस प्रकार अध्यात्म विचार, चिंतित प्रार्थित-मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ कि-लोक सान्त है वा अनंत? उसका विवरण इस प्रकार है। हे स्कन्धक! मैंने चार प्रकार से लोक का वर्णन किया है जैसे कि—द्रव्य से, क्षेत्र से काल से और भाव से। सो द्रव्य से लोक एक है अतः सान्त है। क्षेत्र से लोक असंख्यात कोटाकोटि योजनों का लम्बा वा चौड़ा अर्थात् आयाम विष्कंभ वाला है: इतना ही नहीं किन्तु असंख्यात कोडाकोड योजनों की परिधि वाला। है अतः क्षेत्र से भी लोक सान्त है २। किन्तु काल से लोक ऐसे नहीं है कि-भूत काल में लोक नहीं था, वर्तमान काल में नहीं है, तथा भविष्यत् काल में लोक नहीं रहेगा परंच भूत काल में षद् द्रव्यात्मक लोक विद्यमान था। वर्त्तमानकाल में लोक अपनी सत्ता विद्यमान रखता है और भविष्यत् काल में लोक इसी प्रकार रहेगा। सो अचल होने से लोक ध्रुव है। प्रतिक्षण सद्भावता रखने से लोक शाश्वत है। अविनाशी होने से लोक अक्षय है। प्रदेशों के अव्यय होने से लोक अव्यय है अनंत पर्यायों के अवस्थित होने से लोक अवस्थित है। एक स्वरूप सदा रहने से लोक नियत है तथा सर्व काल में सद्भाव रहने से लोक नित्य है अतः काल से लोक अनंत है अर्थात् काल से लोक की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती ॥ ३ ॥ भाव से लोक अनंत वर्णों की पर्याय, अनंत गंध की पर्याय, अनंत रस की पर्याय और अनंत स्पर्श की पर्याय अनंत संस्थान की पर्याय, अनंत गुरुक-लघुक पर्याय, अनंत अगुरुक लघुक पर्याय अर्थात् बाहर स्कन्ध वा सूक्ष्म स्कन्ध तथा अमूर्तिक पदार्थों की अगुरुकलघुक पर्यायों के धारण करने से लोक का अंत नहीं है अर्थात् लोक अनंत है। अतः हे स्कन्धक! द्रव्य से लोक सान्त क्षेत्र से लोक सान्त काल से लोक अनन्त भाव से लोक अनंत है।

सो उक्त सूत्रपाठ के देखने से यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि-काल की अपेक्षा से यह लोक उत्पत्ति और नाश से रहित है क्योंकि-प्रागभाव के मानने से प्रध्वंसाभाव अवश्यमेव माना जा सकेगा। जिसका प्राभगाव ही सिद्ध नहीं होता है उस का प्रध्वंसाभाव किस प्रकार माना जाए ? हाँ, यह बात भली भाँति मानी जासकती है कि-प्रत्येक पर्याय उत्पत्ति और विनाश धर्म वाली है किन्तु पर्यायों (दशाओं) के उत्पन्न और विनाश काल को देखकर द्रव्य पदार्थ उत्पत्ति और नाश धर्म वाला नहीं माना जा सकता। जैसे कि-जीव द्रव्य नित्य रूप से सदैव काल विद्यमान रहता है किन्तु जन्म और मरण रूप पर्यायों की अपेक्षा से एक योनि में नित्यता नहीं रख सकता। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के विषय में जानना चाहिए।

यदि ऐसे कहा जाय कि-सर्व पदार्थ उत्पत्ति धर्म वाले हैं तो फिर भला कर्ता के विना जगत् उत्पन्न कैसे होगया ? इस के उत्तर में कहा जा सकता है कि-क्या प्रकृति परमात्मा और जीव पदार्थ भी कर्ता की आवश्यकता रखते हैं अर्थात् इन की भी उत्पत्ति माननी चाहिए ?

यदि ऐसे कहा जाए कि—ये तीनों पदार्थ अनादि हैं, अतः इन की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, तो इस के उत्तर में कहा जा सकता है कि-इसी प्रकार काल से जगत् भी अनादि है; क्योंकि—जगत् भी षट्द्रव्यों का समूह रूप ही है। अपितु जो पर्याय है वह सादि सान्त है। इसलिये जगत् में नाना प्रकार की रचना दृष्टिगोचर हो रही हैं।

जैन-शास्त्रों ने एक लोक के तीन विभाग कर दिए हैं, जैसे कि—ऊर्ध्व-लोक १, मध्य लोक २ और अधोलोक ३। ऊर्ध्व लोक में २६ देवलोक हैं; जिन का सविस्तर स्वरूप जैन-सूत्रों से जानना चाहिए। वहाँ पर देवों के परम रमणीय विमान हैं।

तिर्यक्लोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, जो एक से दूसरा आयाम विष्कंभ में दुगुणा २ विस्तार वाला है। उनमें प्रायः पशु और (वानव्यन्तर) वानमंतर देवों के स्थान हैं, किन्तु तिर्यक् लोक के अढ़ाई द्वीप में प्रायः तिर्यञ्च और मनुष्यों की वस्ति है। इसी लिये इन्हें मनुष्यक्षेत्र तथा समयक्षेत्र भी कहते हैं। क्योंकि—समय-विभाग इन्हीं क्षेत्रों से किया जाता है मनुष्य और तिर्यंचों का इस में विशेष निवास है।

इन क्षेत्रों में दो प्रकार से मनुष्यों की वस्ति मानी जाती है। जैसे कि—कर्मभूमिक मनुष्य और अकर्मभूमिक मनुष्य। जो अकर्मभूमिक मनुष्य होते हैं वे तो केवल कल्प वृक्षों के सहारे पर ही अपनी आयु पूरी करते हैं। इन की सर्व प्रकार से खाद्य पदार्थों की इच्छा कल्पवृक्ष ही पूरी करदेते हैं, वे

परम सुखमय जीवन को व्यतीत करके अंत समय मृत्यु धर्म को प्राप्त होकर स्वर्गारोहण करते हैं। किन्तु जो कर्मभूमिक मनुष्य हैं उनके आर्य और अनार्य इस प्रकार दो भेद माने जाते हैं। परन्तु मनुष्यजाति एक ही है।

जैन शास्त्र जाति पांच प्रकार से मानता है। जाति शब्द का अर्थ भी वास्तव में यही है कि—जिस स्थान पर जिस जीव का जन्म हो फिर वह आयुभर उसी जाति में निवास करे। सो पाँच जातियां निम्न प्रकार से वर्णन की गई हैं जैसे कि—

१ एकेन्द्रिय जाति-जिन जीवों के केवल एक स्पर्शेन्द्रिय ही है जैसे कि-- पृथिवीकायिक—मिट्टी के जीव, अप्कायिक—पानी के जीव, तेजोकायिक—अग्नि के जीव, वायुकायिक--वायुकाय के जीव, वनस्पतिकायिक—वनस्पति के जीव। इन पाँचों की स्थावर संज्ञा भी है। प्रथम चारों में असंख्यात जीव निवास करते हैं और वनस्पति में अनंत आत्माओं का समूह निवास करता है।

२ द्वीन्द्रिय जाति--जिन जीवों के केवल शरीर और मुख ही होता है उन को द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे कि--सीप, शंख, जोक, गंडोया, कपर्दिका, कौड़ी इत्यादि।

३ त्रीन्द्रिय जाति—जिन जीवों के शरीर, मुख और नासिका ये तीन ही इन्द्रियां हों जैसेकि--पिपीलिका (कीड़ी) ढोरा, सुरसली, जूँ और लिक्षा (लीख) आदि।

४ चतुरिन्द्रिय जाति--जिन जीवों के केवल चारों इन्द्रियां हों: शरीर, मुख, नासिका और चक्षुः। जैसे कि--मक्षिका, मशक (मच्छर) पतंग, बिच्छू (वृश्चिक) इत्यादि।

५ पंचेन्द्रिय जाति—जिन आत्माओं के पाँचों इन्द्रियां हों। जैसेकि—शरीर, जिह्वा, नासिका, चक्षु और श्रोत्र (कान वा कर्ण)। जैसे कि—नारकीय, तिर्यक्, मनुष्य और देवता। ये सब पंचेन्द्रिय होते हैं।

सो किसी प्रकार भी जाति परिवर्त्तन नहीं हो सकती। जिस जाति का आत्मा हो वह उस जन्म पर्यन्त उसी जाति में रहेगा; किन्तु विना जन्म मरण किये एकेन्द्रियादि जाति में से निकल कर द्वीन्द्रियादि जाति में नहीं जा सकता। किन्तु जो वर्णव्यवस्था है वह जैन-शास्त्रों ने कर्मानुसार प्रतिपादन की है। जैसेकि—

कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

उत्तराध्ययन सूत्र अ. २५ गाथा-३३।

भावार्थ-कर्मों से ब्राह्मण होता। है जैसेकि—"अध्यापनं, याजनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामेव" अध्यापनवृत्ति, याजनकर्म और प्रतिग्रह कर्म अर्थात् पढ़ाना, यज्ञ करना, दान लेना, इत्यादि कर्म ब्राह्मणों के होते हैं। इस का सारांश इतना ही है कि-पूजा के लिये शान्ति के उपायों का चिन्तन करना तथा संतोष वृत्ति द्वारा शान्त रहना, यही कर्म ब्राह्मणों के प्रतिपादन किये गये हैं, किन्तु "भूतसंरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणेऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम्" प्राणियों की रक्षा, शस्त्रद्वारा आजीवन व्यतीत करना, सत्पुरुषों पर उपकार करना, दीनों का उद्धार करना अर्थात् उनके निर्वाह के लिये कार्य-क्षेत्र नियत कर देना संग्राम से न भागना इत्यादि कार्य क्षत्रियों के होते हैं। "वार्ताजीवनमावेशिकपूजनं सत्रप्रपापुण्यारामदयादानादिनिर्मापणं च विशाम्" कृषिकर्म और पशुओं का पालना, आर्जव भाव रखना, पुण्यादि के वास्ते अन्न दानादि यथा शक्ति करना आरामादि की रचना इत्यादि ये सब कर्म वैश्यों के होते हैं। "त्रिवर्णोपजीवनं कारुकुशीलवकर्मपुण्यपुटवाहनं शूद्राणाम्" तीनों वर्णों की सेवा करनी, नर्त्तकादि कर्म, भिक्षुओं का उपसेवन इत्यादि कार्य शूद्रों के होत हैं।

जाति परिवर्त्तनशील नहीं होती, किन्तु कर्मों के आश्रित होने से वर्ण परिवर्त्तनशील माना जा सकता है। क्योंकि-जाति की प्रधानता जन्म से मानी जाती है और वर्ण की प्रधानता कर्म से मानी जाती है जैसे कि-एकेंद्रियादि चतुरिन्द्रिय जाति वाले जीव मोक्ष गमन नहीं कर सकते। केवल पंचेन्द्रिय मनुष्यजाति ही मोक्ष प्राप्त करने के योग्य है।

अपरंच वर्ण की कोई व्यवस्था नहीं बांधी गई है। जैसे कि-अमुक वर्ण वाला ही मोक्ष जा सकता है अन्य नहीं। क्योंकि-मोक्ष तो केवल 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र के ही आश्रित है, न तु वर्ण व्यवस्था के आश्रित। यदि कोई कहे कि-शास्त्रों में "जाइसंपन्ने कुलसंपन्ने" इत्यादि पाठ आते हैं जिन का यह अर्थ है कि जाति-संपन्न अर्थात् माता का पक्ष निर्मल और पिता का पक्ष कुल संपन्न। तब इनका क्या अर्थ माना जायेगा? इस का उत्तर यह है कि-ये सब कथन व्यवहारनय के आश्रित होकर ही प्रतिपादन किये गये हैं। किन्तु निश्चय नय के मत में जो जीव सम्यग्दर्शनादि धारण कर लेता है वही मोक्ष गमन के योग्य होजाता है।

आगे सम्यग्दर्शन में नव तत्त्व का सम्यग् प्रकार से विचार किया

---

१ ये सब सूत्र, ७-८-९ और १० वाँ नीतिवाक्यामृत के त्रयी समुद्देश के हैं॥

जाता है जैसे कि–जीव तत्त्व १, अजीव तत्त्व २, पुण्य तत्त्व ३, पापतत्त्व ४, आश्रवतत्त्व ५, संवरतत्त्व ६, निर्जरातत्त्व ७, बंधतत्त्व ८, और मोक्षतत्त्व ९। जिस का संक्षेप स्वरूप निम्न प्रकार से जानना चाहिए। जैसे कि—

जीवतत्त्व-जिसमें वीर्य और उपयोग की सत्ता मानी जाए और व्यावहारिक दृष्टि से चारों संज्ञाओं का अस्तित्वभाव अवलोकन किया जाए उसी का नाम जीवतत्त्व है। जैसेकि–"आहार संज्ञा" जो आत्मा अपने आहार की आशा रखते हों। यद्यपि कोई २ आत्मा तो प्रत्यक्ष आहार संज्ञा वाले दृष्टिगोचर होते हैं तथापि–एकेन्द्रिय आत्मा अनुमान प्रमाणादि द्वारा आहार संज्ञा वाले सिद्ध होते हैं क्योंकि जब वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों को उन की इच्छानुसार आहार की प्राप्ति होजाती है तब वे वृद्धि पाते हैं। किन्तु जब उन को इच्छानुसार आहारादि पदार्थ नहीं मिलते तब वे शुष्क होजाते हैं। अतएव अनुमान से सिद्ध हो जाता है कि--उन जीवों में भी आहारसंज्ञा का अस्तित्व भाव रहता है, परन्तु आगम प्रमाण तो उन जीवों के आहार विषय सविस्तर वर्णन करते ही हैं। आज कल के वैज्ञानिकों ने भी अपने नूतन आविष्कारों से यंत्रों द्वारा वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों में आहार संज्ञा का अस्तित्व भाव सिद्ध कर दिया है।

सो आहारसंज्ञा प्राणीमात्र में विद्यमान रहती है। इसी प्रकार भय संज्ञा का भी अस्तित्व भाव प्रत्येक प्राणी में देखा जाता है। जैसे कि–अपने से अधिक बलवान् से प्रत्येक प्राणी भय मानता है तथा व्यक्त भय और अव्यक्त भय सर्व संसारी जीवों में पाया जाता है।

जिस प्रकार भय संज्ञा का अस्तित्व भाव देखा जाता है उसी प्रकार मैथुन संज्ञा का भी प्रत्येक व्यक्ति में अस्तित्व भाव माना गया है क्योंकि--संसारी आत्माएँ मोहनीय कर्म के उदय से मैथुन संज्ञा वाले होते ही हैं।

जब मैथुन संज्ञा की सिद्धि हो गई है तब परिग्रह संज्ञा भी प्रत्येक प्राणी में पाई जाती है जैसे कि--ममत्व भाव। क्योंकि--"मुच्छापरिग्गहोवुत्तो" यह सिद्धान्त वाक्य है अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह प्रतिपादन किया गया है।

सो संसारी आत्माएँ चारों संज्ञा वाले होने से अपने जीवत्व भाव की सिद्धि करते हैं। किन्तु मोक्ष आत्माएँ अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंतसुख और अनंत बलवीर्य इत्यादि गुण युक्त हैं। ये सब जीव प्रथम तो दो भागों में विभक्त हैं जैसेकि—संसारी जीव और असंसारी (मोक्ष प्राप्त) जीव। फिर संसारी जीव चार विभागों में विभक्त किये गये हैं। जैसेकि–नरक १, तिर्यक् २, मनुष्य ३ और देव ४। फिर इनके अनेक भेद वर्णन किये गये हैं। इनका सविस्तर स्वरूप जैनसूत्र वा नवतत्त्वादि प्रकरण ग्रंथों से जानना चाहिए।

२ अजीवतत्त्व-जिस में जीवतत्त्व के लक्षण न पाए जायँ, उसी का नाम अजीवतत्व है अर्थात् वीर्य तो हो परन्तु उपयोग शक्ति जिस में न हो उसी का नाम अजीवतत्त्व है। जीवतत्व के गुणों से विवर्जित केवल जड़ता गुण सम्पन्न अजीवतत्त्व माना जाता है। क्योंकि-यद्यपि घटिकादि पदार्थ समय का ठीक २ ज्ञान भी कराते हैं, परन्तु स्वयं वे उपयोग शून्य होते हैं। अतएव धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल ये सब अजीवतत्त्व में प्रतिपादन किये गए हैं: किन्तु धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये सब अरूपी अजीव कथन किये गये हैं। अपितु जो पुद्गलद्रव्य है वह वर्ण, गंध, रस और स्पर्श युक्त होने से रूपी द्रव्य माना गया है। इस लिये यावन्मात्र पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे सब पुद्गलात्मक हैं। पुद्गल द्रव्य के ही स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणुपुद्गल संसारी क्रियाएँ करते हैं। इन्हीं का सब प्रपंच होरहा है क्योंकि-पुद्गल द्रव्य का स्वभाव मिलना और विछुड़ना माना गया है, इस लिये प्रायः पुद्गल द्रव्य ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण युक्त प्रत्यक्ष देखने में आता है। सो इसी को रूपी अजीव द्रव्य कथन किया गया है ॥

३ पुण्यतत्त्व-जो संसारी जीवों को संसार में पवित्र और निर्मल करता रहता है उसी को पुण्यतत्त्व कहते हैं। क्योंकि-शुभ क्रियाओं द्वारा शुभ कर्म प्रकृतियों का संचय किया जाता है। फिर जब वे प्रकृतियां उदय में आती हैं तब जीव को सब प्रकार से सुखों का अनुभव करना पड़ता है। सो उसी को पुण्यतत्त्व कहते हैं। किन्तु वे पुण्यप्रकृतियां नव प्रकार से बांधी जाती हैं जैसेकि—

अन्नपुण्य—अन्न के दान करने से। १।

पानपुण्य—पानी (जल) के दान से। २।

लयनपुण्य—पर्वतादि में जो शिलादि के गृह बने हुए होते हैं तथा-पर्वत में कृत्रिम गुहादि के दान से। ३।

शयनपुण्य—शय्या वसति के दान से। ४।

वस्त्रपुण्य—वस्त्र के दान से। ५।

मनोपुण्य—शुभमनोयोग प्रवर्त्ताने से। ६।

वचनपुण्य—शुभ वचन के भाषण से। ७।

कायपुण्य—काम के वश करने से। ८।

नमस्कारपुण्य—नमस्कार करने से। ९।

सो उक्त नव प्रकार से जीव पुण्य प्रकृतियों का संचय करता है जिस के परिणाम में वह नाना प्रकार के सुखों का अनुभव करने लग जाता है और संसार पक्ष में वह सर्व प्रकार से प्रायः प्रतिष्ठित माना जाता है।

४ पापतत्त्व—जिस कारण जीव नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करने लगता है और संसार में सब प्रकार से दुःख भोगता रहता है वह सब पाप कर्म का ही प्रभाव है। पापकर्म का मुख्य प्रयोजन इतना ही है कि-जिस के कारण प्रिय वस्तुओं का वियोग होता रहे और अप्रिय वस्तुओं का संयोग मिलता रहे।

पापकर्मों का संचय जीव १८ प्रकार से करते हैं जैसेकि—

प्राणातिपात—जीवहिंसा से। १।

मृषावाद—असत्य के बोलने से। २।

अदत्तादान—चोरी करने से। ३।

मैथुन—मैथुन कर्म से। ४।

परिग्रह—पदार्थों पर ममत्व भाव करने से। ५।

क्रोध—क्रोध करने से। ६।

मान—अहंकार करने से। ७।

माया—कपट (छल) करने से। ८।

लोभ—लोभ करने से। ९।

राग—सांसारिक पदार्थों पर राग करने से। १०।

द्वेष—पदार्थों पर द्वेष करने से। ११।

कलह—क्लेश करने से। १२।

अभ्याख्यान—किसी को असत्य कलंक देने से। १३।

पैशुन्य—चुगली करने से। १४।

परपरिवाद—दूसरों की निन्दा करने से। १५।

रति—विषयादि पर रति करने से। १६।

अरति—विषयादि के न मिलने पर चिंता करने से। १७।

मायामिथ्यादर्शन शल्य—असत्य निश्चय करने से अर्थात् पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ न जानना उसी का नाम मिथ्यादर्शन शल्य है। १८। जिस प्रकार किसी के शरीर के भीतर शल्य (कंटक) आदि प्रविष्ट हो जायं, तब उस व्यक्ति को किसी प्रकार से भी शांति उपलब्ध नहीं हो सकती, ठीक उसी प्रकार जिस आत्मा के भीतर असत्य श्रद्धान होता है फिर उस आत्मा को शांति की प्राप्ति किस प्रकार हो सके? अतएव उक्त १८ कारणों से जीव पाप कर्मों की प्रकृतियों का संचय करता है। फिर जब वे प्रकृतियां उदय भाव में आती हैं तब वे नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव कराती हैं। सो इसी का नाम पापतत्त्व है।

५ आश्रवतत्त्व-जिस कारण आत्म-प्रदेशों पर कर्मों की प्रकृतियों का उपचय होजावे उसे आश्रव तत्त्व कहते हैं। यद्यपि इस के अनेक कारण प्रति-

पादन किये गये हैं तथापि इस के मुख्य दो ही कारण माने जा सकते हैं एक योगसंक्रमण और दूसरा कषाय । क्योंकि-जब मनोयोग, वचनयोग और काययोग का संक्रमण होगा तथा क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय होगा तब अवश्यमेव कर्म प्रकृतियों का आत्मप्रदेशों के साथ परस्पर लोलीभाव हो जायगा। अपितु जब वे प्रकृतियां उदय भाव में आजाएँगी तब वे अवश्यमेव फल प्रदान करेंगी। इसी आश्रवतत्त्व में पुण्य और पाप ये दोनों तत्त्व समवतार हो जाते हैं। अतएव पुण्य प्रकृतियों को शुभ आश्रवतत्त्व कहते हैं और पाप प्रकृतियों को अशुभ आश्रवतत्त्व। सो दोनों प्रकृतियां अपने २ समय पर जब उदय भाव में आती हैं तब आत्मा को उन का अवश्यमेव अनुभव करना पड़ता है। सो इसी का नाम आश्रवतत्त्व है।

६ संवरतत्त्व-जिन २ मार्गों से आश्रव आता हो उन का निरोध करना अर्थात् कर्मों का जिस से आत्मा के साथ सम्बन्ध न हो सके; उन क्रियाओं को संवरतत्त्व कहते हैं। पूर्व लिखा जा चुका है कि—पुण्य और पाप दोनों ही आश्रव हैं: सो इन दोनों के परमाणुओं का निषेध करना जिस से आत्मा के साथ लोलीभाव न हो सके, वही संवरतत्त्व कहा जाता है।

यद्यपि नवतत्त्वप्रकरणादि ग्रन्थों में इस तत्त्व के अनेक भेद प्रतिपादन किये गए हैं। तथापि मुख्य ५ ही वर्णन किये गए हैं जैसे कि—

१ सम्यक्त्वसंवर—अनादि काल से जीव मिथ्या दर्शन से युक्त है इसी कारण संसार चक्र में परिभ्रमण कर रहा है। जिस समय इस जीव को सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति होती है उसी समय संसारचक्र का चक्रदेशोन-अर्द्धपुद्गलपरावर्त्तन शेष रह जाता है। सम्यग्दर्शन द्वारा पादार्थों के स्वरूप को ठीक जानकर आत्मा अपने निज-स्वरूप की ओर झुकने लग जाता है। मिथ्या दर्शन के दूर हो जाने से सम्यग् ज्ञान प्राप्त हो कर अज्ञान नष्ट हो जाता है। जब सम्यक्त्व रत्न जीव को उपलब्ध होता है तब उस की दशा संसार से निवृत्तिभाव और विषयों से अन्तःकरण में उदासीनता आजाती है। पदार्थों के सत्यस्वरूप को जान कर तब वह आत्मा मोक्ष पद की प्राप्ति के लिये उत्सुकता धारण करने लग जाता है। अतएव जिस प्रकार श्रीजिनेन्द्र भगवान ने पदार्थों का स्वरूप प्रतिपादन किया है उस भावको अन्तःकरण से सत्य जानना यही सम्यक्त्व का वास्तविक स्वरूप है तथा पदार्थों के ठीक २ भावों को स्वमति वा गुरु आदि के उपदेश से जान लेना ही सम्यग् दर्शन कहा जाता है। सो यावत्काल पर्यन्त आत्मा को सम्यग् दर्शन प्राप्त नहीं होता, तावत्काल पर्यन्त मोक्षपद की प्राप्ति से वंचित ही रहता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पश्चात् उसी समय जीव को सम्यक्त्व संवर की प्राप्ति हो जाती है

२ विरति (व्रत) संवर—जब आत्मा सम्यग् दर्शन से युक्त होता है तब वह आश्रव के मार्गों को विरति के द्वारा निरोध करने की चेष्टा करता है। फिर वह यथाशक्ति सर्व विरति रूप धर्म वा देशविरति रूप धारण कर लेता है। जिस के द्वारा उस के नूतन कर्म आने के मार्ग रुक जाते हैं। सर्व विरति रूप धर्म में ५ महाव्रत और देशविरति में १२ श्रावक के व्रत समवतार किये जाते हैं; जिन का वर्णन पूर्व किया जा चुका है।

३ अप्रमादसंवर—किसी भी धार्मिक क्रिया के करने में प्रमाद न करना उसी का नाम अप्रमाद संवर है। क्योंकि-प्रमाद करना ही संसार चक्र के परिभ्रमण करने का मूल कारण है। आचारांग सूत्र में लिखा है कि "सव्वओ पमत्तस्स अत्थि भयं सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयम्" सर्व प्रकार से प्रमत्त जन को भय और सर्व प्रकार से अप्रमत्त जन को निर्भयता रहती है। सो अप्रमत्त भाव से क्रिया कलाप करना ही अप्रमत्त संवर कहा जाता है॥

४ अकषायसंवर-क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों से बचना ही संवर है। क्योंकि-जिस समय ये चारों कषाय क्षय हो जाती हैं उसी समय जीव को केवल ज्ञान प्राप्त होजाता है। अतः इसे अकषाय संवर कहते हैं।

५ अयोगसंवर--जिस समय केवल ज्ञानी आयु कर्म के विशेष होने से त्रयोदशवें गुण स्थान में होता है, उस समय वह मन, वचन और काय इन तीनों योगों से युक्त होता है। किन्तु जब केवली भगवान् की आयु अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण शेष रह जाती है, तब वह चतुर्दशवें गुण स्थान में प्रविष्ट हो जाते हैं। फिर क्रमपूर्वक तीनों योगों का निरोध करते हैं, जिससे वह अयोगी भाव को प्राप्त होकर शीघ्र ही निर्वाण पद की प्राप्ति करलेते हैं। इसका सारांश इतना ही है कि-जब तक आत्मा अयोगी भाव को प्राप्त नहीं होता तब तक मोक्षारूढ भी नहीं हो सकता। सो उक्त पाँचों संवर द्वारा नूतन कर्मों का निरोध करना चाहिए।

७ निर्जरातत्त्व—जब नूतन कर्मों का संवर हो गया तब प्राचीन जो कर्म किये हुए हैं उनको तप द्वारा क्षय करना चाहिए। क्योंकि-कर्म क्षय करने का ही अपर नाम निर्जरा है। सो शास्त्रकारों ने निर्जरातत्त्व के निम्न लिखितानुसार विस्तारपूर्वक १२ द्वादश भेद प्रतिपादन किये हैं। जिनमें से ६ बाह्य हैं और ६ अभ्यन्तर।

बाह्य तप

अनशन तप—उपवासादि व्रत करने॥ १॥

उनोदरी—स्वल्प आहार करना॥ २॥

भिक्षाचरी तप—निर्दोष आहार भिक्षा करके लाना॥ ३॥

रसपरित्याग तप—घृतादि रसों का परित्याग करना॥ ४॥

कायक्लेश तप—केश लुंचन वा योग आसनादि लगाने ॥ ५ ॥

प्रति संलीनता तप—इंद्रियां वा कषायादि को वशीभूत करना ॥ ६ ॥

अभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्ततपकर्म—जब कोई पाप कर्म लग गया हो तब अपने गुरु के पास जाकर शुद्ध भावों से उस पाप की विशुद्धि के लिये प्रायश्चित्त धारण करना ॥ १ ॥

विनय तप—गुरु आदि की यथायोग्य विनय भक्ति करना ॥ २ ॥

वैयावृत्य—गुरु आदि की यथायोग्य सेवा भक्ति करना ॥ ३ ॥

स्वाध्यायतप—शास्त्रों का विधिपूर्वक पठन पाठन करना ॥ ४ ॥

ध्यानतप—आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान को छोड़ कर केवल धर्म-ध्यान वा शुक्ल ध्यान के आसेवन का अभ्यास करना ॥ ५ ॥

कायोत्सर्गतप—काय का परित्याग कर समाधिस्थ हो जाना ॥ ६ ॥

इन तप कर्मों का सविस्तर स्वरूप उववाई आदि शास्त्रों से जानना चाहिए। सो इन तपों द्वारा कर्मों की निर्जरा की जा सकती है। अतएव इसी का नाम निर्जरातत्त्व है।

८ बंधतत्त्व—जिस समय आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्मों की प्रकृतियों का सम्बन्ध होता है उसी को बंधतत्व कहते हैं। सो उस बंधतत्त्व के मुख्य चार भेद हैं जैसे कि—

प्रकृतिबंध--आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियां हैं उनका आत्मप्रदेशों के साथ बंध हो जाना ॥ १ ॥

स्थितिबंध--फिर उक्त प्रकृतियों की स्थिति का होना वही स्थिति-बंध होता है ॥२॥

अनुभागबंध- आठों कर्मों की जो प्रकृतियां हैं उनके रसों का अनुभव करना ॥ ३ ॥

प्रदेशबंध—आठ कर्मों के अनंत प्रदेश हैं तथा जीव के असंख्यात प्रदेशों पर कर्मों के अनंत प्रदेश ठहरे हुए हैं; क्षीरनीरवत् तथा अग्नि-लोहपिण्डवत् ॥ ४ ॥

९ मोक्षतत्त्व-जब आत्मा के सर्व कर्म क्षय होजाते हैं तब ही निर्वाणपद की प्राप्ति होती है। परन्तु स्मृति रहे कि-सम्यग् दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र द्वारा ही सर्व कर्म क्षय किये जा सकते हैं। कर्मक्षय होने के अनन्तर यह आत्मा शुद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, पारङ्गत, परम्परागत, निरंजन, सर्वज्ञ और सर्व-दर्शी तथा अनंत शक्ति युक्त होकर निज स्वरूप में निमग्न होता हुआ शाश्वत सुख में सदैव विराजमान होजाता है। अतएव प्रत्येक प्राणी को संसार के

बंधनों से छूट कर मोक्ष प्राप्ति के लिये परिश्रम करना चाहिए।

मोक्षपद की प्राप्ति केवल मनुष्यगति के जीव ही कर सकते हैं अन्य नहीं। इसीलिये जब मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होगई है तब निर्वाणपद की प्राप्ति के लिये पंडित पुरुषार्थ अवश्यमेव करना चाहिए।

इति श्रीजैनतत्त्वकलिकाविकासे लोकस्वरूपवर्णनात्मिका सप्तमी कलिका समाप्ता।

अथ अष्टमी कलिका।

मोक्ष (निर्वाण) विषय

प्रियमित्रो ! प्रत्येक आस्तिक जीव अपने हृदय में शांति की उत्कट भावना से सदा घिरा रहता है। उसी की प्राप्ति के लिये अन्तःकरण में भिन्न २ मार्गों की रचना उत्पादन कर लेता है जैसेकि-किसी ने धन की प्राप्ति में शांति का होना मान रक्खा है तथा किसी ने पुत्र की प्राप्ति का होना ही शांति समझा हुआ है इत्यादि। क्योंकि-जिस जीव को अपने अन्तःकरण में किसी वस्तु को प्राप्त होने की उत्कट इच्छा लगी हुई है वह यही समझता है कि-यावत्काल पर्यन्त मुझे अमुक पदार्थ नहीं मिलेगा, तावत्काल पर्यन्त मुझे पूर्ण शांति की प्राप्ति नहीं होगी। कारण कि-उस की अन्तरंग वृत्ति उसी पदार्थ की ओर झुकी हुई होती है।

अब अन्तरङ्ग दृष्टि से विचार किया जावे तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इच्छानुकूल पदार्थों की प्राप्ति होने पर भी जीव को क्या वास्तिक शांति उपलब्ध हो जाती है ? कदापि नहीं। क्योंकि-जब वे पदार्थ स्वयं क्षणविनश्वर हैं तो भला उनकी प्राप्ति में किस प्रकार शांति रह सकती है ? अतएव सिद्ध हुआ कि-बाह्य पदार्थों के मिल जाने पर क्षणस्थायी समाधि तो प्राप्त हो सकती है परन्तु वह शाश्वत समाधि के बिना उपलब्ध हुए कार्य-साधक नहीं मानी जा सकती है। जब तक आत्मा कर्मों से सर्वथा विमुक्त नहीं हो जाता तथा जब तक आत्मा को निर्वाणपद की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक यह आत्मा वास्तविक शांति से वंचित ही रहता है। कारण कि-कर्त्ता, कर्म और क्रिया तीनों में जो कर्ता की क्रियाएँ (चेष्टाएँ) हैं उन्हीं क्रियाओं के फल का नाम कर्म है। सो यावत्काल पर्यन्त पुद्गल की अपेक्षा से आत्मा क्रिया रहित नहीं होता तावत्काल पर्यन्त यह आत्मा निर्वाण पद की प्राप्ति भी नहीं कर सकता। परंच जो शुभ क्रियाएँ हैं उनके द्वारा आत्मा बहुत से कर्मों को क्षय करता हुआ अंतिम अयोगी दशा को प्राप्त हो कर अपने निज स्वरूप में निमग्न हो जाता है।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि--जैनशास्त्र कर्म के फल से मोक्ष मानता है वा कर्म-क्षय से ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि--जैनमत कर्म-फल से मोक्ष नहीं मानता किंतु कर्मक्षय से मोक्ष मानता है क्योंकि—मोक्ष पद सादि अनंत पद माना गया है। यदि कर्मों के फल से मोक्षपद माना जाता तब तो मोक्षपद सादि सांत हो जाता क्योंकि--ऐसा कोई भी कर्म नहीं है जिस का फल सादि अनंत हो। जब कर्म सादि सान्त हैं तब उनका फल सादि अनंत किस प्रकार माना जा सकता है ? अतएव यह स्वतः सिद्ध होगया है कि-कर्म क्षय का ही अपर नाम मोक्ष है।

यदि ऐसे कहा जाय कि—जब आत्मा किसी समय भी अक्रिय नहीं हो सकता तो भला फिर अकर्मक किस प्रकार बन जायगा ? इस शंका का उत्तर यह है कि-जिस प्रकार गीले इंधन के जलाने की अपेक्षा सूखा (शुष्क) इंधन शीघ्र भस्म होजाता है ठीक उसी प्रकार जब प्रथम चार घातिये संज्ञक कर्म क्षय हो जाते हैं फिर चार अघातिक संज्ञक कर्म सूखे इंधन के समान रह जाते हैं फिर उनके क्षय करने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। जिस प्रकार जीर्ण वस्त्र के फाड़ने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता ठीक उसी प्रकार चार अघातिक संज्ञक कर्मों के क्षय करने में विलम्ब नहीं होता। क्योंकि उस समय ध्यान अग्नि इतनी प्रचण्ड होती है कि-जिसके द्वारा महान् कर्मों की निर्जरा की जा सकती है। किन्तु वे कर्म तो जीर्ण काष्ठ के समान अत्यन्त निर्बल और नाम मात्र ही शेष होते हैं। अतएव शनै २ योगों का निरोध करते हुए जब आत्मा अक्रिय होता है तब उसी समय वे चारों कर्म क्षय होजाते हैं यदि कोई कहे कि-जब क्रियाओं द्वारा कर्म किया गया तब फिर उन कर्मों की घातिक संज्ञा और अघातिक संज्ञा क्यों बांधी जाती है तथा कर्मों की मूल ८ प्रकृतियां तो उत्तर १४८ प्रकृतियां क्यों मानी गई हैं ? इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि-वास्तव में कर्म शब्द एक ही है, परन्तु पुण्य और पाप की प्रकृतियों के देखने से शुभ और अशुभ मुख्य दो कर्म प्रतिपादन किये गए हैं।

फिर जिज्ञासुओं के बोध के लिये कर्मों के अनेक भेद वर्णन किये गए हैं। परन्तु मूल भेद उनके आठ ही हैं अर्थात् जब कोई कर्म किया जाता है तब उस कर्म के परमाणु आठ स्थानों पर विभक्त हो जाते हैं। जिस प्रकार एक ग्रास मुख में डाला हुआ शरीर में रहने वाले सप्त धातुओं में परिणत हो जाता है ठीक उसी प्रकार एक कर्म किया हुआ मूल प्रकृतियों वा उत्तर प्रकृतियों के रूप में परिणत हो जाता है। उन आठ मूल प्रकृतियों की 'घातिक' और 'अघातिक' संज्ञा दी गई है। जिन कर्मों के करने से आत्मा के निज गुणों पर

आवरण आता हो उनकी 'घातिक' संज्ञा है और जो कर्म आत्मा के निज गुणों पर आपत्ति न उत्पन्न करसकें उन की 'अघातिक' संज्ञा है।

प्रश्न—चार घातिक कर्म कौन २ से हैं।

उत्तर—ज्ञानावरणीय १, दर्शनावरणीय २, मोहनीय ३ और अंतराय ४।

प्रश्न—अघातिक चार कर्म कौन २ से हैं?

उत्तर—वेदनीय १, आयुष्कर्म २, नामकर्म ३ और गोत्रकर्म ४।

प्रश्न—ज्ञानावरणीय कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर—आत्मा सर्वज्ञत्व गुण युक्त है परन्तु ज्ञानावरणीय कर्म द्वारा इस का सर्वज्ञत्व गुण आच्छादन हो रहा है। साराँश इतना ही है कि-जो आत्मा के जानने की शक्ति का निरोध करने वाला कर्म है, उसी को ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

प्रश्न—दर्शनावरणीय कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर—जिस प्रकार आत्मा का सर्वज्ञत्व गुण माना गया है ठीक उसी प्रकार आत्मा का सर्वदर्शित्व गुण भी है। परन्तु उक्त कर्म के परमाणु आत्मा के उक्त गुण का आच्छादन करलेते हैं, जिसके द्वारा आत्मा का सर्वदर्शित्व गुण छिपा हुआ है।

प्रश्न—वेदनीय कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर—जिस के कारण आत्मा निजानन्द को भूल कर केवल पुण्य कर्म के फल के भोगने में ही निमग्न रहता है, उसका नाम शुभ वेदनीय कर्म है और जब पाप कर्म के फल को भोगना पड़ता है, तब आत्मा निजानन्द को भूल कर दुःखरूप जीवन व्यतीत करने लग जाता है उस का नाम अशुभ वेदनीय कर्म है अर्थात् इस कर्म के द्वारा पुण्य और पाप के फलों का अनुभव किया जाता है।

प्रश्न—मोहनीय कर्म किसे कहते हैं?

उत्तर—जिस कर्म के द्वारा आत्मा अपने सम्यग्भाव को भूल कर केवल मिथ्या भाव में ही निमग्न रहे और क्रोध, मान, माया और लोभ आदि प्रकृतियों में ही चित्तवृत्ति लगी रहे उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। क्योंकि-जिस प्रकार मदिरा पीने वाला मदिरा में उन्मत्त होकर तत्त्व रूप वार्त्ता मुख से उच्चारण नहीं कर सकता है ठीक उसी प्रकार मोहनीय कर्म से युक्त जीव भी प्रायः धर्मचर्चा से पृथक् ही रहता है अर्थात् मोहनीय कर्म के वशीभूत होकर वह सम्यग्दर्शनादि से पराङ्मुख होकर प्रायः मिथ्यादर्शन में ही प्रवृत्त रहता है। मिथ्यादर्शन के दो भेद हैं व्यक्त (प्रकट) और अव्यक्त (अप्रकट) जिस प्रकार एकेन्द्रियादि आत्माओं का मिथ्यादर्शन अव्यक्त रूप माना गया है

ठीक उसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

प्रश्न—आयुष्कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसके द्वारा आत्मा चारों गतियों में स्थिति करता है जैसेकि-नरक गति की आयु १, तिर्यग् गति की आयु २, मनुष्य गति की आयु ३ और देवगति की आयुः ४।

प्रश्न—नाम कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस कर्म के द्वारा शरीर की रचना होती है उसे नाम कर्म कहते हैं। आगे शुभ और अशुभ आदि इसके अनेक भेद हैं।

प्रश्न—गोत्र कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस कर्म के द्वारा जाति आदि की उच्चता और नीचता दीख पड़ती है, उसे गोत्र कहते हैं अर्थात् इस कर्म के द्वारा आत्मा संसार में उच्च और नीच माना जाता है।

प्रश्न—अंतराय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस कर्म के द्वारा नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं तथा जो पदार्थ पास हैं वे छिन्न भिन्न हो जाएँ और जिन पदार्थों के मिलने की आशा हो, वे न मिल सकें तब जानना चाहिए कि अब अंतराय कर्म का विशेष उदय हो रहा है।

प्रश्न—ये आठों ही कर्म किस समय बाँधे जाते हैं ?

उत्तर—प्रतिक्षण (समय २) आठों ही कर्म बाँधे जाते हैं, परन्तु आयुष्कर्म प्रायः निज आयु के तृतीय भाग में जीव बांधते हैं। अतः आयुष्कर्म को छोड़ कर सातों ही कर्म प्रतिसमय निरन्तर बाँधे जाते हैं। देव और नारकीय अपनी छः मास आयु शेष रहजाने पर परलोक का आयुष्कर्म बाँधते हैं। मनुष्य और तिर्यंचों के सोपकर्म वा निरुप कर्म आदि अनेक भेद हैं परन्तु यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि-विना आयुष्कर्म के बाँधे कोई भी जीव परलोक की यात्रा के लिए प्रवृत्त नहीं होता।

प्रश्न—कर्मों के परमाणु कितने २ होते हैं ?

उत्तर—प्रत्येक कर्म के अनंत २ परमाणु होते हैं। इतना ही नहीं किन्तु जीव के असंख्यात प्रदेशों पर कर्मों के अनंत २ परमाणुओं का समूह जमा हुआ है, उन्हें कर्मों की वर्गणायें भी कहते हैं। परन्तु स्थिति युक्त होने से अपने २ समय पर उन कर्मों के रस का अनुभव किया जाता है।

प्रश्न—आठ कर्म किस प्रकार जीव बाँधते हैं ?

उत्तर—

कहणं भंते जीवा अठकम्म पगडीओ बंधइ ? गोयमा ! नाणावरणि-

ज्जस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावरणिज्जं कम्मं नियच्छइ दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दंसणमोहणिज्जं नियच्छइ दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं णियच्छइ मिच्छत्तेणं उदिएणेणं गोयमा! एवं खलु जीवे अठकम्म पगडीओ बंधइ ॥

पएणवन्नासू० पद २३ उद्देश ॥१॥

भावार्थ—भगवान् श्री गौतम जी श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी से पूछते हैं कि-हे भगवन्! आठ कर्मों की प्रकृतियों को जीव किस प्रकार बांधते हैं? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं कि—हे गौतम! ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से दर्शनावरणीय कर्म को चाहता (बांधता) है। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से दर्शन मोहनीय कर्म की इच्छा करता है। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यात्व को चाहता है फिर मिथ्यात्व के उदय से हे गौतम! जीव आठ कर्मों की प्रकृतियों को बांधता (बांधते) है।

इस सूत्रपाठ से सिद्ध हुआ कि—जब आत्मा आठों कर्मों की प्रकृतियों को बांधने लगता है तब उसके पहले ज्ञानावरणीय (अज्ञानता का) कर्म का उदय होता है फिर वह यथाक्रम से आठों कर्मों की प्रकृतियों को बांध लेता है। अतएव जिस प्रकार अज्ञानता पूर्वक कर्म बांधता है ठीक उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान द्वारा बहुतसे कर्म क्षय कर देता है। जब सर्वथा कर्मों के लेप से जीव विमुक्त होजाता है तब इसी जीव के नाम सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, पारगत मुक्त इत्यादि होजाते हैं।

प्रश्न—ज्ञानावरणीय कर्म किन २ कारणों से बांधते हैं?

उत्तर—अज्ञान पूर्वक जीव ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं। जब आत्मा को सम्यग्ज्ञान होजाता है तब वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षय कर देता है अर्थात् जब सर्वथा उक्त कर्म का आत्म-प्रदेशों से अभाव होजाता है तब वह आत्मा सर्वज्ञ बन जाता है। यदि उक्त कर्म सर्वथा क्षय न किया जा सके अर्थात् उक्त कर्म क्षयोपशम ही किया जाए तब उस क्षयोपशम करने वाले आत्मा को मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यव ये चार ज्ञान उत्पन्न होजाते हैं। अतएव उक्त चारों ज्ञानों का नाम छद्मस्थ ज्ञान कहा गयाहै। ज्ञानावरणीय कर्म छः कारणों से बांधा जाता है।

णाणावरणिज्जकम्मा सरीरप्पयोगबंधेणं भंते! कस्स कम्मस्स उदएणं? गोयमा! नाणपडिणीययाए णाणणिएहवणयाए णाणंतराएणं णाणप्पदोसेणं णाणच्चासादणाए णाणविसंवादणाजोगेणं णाणावर-

णिज्जकम्मा सरीरप्पयोगनामाए कम्मस्स उदएणं णाणावरणिज्जकम्मा सरीरप्पयोगबंधे ॥

भगवतीसूत्रशतक ८ उद्देश ९ ।

टीका—कम्मासरीरेत्यादिः "णाणपडिणीययाए" त्ति ज्ञानस्य—श्रुतादेस्तदभेदात् ज्ञानवतां वा या प्रत्यनीकता—सामान्येन प्रतिकूलता सा तथा तया, "णाणनिण्हवणयाए" त्ति ज्ञानस्य—श्रुतगुरूणां वा या निह्नवता—अपलपनं सा तथा तया न्नाणंतेराएणं" त्ति ज्ञानस्य—श्रुतस्यान्तरायः—तद्ग्रहणादौ विघ्नो यः स तथा तेन "नाणपओसेणं"त्ति ज्ञाने—श्रुतादौ ज्ञानवत्सु वा यः प्रद्वेषः—अप्रीतिः स तथा तेन 'नाणऽच्चा सायणाए' त्ति—ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा याऽत्याशातना—हेलना सा तथा "नाणविसंवायणाजोगेणं" त्ति ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा विसंवादनयोगो—व्यभिचारदर्शनाय व्यापारो यः स तथा तेन एतानि च बाह्यानि कारणानि ज्ञानावरणीय कार्मण शरीरबन्धे अथाऽनन्तरं कारणमाह—'णाणावरणिज्ज' मित्यादि ज्ञानावरणीय हेतुत्वेन ज्ञानावरणीयलक्षणं यत्कार्म्मणशरीरप्रयोग नाम तत्तथा तस्य कर्म्मण उदयेनेति"

भावार्थ—श्री गौतम स्वामी श्रीश्रमण भगवान् महावीर प्रभु से पूछते हैं कि—हे भगवन् ! ज्ञानावरणीय कार्मण शरीरप्रयोगबंध किस कर्म के उदय से होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् प्रतिपादन करते हैं कि—हे गौतम ! छः कारणों से आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म को बांधते हैं और ज्ञानावरणीय कार्मण शरीरप्रयोग नाम कर्म के उदय से ज्ञानावरणीय कार्मण शरीर प्रयोग का बंध कथन किया गया है। किन्तु जो ज्ञानावरणीय कर्म का बंध छः प्रकार से प्रतिपादन किया गया है वह निम्न प्रकार से जानना चाहिए जैसेकि—

१ ज्ञान और ज्ञानवान् आत्मा की प्रतिकूलता करने से।

२ श्रुतज्ञान वा श्रुतगुरु उन का नाम छिपाने से अर्थात् ज्ञान को छिपाना और मन में यह भाव रखना कि-यदि अमुक व्यक्ति को श्रुत ज्ञान सिखला दिया तब उस का महत्व वढ़ जाएगा तथा जिस से मैं पढ़ा हूँ उसका नाम बतला दिया तो मेरी अपेक्षा से उस की कीर्त्ति वढ़ जाएगी वा अन्य व्यक्ति जाकर उस से पढ़ लेंगे इत्यादि कुविचारों से ज्ञान को वा श्रुत गुरु के नाम को छिपाते रहना।

३ श्रुतज्ञान के पढ़ने वालों को सदैव काल विघ्न करते रहना जिससे कि वे पढ़ न सकें। मन में इस बात का विचार करते रहना कि-यदि ये पढ़ गए तो मेरी कीर्त्ति न्यून हो जायगी।

४ ज्ञान वा ज्ञानवालों से द्वेष करना अर्थात् जो मूढ़ हैं उन से प्रेम और जो ज्ञानवान् हैं उन के साथ द्वेष। इस प्रकार के भावों से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध किया जाता है।

५ ज्ञान वा ज्ञानियों की हलना वा निंदा करते रहना।

६ ज्ञान वा ज्ञानयुक्त आत्माओं के सम्बन्ध में व्यभिचार दोष प्रकट करते रहना। जैसे कि—ज्ञान पढ़ने से लोग व्यभिचारी बन जाते हैं तथा यावन्मात्र संसार में विवाद हो रहे हैं उनके मुख्य कारण ज्ञानवान् ही हैं अतएव ज्ञान का न पढ़ना ही हितकर है इत्यादि।

इन कारणों से आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म को बांध लेता है अर्थात् ज्ञान से वंचित ही रहता है। इसके प्रतिपक्ष में यदि उक्त कारण उपस्थित न किये जाएँ तब आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म से विमुक्त हो जाता है।

प्रश्न—दर्शनावरणीय कर्म जीव किन २ कारणों से बांधते हैं ?

उत्तर—जिस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के बंध के कारण बतलाये गए हैं ठीक उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म बांधा जाता है जैसे कि--

दरिसणावरणिज्जकम्मा सरीरप्पयोगबंधे णं भंते ? कस्स कम्मस्स उदएणं ? गोयमा ! दंसणपडिणीययाए एवं जहा णाणावरणिज्जं नवरं दंसणं घेतव्वं जाव विसंवादणाजोगेणं दरिसणावरणिज्जकम्मा सरीरप्पयोग नामाए कम्मस्स उदएणं जाव प्पयोगबंध ॥

भगवतीसूत्रशतक ८ उद्देश ९।

भावार्थ—(प्रश्न) हे भगवन् ! दर्शनावरणीय कार्मण शरीरप्रयोगबंध किस कर्म के उदय से होता है ? (उत्तर) हे गौतम ! दर्शनावरणीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से और दर्शन प्रतिकूलतादि छः कारणों से दर्शनावरणीय कार्मण शरीर का बंध हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म का बंध प्रतिपादन किया गया है ठीक उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म का बंध प्रतिपादन किया गया है।

प्रश्न— साता वेदनीय कर्म किस कारण से बांधा जाता है अर्थात् जिस कर्म के उदय से सुख की प्राप्ति होती रहे उस कर्म का बंध किस प्रकार से किया जाता है ?

उत्तर—साता वेदनीय कर्म का बंध अन्तःकरण से प्रत्येक प्राणी को साता (शांति-सुख) देने से किया जाता है जैसे कि—

सायावेयणिज्जकम्मा सरीरप्पयोग बंधेणं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? गोयमा ! पाणाणुकंपाए भूयाणुकंपाए जीवाणुकंपाए सत्ताणुकंपाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए

अतिप्पणयाए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाणं साया वेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ॥

भगवती सूत्र शतक ८ उद्देश ९ ।

भावार्थ—(प्रश्न) हे भगवन् ! सातावेदनीय कार्मणशरीरप्रयोग बंध किस कर्म के उदय से होता है ? (उत्तर) हे गौतम ! प्राणियों की, भूतों की, जीवों की, सत्वों की अनुकंपा करने से, बहुत से प्राणी यावत् सत्वों को दुःख न देने से, दैन्य भाव उत्पन्न न करने से, शोक उत्पन्न न करने से, अश्रुपात न कराने से, यष्ट्यादि के न ताड़ने से, शरीर को परिताप न देने से। इस प्रकार हे गौतम ! जीव साता वेदनीय कर्म को बांधते हैं। इस सूत्र का यह मन्तव्य है कि–सातावेदनीय कर्म प्राणी मात्र को साता देने से बांधा जाता है जिस का परिणाम जीव सुखरूप अनुभव करते हैं।

प्रश्न—असाता वेदनीय कर्म किस कारण से बांधा जाता है ?

उत्तर—जीवों को असाता उत्पन्न करने से क्योंकि-जिस प्रकार जीवों को दुःखों से पीड़ित किया जाता है, ठीक उसी प्रकार असाता (दुःख) वेदनीय कर्म का रस अनुभव करने में आता है। तथा च पाठः—

अस्साया वेयणिज्जपुच्छा, गोयमा ! परदुक्खणयाए परसोयणयाए परजूरणयाए परतिप्पणयाए परपिट्टणयाए परपरियावणयाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जाव परियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवा अस्साया वेयणिज्जा जावप्पयोगबंधे ॥

भगवती सू० शतक ८ उद्देश ९ ।

भावार्थ—जिस प्रकार जीवों को सुख देने से साता वेदनीय कर्म बांधा जाता है ठीक उसी प्रकार दुःख देने से, सोच कराने से, शरीर के अपचय (पीड़ा) करने से, अश्रुपात कराने से, दंडादि द्वारा ताड़ने से, शरीर को परिताप न देने से असाता वेदनीय कर्म बांधा जाता है। जिस का परिणाम जीव को दुःख रूप भोगना पड़ता है.।

प्रश्न—मोहनीय कर्म किस प्रकार से बांधा जाता है और मोहनीय कर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस कर्म के करने से आत्मा धर्ममार्ग से पराङ्मुख रहे और सदैव काल पौद्गलिक सुखों की अभिलाषा करता रहे उसे ही मोहनीय कर्म कहते हैं। जिस प्रकार मदिरापान करने वाला जीव तत्त्व विचार से पतित हो जाता है ठीक उसी प्रकार मोहनीय कर्मवाला जीव प्रायः धर्म क्रियाओं से

रहित हो जाता है. किन्तु यह कर्म केवल तीव्र कषायों के उदय से ही बांधा जाता है। तथा च पाठः--

मोहणिज्जकम्मा सरीरप्पयोगपुच्छा, गोयमा ! तिव्वकोहयाए तिव्व माणयाए तिव्वमायाए तिव्वलोहाए तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए तिव्व चरित्तमोहणिज्जयाए ॥ मोहणिज्जकम्मासरीर जाव पयोगबंधे।

भग० शत० ८ उद्देश ६।

भावार्थ—श्री गौतम स्वामी जी श्रीश्रमण भगवान् महावीर स्वामी से पूछते हैं कि—हे भगवन् ! मोहनीय कार्मण शरीर प्रयोगबंध किस कर्म के उदय से होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् प्रतिपादन करते हैं कि-हे गौतम ! तीव्र क्रोध, तीव्र मान, तीव्र माया, तीव्र लोभ, तीव्र दर्शन मोहनीय कर्म और तीव्र चारित्र मोहनीय कर्म के द्वारा मोहनीय कार्मण शरीर का बंध होजाता है। तात्पर्य इतना ही है कि-चारों कषाय और दर्शन तथा चारित्र में मूढ़ता इन छः कारणों से मोहनीय कर्म का बंध होजाता है। जिस का परिणाम जीव को उक्त प्रकारेण भोगना पड़ता है और वह धर्मपथ से प्रायः पराङ्मुख ही रहता है। एवं सदैव सांसारिक पदार्थों के आसेवन की इच्छा में लगा रहता है

प्रश्न—नैरयिक आयुष्कार्मण शरीर का बंध किस प्रकार से किया जाताहै ?

उत्तर-जो जो कर्म (क्रियाएँ) नरक के आयुष् के प्रतिपादन किये गए हैं उनके आसेवन से नैरयिकायुष्कार्मण शरीर का बंध किया जाता है। जैसेकि-

नेरयाउयकम्मासरीरप्पयोग बंधेणं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! महारंभयाए महापरिग्गहयाए कुणिमाहारेणं पचिंदियवहेणं नेरइयाउयकम्मा सरीरप्पयोग नामाए कम्मस्स उदएणं नेरइयाउयकम्मासरीर जाव पयोग-बंधे ॥

भगवतीसूत्र श. ८ उ० ६ ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! नरक की आयु जीव किस प्रकार से बांधते हैं ? इसके उत्तर में श्रीभगवान् प्रतिपादन करते हैं कि हे गौतम ! महाहिंसा (आरम्भ) करने से, महापरिग्रह की लालसा से, मृतक वा मांस भक्षण से और पंचेन्द्रिय जीवों के वध से जीव नरक के कार्मण शरीर की उपार्जना करलेता है। जिसका परिणाम यह होता है कि-मर कर नरक में उत्पन्न होना पड़ता है।

प्रश्न—तिर्यग्भव की आयु जीव किन २ कारणों से बांधते हैं ?

उत्तर—नाना प्रकार की छलादि क्रियाओं के करने से जीव पशु योनि की आयु बांध लेते हैं जैसेकि—

तिरिक्ख जोणियाउयकम्मासरीरप्पयोग पुच्छा, गोयमा ! माइल्लियाए नियडिल्लयाए अलियवयणेणं कूडतुलकूडमाणेणं तिरिक्खजोणिया उयकम्मासरीर जावप्पयोगबंधे ।

भग० श० ८ उद्देश ६ ।

भावार्थ—हे भगवन् ! तिर्यग्योनिकायुष्कार्मण शरीर प्रयोग का बंध किस कारण से किया जाता है ? इसके उत्तर में श्री भगवान् कहते हैं कि-हे गौतम ! पर के वंचन (छलने) की बुद्धि से, वंचन के लिये जो चेष्टाएँ हैं उन में माया का प्रच्छादन करने से अर्थात् छल में छल करने से, असत्य भाषण से और कूट तोलना और कूट ही मापना इस प्रकार की क्रियाओं के करने से जीव पशु योनि की आयु बांध लेता है । जिसका परिणाम यह होता कि-वह मर कर फिर पशु बन जाता है ।

प्रश्न—मनुष्य की आयु जीव किन २ कारणों से बांधते हैं ?

उत्तर—भद्रादिक्रियाओं के करने से जीव मनुष्य की आयु को बांध लेता है जैसेकि—

मणुस्सआउयकम्मा सरीर पुच्छा, गोयमा ! पगइभद्दयाए पगइविणीययाए साणुक्कोसयाए अमच्छारियाए मणुस्साउयकम्माजावप्पयोगबंधे ।

भग० श० ८ उ० ६ ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मनुष्य की आयु जीव किन २ कारणों से बांधते हैं ? हे शिष्य ! स्वभाव की भद्रता से, स्वभाव से ही विनयवान् होने से, अनुकंपा के करने से और परगुणों में असूया न करने से अर्थात् किसी पर ईर्ष्या न करने से । इन कारणों से मनुष्यायुष्कार्मण शरीर का बंध किया जाता है ।

प्रश्न—देव की आयु किन २ कारणों से बांधी जाती है ?

उत्तर—सराग संयमादि क्रियाओं से देवभव की आयु बांधी जाती है जैसेकि—

देवाउयकम्मासरीर पुच्छा, गोयमा ! सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं बालतवोकम्मेणं अकामनिज्जराए देवाउयकम्मा सरीरजावप्पयोगबंधे ॥

भगवती, सू० शतक ८ उद्देश ॥६॥

भावार्थ—हे भगवन् ! देवायुष्कार्मण शरीर किन २ कारणों से बांधा जाता है ? हे शिष्य ! देवभव की आयु चार कारणों से बांधी जाती है । जैसेकि—राग भाव पूर्वक साधु वृत्ति पालन से गृहस्थ धर्म पालन करने से, अज्ञानता पूर्वक कष्ट सहने से, अकामनिर्जरा (वस्तु के न मिलने से)

आज्ञा विना ब्रह्मचर्यादि व्रत पालने से आत्मा देवभव के आयुष्कर्म को बांध लेता है

प्रश्न--शुभ नाम कर्म किन २ कारणों से बांधता है ?

उत्तर--सरल भावों से जीव शुभ नाम कर्म की प्रकृतियों को बांध लेता है।

प्रश्न--सूत्र में शुभ नाम कर्म के बांधने के कितने और कौन २ कारण बतलाये हैं ?

उत्तर—

सुभनामकम्मासरीरपुच्छा, गोयमा ! काय उज्जुययाए भावुज्जुययाए भासुज्जुययाए अविसंवादण जोगेणं सुभनामकम्मासरीर जावप्पयोगबंधे ॥

भग० शत० ८ उ० ६ ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! शुभ नाम कर्म जीव किन २ कारणों से बांधते हैं ? हे शिष्य ! चार कारणों से जीव शुभ नाम कर्म बांधते हैं । जैसेकि-१ काय की ऋजुता अर्थात् काय द्वारा किसी के साथ छल न करने से, २ भाव की ऋजुता—मन में छल धारण न करने से, ३ भाषा की ऋजुता—भाषा छल पूर्वक भाषण न करने से ४ अविसंवादनयोग—शुद्ध योगों से अर्थात् जिस प्रकार मन, वचन और काय के योगों में वक्रता उत्पन्न न हो उस प्रकार के योगों के धारण करने से आत्मा शुभ नाम कर्म की उपार्जना करलेता है। जिस के प्रभाव से शरीरादि की सौंदर्यता के अतिरिक्त स्थिर और यशोकीर्त्ति आदि नाम कर्म बांधा जाता है.

प्रश्न—अशुभ नाम कर्म किन २ कारणों से बांधा जाता है ?

उत्तर—जिन २ कारणों से शुभ नाम की उपार्जना की जाती है ठीक उसी के विपरीत क्रियाओं के करने से अशुभ नाम कर्म बांधा जाता है। जैसे कि-

असुभनामकम्मासरीरपुच्छा, गोयमा ! कायअणुज्जुययाए, भाव अणुज्जुययाए भासअणुज्जुययाए विसंवायणाजोगेणं, असुभनामकम्मा जावप्पयोगबंधे ।

भग० श० ८ उद्देश ६ ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! अशुभ नाम कार्मणशरीर किन २ कारणों से बांधा जाता है ? हे शिष्य ! काय की वक्रता से, भावों की वक्रता से, भाषा की वक्रता से और योगों के विसंवादन से अशुभ नाम कार्मण शरीर बांधा जाता है।

प्रश्न—ऊंचगोत्र नाम कार्मण शरीर प्रयोगबंध किस प्रकार से किया जाता है ?

उत्तर—किसी भी प्रकार से अहंकार न किया जाए अर्थात् किसी पदार्थ के मिलने पर यदि गर्व न किया जाए तब आत्मा ऊंचगोत्र कर्म की उपार्जना करलेता है। जैसेकि--

उच्चागोयकम्मासरीरपुच्छा, गोयमा ! जातिअमदेणं कुलअमदेणं बलअमदेणं रूवअमदेणं तवअमदेणं सुयअमदेणं लाभअमदेणं इस्सरिय अमदेणं उच्चागोयकम्मा सरीर जावप्पयोगबंधे, ॥

भग० शत० ८ उ० ६ ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! ऊंचगोत्र नाम कार्मण शरीर प्रयोग का बंध किस प्रकार से किया जाता है ? हे शिष्य ! जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, और ऐश्वर्य का मद न करने से ऊंचगोत्र नाम कार्मण शरीर प्रयोग का बंध किया जाता है अर्थात् किसी भी पदार्थ का गर्व न करने से ऊंचगोत्र कर्म की उपार्जना की जाती है।

प्रश्न—नीचगोत्र कर्म किस प्रकार से बांधा जाता है ?

उत्तर—जिन २ कारणों से ऊंच गोत्र कर्म का बंध माना गया है ठीक उसके विपरीत नीच गोत्र कर्म का बंध प्रतिपादन किया गया है। जैसेकि—

नीया गोयकम्मासरीर पुच्छा, गोयमा ! जातिमदेणं कुलमदेणं बलमदेणं जाव इस्सरियमदेणं णीयागोयकम्मासरीर जावप्पयोगबंधे।

भग०सू०शतक ८ उद्देश ६ ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! नीच गोत्र कर्म जीव किन २ कारणों से बांधते हैं ? हे शिष्य ! जाति, कुल, बल, यावत् ऐश्वर्य का मद करने से जीव नीच गोत्र कर्म की उपार्जना कर लेते हैं, इस सूत्र का आशय यह है कि--जिस पदार्थ का मद किया जाता है वास्तव में वही पदार्थ उस आत्मा को फिर कठिनता से उपलब्ध होता है क्योंकि--वास्तव में जीव की ऊंच और नीच संज्ञा नहीं है. शुभ और अशुभ पदार्थों के मिलने से ही ऊंच और नीच कहा जा सकता है। सो आठ कारण स्फुट रूप से ऊपर वर्णन किये जाचुके हैं।

प्रश्न--अंतरायकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर--जिस कर्म के उदय से कार्यों की सिद्धि में विघ्न उपस्थित हो जावे, उसका नाम अंतराय कर्म है। क्योंकि--मन में कार्य की सिद्धि के लिये अनेक प्रकार के संकल्प उत्पन्न किये गए थे परन्तु सफलता किसी कार्य की भी न होसकी। तब जान लेना चाहिए कि--अंतराय कर्म का उदय होरहा है।

प्रश्न--वह अंतराय कर्म किन २ कारणों से बांधा जाता है ?

उत्तर--प्रत्येक प्राणी की कार्यसिद्धि में विघ्न डाल देने से इस कर्म की उपार्जना की जाती है। इस कर्म के बंधन के मुख्य कारण पांच हैं। जैसेकि—

अंतराइयकम्मा सरीर पुच्छा, गोयमा ! दाणंतराएणं लाभंतराएणं भोगंतराएणं उवभोगंतराएणं वीरियंतराएणं अंतराइयकम्मा सरीरकम्मा सरीरप्पयोग बंधे ॥

भावार्थ—इस सूत्र में श्री गौतम स्वामी जी श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी जी से पूछते हैं कि--हे भगवन् ! अंतरायिक कार्मण शरीर किन २ कारणों से बांधा जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् बोले कि - हे गौतम ! अंतरायिक कार्मण शरीर पांच कारणों से बांधा जाता है । जैसेकि— दान की अंतराय देने से,किसी को लाभ होता हो उस में विघ्न डालने से, भोगों की अंतराय देने से, जो वस्तु पुनः २ भोगने में आती हो उसकी अंतराय देने से अर्थात् उपभोग्य पदार्थों के विषय अंतराय देने से और बल वीर्य की अंतराय देने से । जैसेकि --कोई पुरुष शुभ कर्म विषय पुरुषार्थ करने लगा तब उस पुरुष को विघ्न उपस्थित कर देना ताकि वह उस काम को न कर सके । इस प्रकार की क्रियाओं के करने से जीव अंतराय कर्म बांध लेता है, जो दो प्रकार से भोगने में आता है जैसेकि--जो जो प्रिय पदार्थ अपने पास हों उनका वियोग और जिन पदार्थों के मिलने की आशा हो वे न मिल सकें तब जानना चाहिए कि--अंतराय कर्म उदय में आरहा है । अतएव जब आत्मा आठों कर्मों से विमुक्त होजाता है तब ही उस आत्मा को निर्वाण पद की प्राप्ति होती है।

इस स्थान पर तो केवल आठ कर्मों के नाम ही निर्देश किये गए हैं किन्तु जैनशास्त्रों में तथा कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों में इन कर्मों की उत्तर प्रकृतियों का सविस्तर स्वरूप लिखा गया है अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश आदि विषयों में सविस्तर रूप से व्याख्या लिखी गई है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि—कर्म जड़ होने पर भी जीव को किस प्रकार फल दे सकते हैं ? पाँच समवाय प्रत्येक कार्य में सहायक होते हैं जैसे कि—काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ। सो ये पाँच ही समवाय प्रत्येक कार्य के करते समय सहायक बनते हैं। जिस प्रकार कृषिकर्म कर्ता जब पाँच समवाय उसके अनुकूल होते हैं तब ही वह सफल मनोरथ होता है जैसे कि—पहिले तो खेती में बीज बीजने (बोने) का समय ठीक होना चाहिए, जब समय ठीक आगया हो तब उस बीज का अंकुर देने का

स्वभाव भी होना चाहिए, क्योंकि—यदि बीज दग्ध है वा अन्य प्रकार से उसका स्वभाव अंकुर देने का नहीं रहा है तब वह बीज फलप्रद नहीं होगा। अतः बीज का शुद्ध स्वभाव होना चाहिए, फिर स्वभावानुसार नियति (होनहार) होनी चाहिए जैसे कि—खेती की रक्षादि। फिर लाभप्रद कर्म होना चाहिए जिससे खेती धान्यों से निर्विघ्नता पूर्वक पूर्ण हो जावे। जब ये कर्म अनुकूल हों तब फिर उस खेती की सफलता सर्वथा पुरुषार्थ पर ही निर्भर है क्योंकि—उक्त चारों कारणों की सफलता केवल पुरुषार्थ पर ही अवलम्बित है। कल्पना करो कि—समय, स्वभाव, नियति (भवितव्यता) और कर्म ये चारों अनुकूल भी हो जाएँ, परन्तु चारों की सिद्धि में पुरुषार्थ नहीं किया गया तब चारों ही निष्फल सिद्ध होंगे। सिद्ध हुआ कि—प्रत्येक कार्य में पूर्वोक्त पाँचों समवायों की अत्यन्त आवश्यकता है। सो जिस समय जीव कर्मों के फल को भोगने लगता है तब उस फल को भोगने के लिये पाँच ही समवाय एकत्र हो जाते हैं। यदि ऐसे कहा जाय कि—कर्म तो जड़ हैं, वे जीव को फल किस प्रकार दे सकते हैं? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि-ऋतु (काल) तो जड़ है यह पुष्पों वा वृक्षों को प्रफुल्लित किस प्रकार कर सकती है? तथा मदिरा भी तो जड़ है यह पीने वाले को अचेत किस प्रकार करदेती है? इसी प्रकार कर्म जड़ होने पर भी पाँचों समवायों के मिल जाने पर आत्मा को शुभाशुभ फलों से युक्त करदेते हैं। जिस समय जीव कर्म करता है उसी समय उसके उदय वा उपशमादि निमित्तों को भी बाँध लेता है। जिस प्रकार जब किसी व्यक्ति को किसी रोग का चक्र (दौरा) आने लगता है तब उसे रोकने के लिये वैद्य लोग अनेक प्रकार की औषधियों का उपचार करते हैं, और क्रमशः चेष्टाओं से सफल मनोरथ हो जाते हैं। जिस प्रकार रोग चक्र का उदय और उपशम होना निश्चित है ठीक उसी प्रकार जो कर्म किये जा चुके हैं उन कर्मों का उदय वा उपशम होना भी प्रायः बाँधा हुआ होता है। साथ ही नूतन भी उपक्रम आत्मा निज भावों से उत्पन्न कर लेता है कारणकि—आत्मा वीर्ययुक्त माना गया है, वह अपने वीर्य द्वारा नूतन निमित्तादि भी उत्पन्न कर सकता है। सो आत्मा निज कर्मों के अनुसार ही सुख दुःख का अनुभव करता है। कर्मों का ठीक २ विज्ञान होने पर ही आत्मा फिर उनसे विमुक्त होने की चेष्टा करेगा। क्योंकि-यदि ज्ञान ही नहीं तो भला फिर उनसे छूटने का उद्योग किस प्रकार किया जा सकता है? सम्यग्ज्ञान होने से ही जीव चारित्रारूढ़ हो सकता है। श्री भगवान् ने भगवती सूत्र में निम्न प्रकार से जनता को दृष्टांत देकर समझाया है। जैसेकि—

अत्थि णं भंते! जीवाणं पावाकम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति?

हंता अत्थि ! कहणं भंते ! जीवाणं पावाकम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ! कालोदाई से जहा नामए केइ पुरिसे मणुन्नं थालीपागसुद्धं अट्ठारस वंजणाउलं विससंमिस्सं भोयणं भुंजेज्जा तस्स णं भोयणस्स अवाए भद्दए भवति तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे दुरूवत्ताए दुगंधत्ताए जहा महासवए जाव भुज्जो २ परिणमति एवामेव कालोदाई जीवाणं पाणाइ-वाए जाव मिच्छादंसणसल्ले तस्सणं अवाए भद्दए भवइ तओ पच्छा विपरिणममाणे २ दुरूवत्ताए जाव भुज्जो परिणमति एवं खलु कालोदाई जीवाणं पावाकम्मा पावफलविवाग, जाव कज्जंति ॥

भग० श० ७ उद्देश १० ॥

भावार्थ—कालोदायी नामक परिव्राजक-जो श्री भगवान् महावीर स्वामी के साथ प्रश्नोत्तर करके दीक्षित हो चुका था श्री भगवान् से पूछने लगा कि-हे भगवन् ! क्या पाप कर्म जीवों को पाप फल विपाक से युक्त करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् ने प्रतिपादन किया कि-कालोदा-यिन् ! पाप कर्म जीवों को पाप फल से युक्त कर देते हैं। जब इस प्रकार श्री भग-वान् ने उत्तर दिया तब कालोदायी ने फिर प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! किस प्रकार से पाप कर्म जीवों को पाप फल से युक्त करते हैं ? उत्तर में श्रीभगवान् कहने लगे कि-हे कालोदायिन् ! अत्यन्त मनोज्ञ (प्रिय), स्थालीपाक शुद्ध अर्थात् शुद्ध और पवित्र अष्टादश प्रकार के व्यंजन शालन (शकादि) तक्रादि से युक्त और अतिसुंदर भोजन में विष संमिश्रित (मिलाकर) कर कोई पुरुष उसे खावे, तब वह भोजन पहले खाते समय तो प्रिय और मनोहर लगता है किन्तु पश्चात् परिणाम भाव को प्राप्त होता हुआ शरीर के दुरूप भाव को और दुर्गन्धता को तथा शरीर के सर्व अवयवों को बिगाड़ता हुआ जीवितव्य से रहित कर देता है। अपितु वह विष संमिश्रित भोजन खाते समय कोई हानि उत्पन्न नहीं करता। उसी प्रकार हे कालोदायिन्! जीवों को प्राणातिपात, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य भाव, परपरिवाद, माया, मृषा, रति, अरति, मिथ्यादर्शनशल्य ये कर्म करते हुए तो प्रिय लगते हैं किन्तु विपरिणमन होते हुए जीवों को सर्व प्रकार से दुःखित करते हैं अर्थात् शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित करते हैं। इस प्रकार हे कालोदा-यिन् ! जीवों को पापकर्म पापफल विपाक से युक्त करते हैं । इस प्रश्नोत्तर का सारांश इतना ही है कि--जिस प्रकार प्रिय भोजन में भक्षण किया हुआ

विष प्रथम तो कोई हानि उत्पन्न नहीं करता, किन्तु जब विष परिणत होजाता है तब शरीर की दशा को बिगाड़ कर मृत्यु तक पहुंचाता है: उसी प्रकार पापकर्म जब किया जाता है तब तो प्रिय लगता है परन्तु करने के पश्चात् बहुत दुःखोत्पादक होजाता है। अतः जिस प्रकार विष ने काम किया ठीक उसी प्रकार पाप कर्म फल देता है।

अब कालोदायी श्री भगवान् से शुभ कर्म विषय फिर प्रश्न करते हैं। जैसेकि--

अत्थिणं भंते ! जीवाणं कल्लाणकम्मा कल्लाणफलविवाग संजुत्ता कज्जंति ! हंता अत्थि,कहणं भंते ! जीवाणं कल्लाणकम्मा जाव कज्जंति ? कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुन्नं थालीपागसुद्धं अट्ठारस वंजणाकुलं ओसहमिस्सं भोयण भुंजेज्जा ! तस्सणं भोयणस्स आवाए नो भद्दए भवइ,तओ पच्छा परिणममाणे २ सुरूवत्ताए सुवन्नत्ताए जाव सुहत्ताए नो दुक्खत्ताए भुज्जो २ परिणमति, एवामेव कालोदायी ! जीवाणं पाणाइवाय वेरमणे जाव परिग्गह वेरमणे कोह विवेगे जाव मिच्छादंसणसल्ल विवेगे तस्सणं आवाए नो भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणममाणे २ सुरूवत्ताए जाव नो दुक्खत्ताए भुज्जो २ परिणमइ एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कल्लाणा कम्मा जाव कज्जंति ॥

भग० शतक ७ उद्देश १० ॥

भावार्थ- कालोदायी श्री श्रमण भगवान् महावीर प्रभु से पूछते हैं कि-हे भगवन् ! क्या जीवों को कल्याणकारी कर्म कल्याण फल विपाक से युक्त करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् ने प्रतिपादन किया कि-हे कालोदायिन् ! हाँ, कल्याणकारी कर्म जीवों को कल्याण फल से युक्त करते हैं। तब फिर उदायिन ने प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! किस प्रकार उक्त कर्म कल्याण फल से युक्त करते हैं ? उत्तर में श्री भगवान् ने कथन किया कि हे कालोदायिन् ! जैसे किसी पुरुष ने स्थालीपाक शुद्ध अष्टादश व्यंजनों से युक्त शुद्ध और पवित्र भोजन औषध से मिश्रित खा लिया। तब खाते समय वह भोजन उस पुरुष को प्रिय नहीं लगता है क्योंकि-औषध के कारण उस का रस कटुकादि होगया है। किन्तु जब उस भोजन का परिणमन होता है तब उस पुरुष के रोग दूर होजाने से उस की सुरूपता और सुवर्णता तथा सुखरूप भाव में वह भोजन परिणत होजाता है; ठीक उसी प्रकार हे कालोदायिन् ! जब जीव हिंसादि १८ पाप कर्मों को छोड़ता है तब उस समय तो उस जीव को कष्ट सा प्रतीत होता है क्योंकि-दुष्ट कर्मों का जब परित्याग करना पड़ता है तब मन आदि संकल्पों का निरोध करना अति कठिन सा प्रतीत होने लगता है,

किन्तु जब उन शुभ कर्मों का फल उपलब्ध होता है तब आत्मा सर्व प्रकार से सुखों के अनुभव करने में तत्पर होता है । अतएव निष्कर्ष यह निकला कि-जिस प्रकार औषध से मिश्रित भोजन करना तो पहिले कठिन सा प्रतीत होता है परन्तु पीछे वह भोजन सुख के उत्पादन का कारण बन जाता है ठीक उसी प्रकार शुभ कर्म करने तो अति कठिन से प्रतीत होते हैं परन्तु जब वे फल देते हैं तब जीव को परम सुखी बना देते हैं ।

अतएव जब आत्मा शुभ वा अशुभ कर्मों से सर्वथा विमुक्त हो जाता है तब उस को निर्वाणपद की प्राप्ति होती है । कारण कि-कर्म फल का नाम मोक्ष नहीं है, अपितु कर्म क्षय का नाम मोक्ष है । यदि कर्मफल का नाम मोक्ष मान लिया जाय तब कर्मों का फल सादि सान्त होने से मोक्ष पद सादि सान्त हो जायगा। ऐसा किसी भी कर्म का फल देखने में नहीं आता कि-जिस का फल सादि अनंत हो, अतएव कर्म क्षय का नाम ही मोक्ष मानना युक्तियुक्त है। साथ ही इस बात का ध्यान होना चाहिए कि-कर्म मन से भी, वचन से भी और काय से भी किये जाते हैं। जब तीन योगों से कर्म किये जाते हैं तब स्वयं कर्म करने, औरों से कर्म कराने, जो करते हैं उनकी अनुमोदना करना, इस प्रकार तीनों करणों से भी कर्मों का बंध किया जाता है । सो जब योग और करणों का निरोध किया जायगा तब ही इस आत्मा का निर्वाण होगा।

जिस प्रकार स्निग्ध तैलादि के घट पर जो रज पड़ती है वह सब रज उस घट पर जम जाती है, ठीक उसी प्रकार जब आत्मा में राग और द्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं तब उन भावों के कारण आत्मप्रदेशों पर पुद्गलास्तिकाय के सूक्ष्म अनंत प्रदेशी स्कन्ध आते हैं और फिर वह आत्मप्रदेशों पर जम जाते हैं। सो उन्हीं का नाम कर्म है वे स्कन्ध स्थितियुक्त होने से कर्मों की स्थिति मानी जाती है। जब वे स्कंध आत्मप्रदेशों से पृथक् होने लगते हैं तब वे अपना रस आत्मा को अनुभव कराते हैं। जैसे मुख में डाली हुई मिश्री जब वह मुख में अपने स्थूल पन को छोड़ कर सूक्ष्मरूप में आती है तब ही जिह्वा उस के रस का अनुभव करने लगती है इसी प्रकार कर्मों के विषय में भी जानना चाहिए। सो संवर द्वारा जब नूतन कर्मों का आगमन-निरोध किया गया तब तप कर्म द्वारा पुरातन कर्म क्षय किये जाते हैं जैसे कि-

ध्यान—चार तरह का होता है (१) आर्त (२) रौद्र (३) धर्म (४) शुक्ल । इन में पहले दो पाप बन्ध के कारण हैं। धर्म शुक्ल में जितनी वीतरागता है वह कर्मों की निर्जरा करती है व जितना शुभराग है वह पुण्य बंध का कारण है ।

आर्तध्यान—चार तरह का होता है । (१) इष्टवियोगज—इष्ट स्त्री, पुत्र, धनादि के वियोग पर शोक करना । (२) अनिष्टसंयोगज—अनिष्ट दुःखदायी

सम्बन्ध होने पर शोक करना । (३) पीड़ाचिन्तवन—पीड़ा रोग होने पर दुःखी होना । (४) निदान—आगामी भोगों की चाह से जलना ।

रौद्रध्यान—चार तरह का होता है । (१) हिंसानन्द-हिंसा करने कराने में व हिंसा हुई सुनकर आनन्द मानना । (२) मृषानन्द—असत्य बोलकर, बुलाकर व बोला हुआ जान कर आनन्द मानना । (३) चौर्यानन्द-चोरी करके, कराके व चोरी हुई सुनकर आनन्द मानना । (४) परिग्रहानन्द—परिग्रह बढ़ाकर, बढ़वाकर व बढ़ती हुई देखकर हर्ष मानना ।

धर्मध्यान—चार प्रकार का है । (१) आज्ञाविचय—जिनेन्द्र की आज्ञानुसार आगम के द्वारा तत्वों का विचार करना । (२) अपायविचय—अपने व अन्य जीवों के अज्ञान व कर्म के नाश का उपाय विचार करना (३) विपाकविचय—आपको व अन्य जीवों को सुखी या दुःखी देखकर कर्मों के फल का स्वरूप विचारना । (४) संस्थानविचय—इस लोक का तथा आत्मा का आकार वा स्वरूप का विचार करना । इसके चार भेद हैं:-

(१) पिंडस्थ (२) पदस्थ (३) रूपस्थ (४) रूपातीत ।

पिंडस्थध्यान

ध्यान करने वाला मन, वचन, काय शुद्धकर एकान्त स्थान में जाकर पद्मासन या खड़े आसन व अन्य किसी सिद्धादि आसन से तिष्ठकर अपने पिंड या शरीर में विराजित आत्मा का ध्यान करे । सो पिंडस्थ ध्यान है । इसकी पांच धारणाएं हैं:—

१ पार्थिवीधारणा—इस मध्यलोक को क्षीर समुद्र के समान निर्मल देख कर उसके मध्य में एक लाख योजन व्यास वाला जम्बूद्वीप के समान ताए हुए सुवर्ण के रंग का एक हज़ार पाँखड़ी का एक कमल विचारे । इस कमल के सुमेरु पर्वत समान पीत रंग की ऊँची किर्णिका विचारे । फिर इस पर्वत के ऊपर पाण्डुक वन में पाण्डुक शिला पर एक स्फटिक मणी का सिंहासन विचारे और यह देखे कि मैं इसी पर अपने कर्मों को नाश करने के लिये बैठा हूं । इतना ध्यान बार बार करके जमावे और अभ्यास करे । जब अभ्यास होजावे तब दूसरी धारणा का मनन करे ।

२ अग्निधारणा—उसी सिंहासन पर बैठा हुआ ध्यान करने वाला यह सोचे कि मेरे नाभि के स्थान में भीतर ऊपर मुख किये खिला हुवा एक १६ पाँखड़ी का श्वेत कमल है । उसके हर एक पत्ते पर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः ऐसे १६ स्वर क्रमसे पीले लिखे हैं व बीच में हँ पीला लिखा है । इसी कमल के ऊपर हृदय स्थान में एक कमल औंधा खिला हुआ आठ पत्ते का उड़ते हुए काले रंग को विचारे जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय, ऐसे आठ कर्म रूप हैं ऐसा सोचे ।

पहले कमल के हैं के से धुआं निकल कर फिर अग्नि शिखा निकल कर बढ़ी सो दूसरे कमल को जलाने लगी, जलाते हुए शिखा अपने मस्तक पर आगई और फिर वह अग्नि शिखा शरीर के दोनों तरफ रेखा रूप आकर नीचे दोनों कोनों से मिल गई और शरीर के चारों ओर त्रिकोण रूप होगई। इस त्रिकोण की तीनों रेखाओं पर र र र र र र र र अग्निमय विष्ठित हैं तथा इसके तीनों कोनों में बाहर अग्निमय स्वस्तिक हैं। भीतर तीनों कोनों में अग्निमय ॐर लिखे हैं ऐसा विचारे । यह मण्डल भीतर तो आठ कर्मों को और बाहर शरीर को दग्ध करके राखरूप बनाता हुआ धीरे २ शान्त २ शान्त हो रहा है और अग्निशिखा जहां से उठी थी वहीं समागई है। ऐसा सोचना सो अग्नि-धारणा है। इस मण्डल का चित्र इस तरह पर है:—
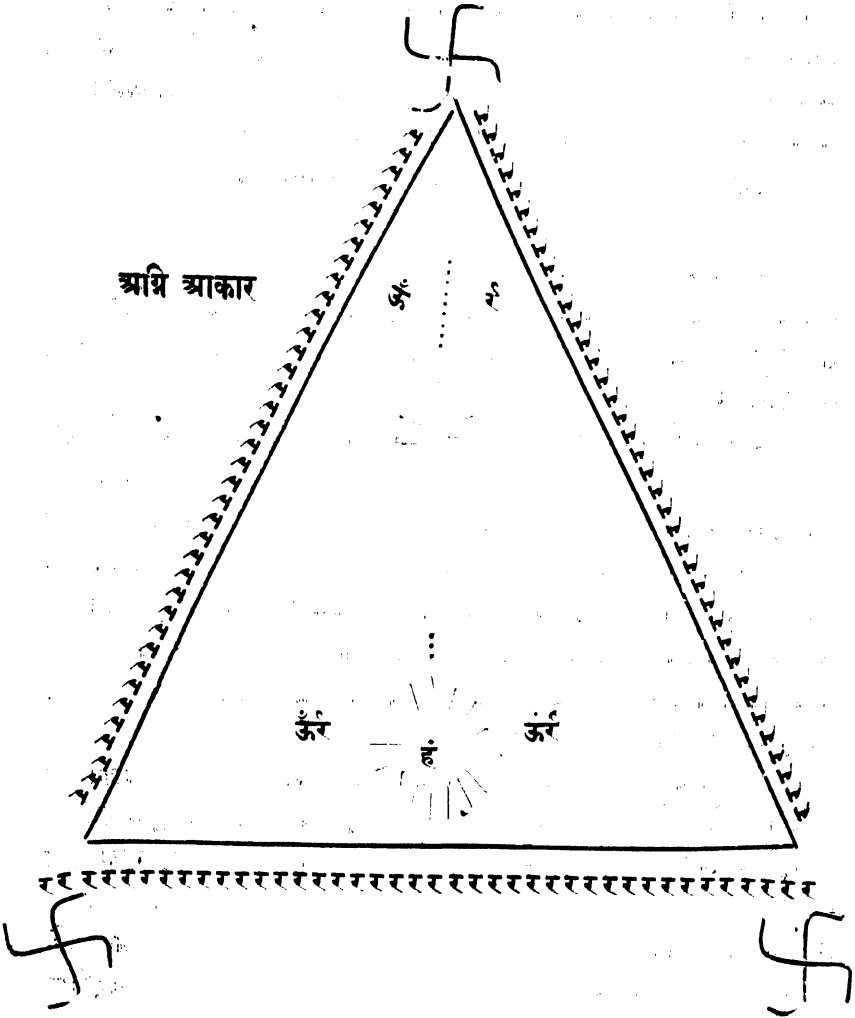
३ पवनधारणा–दूसरी धारणा का अभ्यास होने के पीछे यह सोचे कि मेरे चारों ओर पवन मंडल घूमकर राख को उड़ा रहा है। उस मंडल में सब ओर स्वाय स्वाय लिखा है *।

४ जलधारणा–तीसरी धारणा का अभ्यास होने पर फिर यह सोचे कि मेरे ऊपर काले मेघ आगये और खूब पानी बरसने लगा। यह पानी लगे हुए कर्म मैल को धोकर आत्मा को स्वच्छ कर रहा है। पपपप जल मंडल पर सब ओर लिखा है †।

५ तत्वरूपवती धारणा–चौथी का अभ्यास हो जावे तब अपने को सर्व कर्म व शरीर रहित शुद्ध सिद्ध समान अमूर्तिक स्फटिकवत् निर्मल आकार देखता रहे: यह पिंडस्थ आत्मा का ध्यान है।

पदस्थध्यान

पदस्थ ध्यान भी एक भिन्न मार्ग है। साधक इच्छानुसार इस का भी अभ्यास कर सकता है। इसमें भिन्न पदार्थों को विराजमान कर ध्यान करना चाहिए। जैसे हृदय स्थान में आठ पांखड़ी का सुफेद कमल सोचकर उसके आठ पत्तों पर क्रम से आठ पद पीले लिखे। (१) णमो अरहंताणं (२) णमो सिद्धाणं (३) णमो आइरीयाणं (४) णमो उवज्झायाणं (५) णमो लोएसव्वसाहूणं (६) सम्यग्दर्शनाय नमः ७ सम्यग्ज्ञानाय नमः ८ सम्यक्चारित्राय नमः और एक एक पद पर रुकता हुआ उस का अर्थ विचारता रहे। अथवा अपने हृदय पर या मस्तक पर या दोनों भोंहों के मध्य में या नाभि में ह्रं या ॐ को चमकता सूर्य सम देखे व अरहंत सिद्ध का स्वरूप विचार इत्यादि।

रूपस्थध्यान

ध्याता अपने चित्त में यह सोचे कि मैं समवशरण में साक्षात् तीर्थंकर भगवान् को अन्तरिक्ष ध्यानमय परम वीतराग छत्र चामरादि आठ प्रातिहार्य सहित देख रहा हूं। १२ सभाएँ हैं जिनमें देव, देवी, मनुष्य, पशु, मुनि आदि बैठे हैं, भगवान् का उपदेश होरहा है।
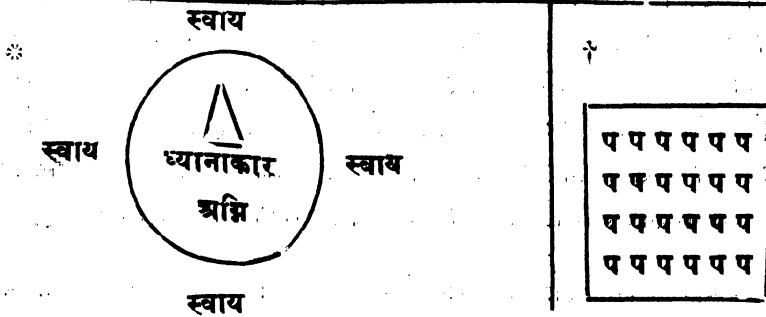
रूपातीतध्यान

ध्याता इस ध्यान में अपने को शुद्ध स्फटिकमय सिद्ध भगवान् के समान देखकर परम निर्विकल्प रूप हुआ ध्यावे।

शुक्लध्यान

धर्मध्यान का अभ्यास मुनिगण करते हुए जब सातवें दर्जे (गुणस्थान) से आठवें दर्जे में जाते हैं तब शुक्लध्यान को ध्याते हैं। इसके भी चार भेद हैं पहले दो साधुओं के अन्त के दो केवलज्ञानी अरहन्तों के होते हैं।

१ पृथक्त्ववितर्क विचार-यद्यपि शुक्ल ध्यान में ध्याता बुद्धि पूर्वक शुद्धात्मा में ही लीन है तथापि उपयोग की पलटन जिसमें इस तरह होवे कि मन, वचन काया का आलम्बन पलटता रहे, शब्द पलटता रहे व ध्येय पदार्थ पलटता रहे वह पहला ध्यान है। यह आठवें से ११वें गुणस्थान तक होता है।

(२) एकत्ववितर्कअविचार-जिस शुक्ल ध्यान में मन, वचन, काय योगों में से किसी एक पर, किसी एक शब्द व किसी एक पदार्थ के द्वारा उपयोग स्थिर होजावे। सो दूसरा शुक्ल ध्यान १२ वें गुणस्थान में होता है।

(३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-अरहन्त का काय योग जब १३ वें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म रह जाता है, तब यह ध्यान कहलाता है।

(४) व्युपरतक्रियानिवर्ति-जब सर्व योग नहीं रहते व जहां निश्चल आत्मा होजाता है तब यह चौथा शुक्ल ध्यान १४ वें गुणस्थान में होता है। यह सर्व कर्म बंधन काटकर आत्मा को परमात्मा या सिद्ध कर देता है। *

इस प्रकार सिद्ध आत्माओं के ही अजर, अमर, ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, पारंगत, सिद्ध बुद्ध, मुक्त इत्यादि अनेक नाम कहे जाते हैं। जिस प्रकार संसार अनादि कथन किया गया है उसी प्रकार सिद्ध पद भी अनादि माना गया है। अपितु जिस प्रकार एक दीपक के प्रकाश में सहस्रों दीपकों का प्रकाश परस्पर एक रूप होकर ठहरता है ठीक उसी प्रकार जहां पर एक सिद्ध भगवान् विराजमान हैं वहाँ पर ही अनंत सिद्धों के प्रदेश परस्पर एक रूप होकर ठहरे हुए हैं। "जत्थ एगो सिद्धो तत्थ अणंत भवक्खयविप्पमुक्का अण्णोऽन्नसमोगाढ़ा पुट्ठासव्वेलोयंते" सिद्धान्त में वर्णन किया गया है कि जहाँ पर एक सिद्ध विराजमान है वहाँ पर अनंत सिद्ध भगवान् विराजमान हैं और उनके आत्म प्रदेश परस्पर इस प्रकार मिले हुए हैं जिस प्रकार सहस्रों दीपकों का प्रकाश परस्पर सम्मिलित होकर ठहरता है तथा जिस प्रकार एक पुरुष

---

* ध्यान का विशेष स्वरूप शुभचन्द्राचार्य कृत ज्ञानार्णव ग्रन्थ में देखो। या हेमचन्द्राचार्य कृत योग शास्त्र में देखो।

के अन्तःकरण में नाना प्रकार की भाषाओं के वर्णों की आकृतियां परस्पर एक रूप होकर ठहरती हैं उसी प्रकार मुक्तात्माएँ भी परस्पर आत्मप्रदेशों द्वारा सम्मिलित होकर विराजमान हैं। यदि कोई शंका करे कि—जिस प्रकार एक पुरुष के अन्तः करण में भाषाओं के वर्णों की आकृतियां स्थित हैं, उसी प्रकार एक ईश्वर के रूप में अनेक मुक्तात्माएँ भी विराजमान कह सकते हैं? इस के उत्तर में कहा जासकता है कि—जब सिद्ध पद अनादि स्वीकार किया गया तब सर्व सिद्ध परस्पर एक रूप होकर ठहरते हैं: क्योंकि—सिद्धात्मा पुद्गल से रहित स्वगुण में विराजमान है। कर्म क्षय का नाम ही मोक्षपद है कर्मफल का नाम मोक्षपद नहीं है। इसी लिये किसी एक जीव की अपेक्षा से सिद्धपद सादि अनंत माना गया है और बहुत से सिद्धों की अपेक्षा से सिद्धपद अनादि अनन्त प्रतिपादन किया गया है। अतः सिद्ध भगवान् अपुनरावृत्ति वाले होते हैं-कारण कि—बद्ध आत्माएँ स्थिति युक्त होते हैं, न तु मुक्तात्मा। लौकिक पक्ष में भी देखा जाता है कि—जो आत्माएँ दुष्ट कर्मों के प्रभाव से कारागृह में जाती हैं उनकी तो स्थिति बांधी जाती हैं, परन्तु जब वह कारागृह का दंड भोग कर मुक्त होती हैं तब राजकीय पत्र आदि (गैज़ट) में फिर यह नहीं लिखा जाता कि—अमुक आत्मा अमुक दिन कारागृह से मुक्त की गई अथवा अमुक समय पर फिर कारागृह में आएगी। अतएव सिद्ध हुआ कि—मुक्तात्मा का फिर संसार में आगमन युक्तियुक्त नहीं है,* यदि कोई कहे कि—यदि मुक्तात्माएँ फिर संसार में नहीं आएँगी तो संसारचक्र में जीवों का अस्तित्व भाव नहीं रहेगा। कारण कि जिस पदार्थ का समय २ पर व्यय ही हो रहा है उस की समाप्ति अवश्य मानी जायेगी? इस शंका के उत्तर में कहा जासकता है कि—आत्मा (जीव) अनंत हैं और जो अनंत पदार्थ है उसका कदापि अंत नहीं होसकता: क्योंकि—यदि अनंत का भी अंत माना जायगा तब उस पदार्थ का अंत आजाने से, अनंत न कहना चाहिए। यदि तर्क किया जाए कि-काल द्रव्य भी तो अनंत है क्योंकि-अनंत काल अनंत पदार्थ को लेलेगा? इसके उत्तर में कहा जासकता है कि-ईश्वरकर्तृत्ववादियों ने माना हुआ है कि-अनंतवार ईश्वर परमात्मा ने सृष्टि उत्पादन की और अनंत ही वार सृष्टि का प्रलय किया

* नोट—जो लोग मोक्ष से पुनरावृत्ति मानते हैं, वास्तव में उन लोगों ने स्वर्ग को ही मोक्ष समझा है। क्योंकि-स्वर्गीयात्मा पुनरावृत्ति करता रहता है और उन लोगों की मोक्षावधि जो मानी हुई है उस अवधि से जैनसूत्रकारों ने स्वर्ग की अवधि कई गुणा अधिक प्रतिपादन की है।

किन्तु भविष्यत् काल में अनंत वार सृष्टि रची जाएगी और अनंत ही वार इस सृष्टि का प्रलय किया जायगा तो इस क्रियात्मक कार्य से परमात्मा की शक्ति कुछ न्यून होगई ? इस शंका के उत्तर में वे वादी कहते हैं कि-शक्ति न्यून नहीं होसकती है क्योंकि-ईश्वर परमात्मा अनंत शक्तिमान् है। सो जिस प्रकार अनंत शक्ति का अंत नहीं आता ठीक उसी प्रकार जीव भी तो अनंत है, इनका अंत किस प्रकार आजाएगा ? इस तरह अनंत काल का उदाहरण भी निर्मूल सिद्ध हुआ क्योंकि-जिस प्रकार कर्तावादियों के मानने के अनुसार ईश्वर की अनंत शक्ति किसी भी काल में न्यून नहीं होती उसी प्रकार अनंत आत्माएँ भी किसी काल में संसार चक्र से बाहिर नहीं हो सकतीं तथा जब आज पर्यन्त अनादि संसार मानने पर मुक्त नहीं होसका तो भला फिर आगे को इस के अंत होने की संभावना किस प्रकार की जासकती है ? 'अतएव मोक्षात्माओं की अपुनरावृत्ति मानना ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है। सो वे मोक्षात्माएँ अपने आत्मिक अनंत और अक्षय सुख में लीन हो रहे हैं। वे कर्म जन्य सुख वा दुःख से सदैव रहित हैं और सर्व लोकालोक के भावों को हस्तामलकवत् देख रहे हैं उनका ज्ञान सर्व व्यापक हो रहा है। यदि कोई ऐसे कहे कि-उनको वास्तव में क्या सुख है ? तो इस शंका के समाधान में यह सहज में ही कहा जासकता है कि - व्यवहार पक्ष में संसार में जिस समय जिस वस्तु के न मिलने के कारण दुःख माना जाता है वह दुःख मोक्ष में नहीं है। क्योंकि-सर्व दुःखों के कारण कर्म ही हैं सो वे मोक्षात्माएँ कर्म कलंक से सर्वथा रहित हैं तो फिर उनको कर्मजन्य सुख वा दुःख किस प्रकार होसके ? अतएव सिद्ध हुआ कि—मोक्षात्माएँ अनंत सुख में लवलीन हैं और लोकाग्र में विराज मान हैं। अब इस में यह शंका उपस्थित होती है कि-जब मोक्षात्माएँ कर्म से रहित हैं तो भला फिर उन की विना कर्मों से लोकांत पर्यन्त गति किस प्रकार मानी जा सकती है ? सूत्रकर्ता ने इस प्रश्न के उत्तर में निम्न प्रकार से समाधान किया है। भव्य जीवों के बोधार्थ वह पाठ अर्थ दोनों लिखे जाते हैं जैसेकि—

अत्थिणं भंते ! अकम्मस्स गती पन्नायति ? हंता अत्थि ॥ कहन्नं भंते ! अकम्मस्स गती पन्नायति ? गोयमा ! निस्संगयाए निरंगणयाए गतिपरिणामेणं बंधण छेयणयाए निरंधणयाए पुव्वपओगेणं अकम्मस्स गती पन्नत्ता ॥ कहन्नं भंते ! निस्संगयाए निरंगणयाए गइपरिणामेणं बंधणछेयणयाए निरंधणयाए पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गती पन्नायति ? ।

भावार्थ—श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से श्रीगौतम स्वामी

प्रश्न करते हैं कि-हे भगवन् ! क्या अकर्मक जीवों की भी गति स्वीकार की जाती है ? इस पर श्री भगवान् उत्तर प्रदान करते हैं कि-हाँ, गौतम ! अकर्मक जीवों की भी गति स्वीकार की जाती है । जब श्री भगवान् ने इस प्रकार से उत्तर प्रतिपादन किया तब श्री गौतम स्वामी ने फिर प्रश्न किया कि-हे भगवन् ! किस प्रकार अकर्मक जीवों की गति मानी जाती है ? तब श्री भगवान ने प्रतिपादन किया कि हे गौतम ! कर्ममल के दूर होने से, मोह के दूर करने से, गति स्वभाव से, बंधनछेदन से, कर्मेन्धन के विमोचन से, पूर्व प्रयोग से, इन कारणों से अकर्मक जीवों की गति जानी जाती है। अब उक्त कारणों से दृष्टान्तों द्वारा स्फुट करते हुए शास्त्रकार वर्णन करते हैं।

से जहानामए--केइ पुरिसे सुक्कं तुंबं निच्छिड्डं निरुवहयंति आणुपुव्वीए परिकम्ममाणे २ दब्भेहिय कुसेहि य वेढेइ २ अट्ठहिं मट्टियालेवेहिं लिंपइ २ उण्हे दलयति भूतिं २ सुक्कं समाणं अत्थाह मतारमपोरसियंसि उदगंसि पक्खिवेज्जा, से नूणं गोयमा ! से तुंबे तेसिं अट्ठण्हं मट्टियालेवेणं गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुसंभारियत्ताए सलिलतलमतिवइत्ता अहे-धरणितल पइट्ठाणे भवइ ?, हंता भवइ, अहेणं से तुंबे अट्ठण्हं मट्टियालेवेणं परिक्खएणं धरणितलमतिवइत्ता उप्पिं सलिलतलपइट्ठाणे भवइ ?, हंता भवइ, एवं खलु गोयमा ! निस्संगयाए निरंगणयाए गइ परिणामेणं अकम्मस्स गई पन्नायति ।

भावार्थ- श्रीभगवान् गौतमस्वामी को उक्त विषय पर दृष्टान्त देकर शिक्षित करते हैं, जैसे कि हे गौतम ! कोई पुरुष शुष्क [सुक्का] तुंबा जो छिद्र से रहित, वातादि से अनुपहत उसको अनुक्रम से परिकम करता हुआ दर्भ कुशा से वेष्टन करता है फिर आठ वार मिट्टी के लेप से उसे लेपन देता है; फिर उसे वारम्वार धूप में सुखाता है । जब तुंबा सर्व प्रकार से सूख गया फिर अथाह और न तैरने योग्य जल में उस तुंबे को प्रक्षेप करता है, फिर हे गौतम ! क्या वह तुंबा जो उन आठ प्रकार के मिट्टी के लेप से गुरुत्वभाव को प्राप्त होगया है और भारी होगया है, अतः गुरुत्व के भार से पानी के तल को अतिक्रम करके नीचे धरती के तल में प्रतिष्ठान नहीं करता है ? भगवान् गौतम जी कहते हैं कि-हाँ, भगवन् ! करता है अर्थात् पानी के नीचे चला जाता है । पुनः भगवान् बोले कि-हे गौतम ! क्या वह तुंबा आठ मिट्टी के लेपों को परिक्षय करके धरती के तल को अतिक्रम करके जल के ऊपर नहीं आजाता है ? इसके उत्तर में गौतम स्वामी जी कहते हैं कि-हाँ भगवन् !

आजाता है अर्थात् मिट्टी का लेप उतर जाने से फिर वह तुंबा ऊपर को उठ आता है। इसी प्रकार हे गौतम ! कर्मों के संग न रहने से नीराग होने से और गति परिणाम से अकर्मक जीवों की भी गति स्वीकार की जाती है। इस दृष्टान्त का सारांश केवल इतना ही है कि जिस-प्रकार बंधनों से रहित होकर तुंबक जल के ऊपर तैरता है उसी प्रकार अकर्मक जीव भी कर्मों से रहित होकर लोकाग्र भाग में विराजमान हो जाता है ॥

कहन्नं भंते ! बंधणछेदणयाए अकम्मस्स गई पन्नत्ता ? गोयमा ! से जहा नामए—कलसिंबलियाइ वा मुग्गसिंबलिया वा माससिंबलियाइ वा एरंडमिंजियाइ वा उण्होदिन्ना सुक्कासमाणी फुडित्ता णं एगंतमंतं गच्छई, एवं खलु गोयमा।

भावार्थ—हे भगवन् ! किस प्रकार बंधन छेदन से अकर्मक जीवों की गति जानी जाती है ? हे गौतम ! जैसेकि-कलायाभिधान, धान्यफलिका, मूंग की फली, माषक (मां) की फली, सिंबलि वृक्ष की फली, एरंड का फल, धूप में सुखाया हुआ अपने आप फल से वा फली से बीज बाहर आ जाता है ठीक उसी प्रकार हे गौतम ! जब अकर्मक जीव शरीर को छोड़ता है जिस प्रकार सूखे फल से बीज बंधन रहित होकर गति करता है, उसी प्रकार उक्त अकर्मक जीव की गति जानी जाती है।

कहन्नं भंते ! निरंधणयाए अकम्मस्सगती ?, गोयमा ! से जहा नामए ! धूमस्स इंधण विप्पमुक्कस्स उड्ढं वीससाए निव्वाघाएणं, गतीपवत्तति एवं खलु गोयमा ? ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! निरंधनता से अकर्मक जीवों की गति किस प्रकार स्वीकार की जाती है ? हे गौतम ! जैसे धूम इंधन से विप्र मुक्त होकर स्वाभाविकता से ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है ठीक उसी प्रकार कर्मों से रहित हो जाने पर अकर्मक जीवों की गति स्वीकार की जाती है क्योंकि—जब धूँआ उठता है तब स्वाभाविकता से ऊर्ध्वगमन करता है, ठीक उसी प्रकार अकर्मक जीवों की गति देखी जाती है ॥

तथा च-कहन्नं भंते ! पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्सगती पण्णत्ता ? गोयमा ! से जहानामए—कंडस्स कोदंडविप्पमुक्कस्स लक्खाभिमुही निव्वाघाएणं गती पवत्तइ, एवं खलु गोयमा ! नसिंगयाए निरंगणयाए जाव पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गती पण्णत्ता।

भग० श० ७ उ० १ ॥

भावार्थ—हे भगवन्! पूर्व प्रयोग के द्वारा अकर्मक जीव की गति किस प्रकार स्वीकार की जाती है? हे गौतम! जिस प्रकार धनुष से तीर छूटकर फिर लक्ष्याभिमुख होकर गति करता है ठीक उसी प्रकार-निसंगता से निरंगता से यावत् पूर्व प्रयोग से अकर्मक जीव की गति होती है क्योंकि—यावन्मात्र धनुष् बाण के चलाने वालों का बल होता है तावन्मात्र ही वह तीर लक्ष्य की ओर होकर गति की ओर प्रवृत्त हो जाता है, इसी प्रकार जब आत्मा तीनों योगों का सर्वथा निरोध कर शरीर से पृथक् होता है तब वह स्वाभाविक ही गति करता है, अतएव सिद्ध हुआ कि-अकर्मक जीव लोकाग्र पर्यन्त गति कर फिर वहाँ पर सादि अनंत पद वाला होकर विराजमान हो जाता है। अब यदि इस स्थान पर यह शंका हो कि-पहिले कर्म या पीछे जीव हुआ, तो इसका समाधान इस प्रकार है कि-कर्म कर्त्ता के अधीन होता है क्योंकि-कर्ता की जो क्रिया है उसका फलरूप कर्म है। सो जब कर्ता में क्रिया ही उत्पन्न नहीं हुई तो भला कर्म कर्ता से पहिले किस प्रकार बन सकता है, अतएव यह पक्ष किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता कि कर्ता के पहिले कर्म उत्पन्न हो गया। यदि ऐसे कहा जाय कि-पहिले जीव मान लिया जाए फिर कर्म मान लेने चाहियें, सो यह पक्ष भी युक्ति क्षम नहीं है क्योंकि-फिर पहिले जीव को कर्मों से सर्वथा रहित मानना पड़ेगा जब जीव सर्वथा कर्मों से रहित सिद्ध होगा तो फिर इस आत्मा को कर्म लगे ही क्यों? यदि ऐसे माना जाय कि-बिना किए ही कर्म जीव को लग गये; तब यह शंका उपस्थित होती है कि-जब बिना किये कर्म लग सकते हैं तो फिर जो सिद्धात्मा सर्वथा कर्मों से रहित हैं उन को क्यों नहीं कर्म लगते। अतएव यह पक्ष भी ठीक नहीं है।

यदि ऐसे माना जाय कि-कर्म और आत्मा युगपत् समय उत्पन्न होगये तब इसमें यह शंका उत्पन्न होती है कि-जब कर्म और जीव की उत्पत्ति मानी जायेगी तब जीव और कर्म दोनों सादि सान्त हो जायेंगे तथा फिर दोनों के कारण कौन कौन से माने जायँगे? क्योंकि-जब जीव और कर्म कार्य मानलिये गये तो फिर इन दोनों के कारण कौन २ से हुये। अतः यह पक्ष भी स्वीकृत नहीं हो सकता। यदि ऐसे माना जाय कि—जीव कर्मों से सदैव काल ही रहित है, तो इसमें यह शंका उपस्थित होती है कि-फिर इस संसार में यह जीव जन्म मरण दुःख वा सुख क्यों उठा रहा है? क्यों कि—बिना कर्मों के उक्त कार्य नहीं हो सकते। क्यों कि—यदि कर्मों के बिना भी दुःख वा सुख प्राप्त हो सकता है तो फिर सिद्धात्मा भी सुख वा दुःख के भोगने वाले सिद्ध हो जायँगे। अतएव यह मानना भी युक्ति संगत सिद्ध नहीं होता है।

जब उक्त पक्ष किसी प्रकार से भी संघटित नहीं होते तब फिर शंका उपस्थित होती है कि—जीव और कर्म का संयोग किस प्रकार माना जाए? इसके उत्तर में कहा जा सकता कि—जीव और कर्म का संयोग अनादि सिद्ध है। जिस प्रकार सुवर्ण मल के साथ आकर (खानि) से निकलता है ठीक उसी प्रकार आत्मा अनादि काल से कर्मों के साथ ही है किन्तु जब सुवर्ण को अग्नि आदि पदार्थों का सम्यग्तया संयोग उपलब्ध होता है फिर वह मल से रहित होकर शुद्ध हो जाता है ठीक उसी प्रकार जब आत्मा को सम्यग्दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र का संयोग उपलब्ध होता है तब आत्मा भी कर्म मल से रहित होकर निर्वाण पद प्राप्त करलेता है और कृतकृत्य हो जाता है। अतएव जीव और कर्म का अनादि संयोग मानना युक्ति संगत है। अब एक और भी बात है और वह यह कि—आत्मा कर्ता है वा कर्म कर्ता है? इस प्रश्न के समाधान में दोनों नयों का अवलम्बन करना पड़ता है जैसे कि—व्यवहार नय के मत से यदि विचार किया जाए तो आत्मा ही कर्ता माना जाता है। क्योंकि—व्यवहार में आत्मा कर्ता स्वयं प्रगट है। जब निश्चय नय के आश्रित होकर विचार किया जाता है तब कर्म का कर्ता कर्म सिद्ध होता है, क्योंकि—यदि सर्व प्रकार से जीव कर्त्ता माना जायगा तब परगुण कर्त्ता स्वभाव नित्य सिद्ध होगा, जब परगुण कर्त्ता स्वभाव नित्य सिद्ध होगया तब सिद्धात्माएँ भी कर्म कर्त्ता माननी पड़ेंगी। अतः निश्चय नय के मत से जब विचार किया जाता है तब कर्म का ही कर्त्ता कर्म सिद्ध होता है।

यदि इस में यह शंका उपस्थित की जाय कि शास्त्र में "अप्पाकत्ता विकत्ता य" इस प्रकार से पाठ आता है जिसका अर्थ है कि-आत्मा ही कर्ता और भोक्ता है। इस शंका का समाधान यह है कि-यह पाठ व्यवहार नय के आश्रित होकर कषायात्मा और योगात्मा से ही सम्बन्ध रखता है नतु द्रव्यात्मा से। वास्तव में जब आत्मा कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) और योग (मन, वचन और काय) के वश में होता है तब ही कर्त्ता माना जाता है। जब अकषायी और अयोगी होजाता है तब कर्मों की अपेक्षा से आत्मा अकर्त्ता माना जाता है। इस सम्बन्ध में यह भी समझ लेना चाहिए कि-जब केवल जीव कर्मों से रहित हो जाता है तब वह किसी प्रकार से कर्मों को उत्पादन नहीं कर सकता और नाहीं फिर अकेला पुद्गल ही कर्ता होता है क्योंकि-वह जड़ है।

अतः जब तक जीव और पुद्गल का परस्पर संयोग सम्बन्ध रहता है तब तक ही व्यवहार नय की अपेक्षा से जीव कर्ता कहा जाता है किन्तु निश्चय नय के मत से यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि-जब तक आत्म-प्रदेशों के

साथ (पुद्गल कर्मों का) सम्बन्ध है तब तक ही आत्मा में कर्म आते जाते रहते हैं। क्योंकि-पुद्गल में परस्पर आकर्षण शक्ति विद्यमान है। पुद्गल को पुद्गल आकर्षण करता है। अतएव सिद्ध हुआ कि-दोनों नयों का मानना युक्तियुक्त है क्योंकि-यदि इस प्रकार से न माना जायगा तब आत्मा के साथ कर्मों का तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध हो जायगा जिसे फिर इस आत्मा का निर्वाणपद प्राप्त करना असंभव सिद्ध होगा। इसलिये संवर द्वारा नूतन कर्मों के आश्रव का निरोध कर प्राचीन कर्मों का ध्यानतप द्वारा क्षय करना चाहिए।

यद्यपि जैनसूत्रों तथा कर्मग्रथों में अनेक स्थलों पर कर्मों की विस्तृत व्याख्या की गई है तथापि इस स्थान पर केवल दिग्दर्शन के लिये आठों मूल प्रकृतियों के नामोल्लेख किये गए हैं ताकि जिज्ञासु जनों को इस विषय में अधिक रुचि उत्पन्न हो। यत् किंचित् मात्र इस स्थान पर लिखने का प्रयोजन इतना ही था कि-बद्ध को मोक्षपद होसकता है नतु मुक्त को। संसारी जीव उक्त आठों प्रकार के कर्मों से लिप्त हैं। जब वे उक्त कर्मों के बंधनों से विमुक्त होजायेंगे तब ही मोक्षपद प्राप्त कर सकेंगे। अतएव प्रत्येक आस्तिक जिज्ञासु आत्मा को योग्य है कि—वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र द्वारा कर्मों से रहित होकर अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंतसुख और अनंत बलवीर्य को निज आत्मा में विकास कर उस में फिर रमण करे। निर्वाण पद प्राप्त होने पर निश्चय नय के अनुसार आत्मा ही देव, आत्मा ही गुरु और आत्मा ही धर्म है।

इति श्रीजैनतत्त्वकलिकाविकासे मोक्षस्वरूपवर्णनात्मिका अष्टमी कलिका समाप्ता ॥

नवमी कलिका

(जीव परिणाम विषय)

इस द्रव्यात्मक जगत् में मुख्यतया दो ही तत्त्व प्रति पादन किये गए हैं। जीव और अजीव। इन्हीं दोनों तत्त्वों के अनंत भेद हो जाने से जगत् में नाना प्रकार की विचित्रता दिखाई पड़ती है। कारण कि-"उत्पादव्यय—ध्रौव्यसत्" द्रव्य का लक्षण जैनशास्त्रों ने उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप स्वीकार किया है। इस कथन से द्रव्यास्तिक नय और पर्यायास्तिक नय भी सिद्ध किये गए हैं। द्रव्यास्तिक नय के आश्रित सर्व द्रव्य ध्रौव्य पद में रहता है परन्तु उत्पाद और व्यय के देखने से सर्व द्रव्य पर्यायास्तिक नय के आश्रित दीख पड़ता है। साथ ही इस बात का भी प्रकाश कर देना उचित प्रतीत

होता है कि-द्रव्यास्तिक नय के मत से जब द्रव्य पूर्व पर्याय से उत्तर पर्याय को परिणमन होता है तब उस समय सर्वथा पूर्व पर्याय का नाश नहीं माना जा सकता जैसेकि-किसी देव ने अपने मन के संकल्पों द्वारा वैक्रिय से अपना उत्तर वैक्रियरूप धारण कर लिया किन्तु उसका जो पूर्व वैक्रियमय शरीर था उसका सर्वथा नाश नहीं हुआ अपितु वह उस का मूल का शरीर उत्तर भावको परिणमन हो गया। इसी प्रकार द्रव्यास्तिक नय के मत से प्रत्येक द्रव्य द्रव्यान्तररूप परिणमन होता रहता है। परंच पर्यायार्थिक नय के मत से पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद माना जाता है, यथा

तत्र द्रव्यास्तिकनयमतेन परिणमनं नाम यत् कथंचित् सदेवोत्तरपर्यायरूपमर्थान्तरमधिगच्छति नच पूर्वपर्यायस्यापि सर्वथाऽवस्थानं नाप्येकान्तेन विनाशस्तथा चोक्तं-परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानं नच सर्वथा विनाशपरिणामस्तद्विदामिष्टः॥

अर्थात् द्रव्य का द्रव्यान्तर परिणमन होना ही द्रव्यास्तिक नय का मुख्य आशय है क्योंकि—परिणाम का अर्थ ही अर्थान्तर हो जाना है। नतु एकान्त से पूर्वरूप में रहना या पूर्वपर्याय का नाश होना। इस प्रकार द्रव्यास्तिक नय द्रव्यों के स्वरूप को मानता है किन्तु पर्यायार्थिक नय के मत से जब हम पदार्थों के स्वरूप का अनुभव करते हैं तब पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद माना जाता है जैसे कि—

पर्यायास्तिकनयमतेन पुनः परिणमनं पूर्वसत्पर्यायापेक्षाविनाश उत्तरेण वा सता पर्यायेन प्रादुर्भावस्तथा चामुमेव नयमधिकृत्याऽन्यत्राक्तम्। सत्पर्यायेन विनाशः प्रादुर्भावो सता च पर्ययतः द्रव्याणां परिणामः प्रोक्तः खलु पर्ययनयस्य॥

इस कथन का सारांश यह है कि—पर्यायास्तिक नय के मत से पूर्व पर्यायों का विनाश और उत्तर पर्यायों का उत्पाद माना जाता है किन्तु जो द्रव्यों का परिणाम कथन किया गया है वह पर्याय नय के आश्रित होकर ही प्रतिपादन किया है। अतएव द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नयों द्वारा पदार्थों का स्वरूप ठीक २ जानना चाहिए।

भव्य जीवों के सम्यग् बोध के लिये श्रीपरणवन्ना (प्रज्ञापणा) सूत्र के त्रयोदशवें परिणाम पद का हिन्दी भावार्थ युक्त उल्लेख किया जाता है। एकान्त चित्त और एकान्त स्थान में इस पद का किया हुआ अनुभव अध्यात्मिक वृत्ति के लिये अत्यन्त उपकारी होगा। यावत्काल पर्यन्त जीव और अजीव तत्त्वों का परिणाम अन्तःकरण में नहीं बैठ जाता तावत्काल पर्यन्त पदार्थों का पूर्णतया बोध भी नहीं हो सकता अतः सम्यग् बोध के लिये उक्तपद को सूत्रपाठ सहित लिखा जाता है जिसका आदिम सूत्र यह है यथा च—

कतिविधेणं भंते परिणामे पन्नते ? गोयमा ! दुविहे परिणामे पन्नत्ते तंजहा जीव परिणामे य अजीव परिणामे य ॥ १ ॥

अर्थ—श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से भगवान् गौतम स्वामी जो प्रश्न करते हैं कि—हे भगवन् ! परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् वर्णन करते हैं कि—हे गौतम ! परिणाम दो प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसे कि—जीव परिणाम और अजीव परिणाम । जीव परिणाम सप्रायोगिक और अजीव सवैश्रसिक होता है । मन, वचन, और काय द्वारा जब आत्मा पुद्गलों का आकर्षण करता है तब उसमें स्वयम् परिणत होजाता है । उसको प्रायोगिक परिणाम कहते हैं किन्तु जो पुद्गल स्वयमेव स्कन्धादि में परिणत होता रहता है उसको अजीव परिणाम कहते हैं । इस पद में सर्व वर्णन स्याद्वाद के आश्रित होकर किया गया है इस लिये पाठकों को स्याद्वाद का भी सहज में ही बोध हो सकेगा ।

अब जीव परिणाम के मुख्य २ भेदों के विषय पूछते हैं ।

जीव परिणामेणं भंते कतिविधे प. गोयमा ! दसविधे पन्नते, तंजहा— गतिपरिणामे इंदियपरिणामे कसायपरिणामे लेसापरिणामे जोगपरिणामे उवओगपरिणामे णाणपरिणामे दंसणपरिणामे चरित्तपरिणामे वेदपरिणामे ॥

अर्थ-हे भगवन् ! जीव परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गौतम ! जीव परिणाम दस प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसेकि— गति १ इन्द्रिय २ कषाय ३ लेश्या ४ योग ५ उपयोग ६ ज्ञान ७ दर्शन ८ चारित्र ९ और वेदपरिणाम १० । अर्थात् जब आत्मा अपने कर्मों द्वारा नरकादि गतियों में जाता है तब जीव गतिपरिणामयुक्त हो जाता है । अतएव सर्व भावों का अधिगम गतिपरिणाम के प्राप्त हुए विना प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिए शास्त्रकर्ता ने गतिपरिणाम सर्व परिणामों से प्रथम उपन्यस्त किया है । जब गतिपरिणाम से युक्त होगया तो फिर "इदंनादिन्दं, आत्मा ज्ञानलक्षण परमैश्वर्ययोगात् तस्येदमिन्द्रियमिति" ज्ञान लक्षण आत्मा इन्द्रियों में परिणत होने से इन्द्रिय परिणाम कथन किया गया है । इन्द्रियों द्वारा इष्टानिष्ट विषयों का सम्बन्ध होने से राग और द्वेष के परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं । फिर कषाय परिणाम कथन किया गया है । सो कषाय परिणाम युक्त आत्मा लेश्या परिणाम वाला होता ही है अतः कषायानंतर लेश्या परिणाम कथन किया गया है । कारण कि—कष नाम संसार का है सो जो संसार चक्र में आत्मा को परिभ्रमण करावे उसे ही कषाय कहते हैं ।

जब कषाय और लेश्यापरिणामों की सिद्धि भली भांति होगई तब लेश्यापरिणामि आत्मा योगपरिणामवाला होता है अतएव योग परिणाम का वर्णन किया गया है। योग परिणामानन्तर उपयोग परिणाम का वर्णन है। इसका कारण यह है कि—योग परिणाम वाले आत्मा उपयोग परिणाम से ही युक्त होते हैं। सो उपयोग ज्ञानपरिणाम में होता है अतः ज्ञानपरिणाम का उल्लेख किया गया है। स्मृति रहे कि-ज्ञान और अज्ञान इस प्रकार जो दो भेद प्रतिपादन किये गए हैं सो उपयोग दोनों में पाया जाता है। ज्ञान के अनन्तर दर्शन होता है अतएव आत्मा दर्शनपरिणाम परिणत हो जाता है। जिस प्रकार ज्ञान और अज्ञान दो प्रकार से वर्णन किया गया है ठीक उसी प्रकार दर्शन के भी सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन तथा मिश्रितदर्शन दो भेद हैं जब सम्यग्दर्शनादि द्वारा पदार्थों का ठीक स्वरूप जान लिया गया तब कर्म-क्षय करने के भाव उत्पन्न हो जाते हैं अतएव चारित्रपरिणाम का वर्णन किया गया है। जब चारित्रपरिणाम में जीव प्रविष्ट होजाता है तब वह फिर अवेदी भाव को प्राप्त होता है अतएव वेदपरिणाम का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार सूत्रकर्ता ने जीव के दश परिणामों का परिणत होना प्रतिपादन किया है।

अबसूत्र कर्ता गति आदि के परिणामोंका उपभेदों के साथ वर्णन करते हुए कहते हैं जैसेकि—

गतिपरिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! चउविहे प. तं. नरय-गतिपरिणामे तिरियगतिपरिणामे मणुयगतिपरिणामे देवगतिपरिणामे।

भावार्थ-हे भगवन् ! गतिपरिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गयाहै ? हे गौतम ! गतिपरिणाम चार प्रकार से कथन किया गया है जैसेकि-नरक गति परिणाम, तिर्यक्गतिपरिणाम, मनुजगतिपरिणाम, देवगतिपरि-णाम, इनका सारांश यह है कि-जब जीव पाप कर्मों द्वारा मरकर नरक गति में जाता है तब वह जीव नरक गति परिणाम वाला कहा जाता है और रत्न-प्रभा, शर्करप्रभा, वालुप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, तमस्तमाप्रभा, इस प्रकार सात नरक बतलाए गये हैं। इनमें असंख्यात नारकीय जीव निवास करते हैं। वे नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव करते रहते हैं। संख्यात वर्षों वा असंख्यात काल की आयु को भोगते हैं। केवल मनुष्य वा तिर्यग् जीव ही मरकर नरक में जाते हैं। मध्यलोक के नीचे सात नरकों के स्थान प्रतिपादन किये गए हैं, जैसेकि-प्रथम आकाश उस के ऊपर तनुवात (पतली वायु) फिर उसके ऊपर घनवात (कठिन वायु) उसके ऊपर घनो-

दधि (कठिन जल) फिर उसके ऊपर पृथ्वी। सो पृथ्वी के ऊपर त्रस और स्थावर जीव रहते हैं, नरकों का पूर्ण सविस्तर स्वरूप देखना हो तो श्रीजीवाभिगमादि सूत्रों से जानना चाहिए।

सो जब जीव नरकों में जाता है तब उस आत्मा का नरक गति परिणाम कहा जाता है। जब तिर्यग् गति में जीव गमन करता है तब वह तिर्यग् गति परिणामी कहा जाता है परन्तु पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजोकायिक, वायु कायिक, वनस्पतिकायिक ये पांचों स्थावर तिर्यग्गति में गिने जाते हैं। फिर दो इन्द्रिय वाले जीव जैसे सीप शंखादि, तीनों इन्द्रियों वाले जीव जैसे जूँ, लिक्षा, सुरसली, कीड़ी आदि, चतुरिन्द्रिय जीव जैसे मक्खी मच्छर विच्छु आदि, पांच इन्द्रियों वाले जीव जैसे गौ, अश्व हस्ती मूषकादि तथा जल में रहने वाले मत्स्यादि जीव स्थल में रहने वाले जैसे-गौ अश्वादि, आकाश में उड़ने वाले जैसे शुक, हंस कागादि यह सर्व जीव तिर्यग्गति में गिने जाते हैं। इनका पूर्ण विवरण देखना हो तो प्रज्ञापनादि सूत्रों से जानना चाहिए। सो जब जीव मर कर तिर्यग् गति में जाता है तब उस समय उस जीव का तिर्यग्गति परिणाम कहा जाता है। इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि तिर्यग् गति में ही अनंत आत्मा निवास करते रहते हैं और अनंत काल पर्यन्त इसी गति में कायस्थिति करते हैं। यदि पाप कर्मों के प्रभाव से जीव इस गति में चला गया तो फिर उस का कोई ठिकाना नहीं है कि—वह आत्मा कब तक उस गति में निवास करेगा क्योंकि—अनंत काल पर्यन्त जीव उक्त गति में निवास कर सकता है। यदि मोक्षारूढ़ न हुआ तो उक्त गति में अवश्य गमन करना होगा अतएव मोक्षारूढ होने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

जब आत्मा शुभाशुभ कर्मों द्वारा मनुष्य गति में प्रविष्ट होता है तब उस का मनुष्यगति परिणाम कहा जाता है। मुख्यतया मनुष्यों के दो भेद हैं जैसेकि—कर्मभूमिज और अकर्मभूमिज। असि (खड्गविधि) मषि (लेखन विधि) कसि (कृषीविधि) इत्यादि शिल्पों द्वारा जो अपना निर्वाह करते हैं उन्हें कर्मभूमिक मनुष्य कहते हैं। उनके फिर मुख्य दो भेद हैं आर्य और म्लेच्छ (अनार्य)। फिर उक्त दोनों के बहुतसे उपभेद हो जाते हैं। द्वितीय अकर्मभूमिक मनुष्य हैं जो अपना निर्वाह केवल कल्पवृक्षों द्वारा ही करते हैं अपितु कोई कर्म नहीं करते। उनके भी बहुतसे क्षेत्र प्रतिपादन किये गए हैं। तृतीय सम्मूर्च्छिम जाति के मनुष्य भी होते हैं जो केवल मनुष्यों के मल मूत्रादि में ही सूक्ष्म रूप से उत्पन्न होते रहते हैं। मनुष्य के मलमूत्रादि में होने से ही उनकी भी मनुष्य संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार मनुष्यों के

प्रज्ञापन सूत्र में अनेक भेद वर्णन किये गए हैं। सो जीव जब शुभाशुभ कर्मों द्वारा मनुष्य गति में जाता है तब उसका मनुष्यगतिपरिणाम कहा जाता है। इस बात का भी विशेष ध्यान रखना चाहिए कि-पूर्णतया सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र मनुष्य ही पालन कर सकता है नतु अन्य।

इस प्रकार मनुष्यगति परिणाम के अनन्तर देवगति परिणाम का वर्णन किया गया है। शास्त्रों में चार प्रकार के देवों का वर्णन किया है। उनमें जो देव अधोलोक में निवास करते हैं उन्हें भवनवासी कहा जाता है। वे देव दश जाति के प्रतिपादन किये गए हैं। ७ करोड़ और ७२ लाख, इनके भवन वर्णन किये गए हैं। वे भवन संख्यात वा असंख्यात योजनों के आयाम (लम्बे) विष्कम्भ (चौड़े) वाले कथन किये गए हैं। इनका सविस्तर स्वरूप प्रज्ञापन सूत्र के द्वितीय पद से जानना चाहिए। उस स्थान पर उक्त देवों का वर्णन बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। तदनन्तर वाणमन्तर देवों का सविस्तर स्वरूप वर्णन किया गया है। ये देव षोडश जाति के वर्णन किये गए हैं जैसेकि—पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस (श) इत्यादि। इनके तिर्यग् लोक में असंख्यात नगर हैं। भूमि के नीचे वा द्वीपसमुद्रों में इनकी असंख्यात राजधानियां हैं। ये देव कुतूहल प्रिय प्रतिपादन किये गए हैं और न्यून से न्यून इनकी आयु दश हजार वर्ष की होती है। यदि उत्कृष्ट आयु होजाय तो एक पल्योपम के प्रमाण में रहती है। आगे ज्योतिषी देवों का भी वर्णन किया गया है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा इस प्रकार पांच प्रकार के ज्योतिषी देव प्रतिपादन किये गए हैं। आकाश में असंख्यात इनके विमान हैं परंच मनुष्य क्षेत्र में इनके विमान, चर और मनुष्य क्षेत्र के बाहिर स्थिर कथन किये गए हैं। स्मृति रहे कि—जो मनुष्यक्षेत्र के मध्यवर्ती उक्त ज्योतिषमंडल है उसी के कारण से समय विभाग किया जाता है तथा दिन मानादि का परिमाण बांधा गया है। इनके विवरण करने वाले चन्द्र प्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति इत्यादि अनेक जैनग्रंथ हैं। इनके ऊपर असंख्यात योजनों के अन्तर पर २६ स्वर्ग हैं, जिनमें १२ स्वर्गों की संज्ञा कल्प देवलोक है। इनके दश इन्द्र और प्रत्येक इन्द्र की तीन २ परिषत् हैं। उनमें न्याय सम्बन्धी विविध प्रकार से विचार किया जाता है। प्रज्ञापन वा जीवाभिगमादि सूत्रों के पढ़ने से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि-देवों की राज्यनीति अवश्य ही न्यायकर्ताओं के लिये अनुकरणीय है। परन्तु जो देव १२ वें स्वर्ग के ऊपर के हैं उनकी अहमिन्द्र संज्ञा है। इन वैमानिक देवों के लाखों विमान संख्यात वा असंख्यात योजनों के आयाम (लंबे) विष्कम्भ (चौड़े) वाले हैं। उक्त सूत्रों में इन देवों का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है, सो जब जीव देव गति में शुभ कर्मों द्वारा

जाता है तब उस जीव का देवगति परिणाम कहा जाता है। इस कथन करने का सारांश इतना ही है कि—उक्त चारों गतियों में जीव का परिणत होना प्रतिपादन किया गया है।

अब इसके अनन्तर सूत्रकार इन्द्रिय परिणाम विषय कहते हैं जैसेकि-

इंदियपरिणामेणं भंते कतिविधे प.? गोयमा! पंचविधे प.त. सोतिंदियपरिणामे चक्खुंदियपरिणामे घाणिंदियपरिणामे जिब्भिंदियपरिणामे फासिंदियपरिणामे।

भावार्थ—हे भगवन्! इन्द्रिय परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है? हे गौतम! इन्द्रिय परिणाम पांच प्रकार से वर्णन किया गया है जैसेकि-श्रुतेन्द्रिय परिणाम, चक्षुरिन्द्रिय परिणाम, घ्राणेन्द्रिय परिणाम, रसनेन्द्रिय परिणाम और स्पर्शेन्द्रिय परिणाम। उक्त पांचों इन्द्रियों में जीव का ही परिणमन होता है। इसीलिये फिर जीव उक्त पांच इन्द्रियों द्वारा पदार्थों के बोध से बोधित हो जाता है। यदि ऐसे कहा जाए कि—जब श्रुतेन्द्रिय शब्दों को नहीं सुन सकता अर्थात् बधिर हो जाता है तो क्या उस समय उस इन्द्रिय में जीव का परिणमन नहीं होता। इसके उत्तर में कहा जाता है कि-जीव का परिणमन तो अवश्यमेव होता है, परन्तु श्रोत्रविज्ञानावरण विशेष उदय में आजाता है: इसी कारण वह बधिर होता है। क्योंकि-यदि जीव का परिणमन न माना जाय तो क्या वह शस्त्रादि द्वारा छेदन किये जाने पर दुःख नहीं अनुभव करता है: अवश्यमेव अनुभव करता है। अतएव सिद्ध हुआ कि-इसी प्रकार पांचों इन्द्रियों में जीव परिणत हो रहा है। आत्मा असंख्यात प्रदेशी होने पर सर्व शरीर में व्यापक हो रहा है इसलिये उसका परिणत होना स्वाभाविक बात है। सारांश इतना ही है कि-जो पांचों इंद्रियों द्वारा ज्ञान होता है वही जीव परिणाम कहा जाता है क्योंकि-जीव के परिणत हुए बिना ज्ञान किस प्रकार प्रगट हो? अतएव जीव परिणाम पांचों इंद्रियों द्वारा किया जाता है।

अब सूत्रकार इंद्रिय परिणाम के पश्चात् कषाय परिणाम विषय कहते हैं:-

कसाय परिणामेणं भंते कतिविधे प.? गोयमा! चउविहे प. तं.कोहकसायपरिणामे माणकसायपरिणामे मायाकसायपरिणामे लोहकसाय परिणामे।

भावार्थ—हे भगवन्! कषाय परिणाम कितने प्रकार से वर्णन किया गया है? हे गोतम! कषाय परिणाम चार प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसेकि—क्रोध कषाय परिणाम. मानकषाय परिणाम, मायाकषाय परिणाम

लोभकषाय परिणाम। जब आत्मा क्रोध के आवेश में आता है तब क्रोध परिणाम वाला कहा जाता है। इसी प्रकार मान, माया और लोभ के परिणाम विषय जानना चाहिए कारणकि जब तक आत्मा उक्त क्रियाओं में प्रवृत्त न हो जाए तब तक उस आत्मा को उक्त परिणाम युक्त नहीं कहा जाता।

क्रोध, मान, माया और लोभ के तारतम्य अनेक भेद वर्णन किये गए हैं। सो यावत्काल पर्यन्त आत्मा उक्त क्रियाओं में प्रवृत्ति करता है तावत्काल पर्यन्त आत्मा की छद्मस्थ संज्ञा बनी रहती है परन्तु जब आत्मा उक्त क्रियाओं से सर्वथा पृथग् हो जाता है तब सर्वज्ञ संज्ञा बन जाती है। अतएव कषायों में आत्मा ही परिणत होता है, जिसके कारण फिर इस आत्मा को संसार में नाना प्रकार के सुख वा दुःखों का अनुभव करना पड़ता है।

अनंतानुबंधि आदि अनेक प्रकार के कषायों का सूत्र में वर्णन किया गया है सो जिज्ञासु जन इस से पृथक् ही रहें। क्योंकि – जब तक कषाय क्षय वा क्षयोपशम अथवा उपशम भाव में नहीं आते तब तक आत्मा धर्म के मार्ग से पृथक् ही रहता है।

अब कषाय के अनन्तर सूत्रकार लेश्याविषय कहते हैं:—

लेस्सा परिणामेणं भंते कतिविधे प.? गोयमा! छव्विहे प. तं. कराहलेस्सा परिणामे नीललेस्सा परिणामे काउलेस्सा परिणामे तेओलेस्सा परिणामे पम्हलेस्सा परिणामे सुक्कलेस्सा परिणामे।

भावार्थ—हे भगवन्! लेश्यापरिणाम कितने प्रकार से वर्णन किया गया है? हे गौतम! छः प्रकार से लेश्या परिणाम प्रतिपादन किया है, जैसे कि - कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या. पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या परिणाम।

जिस समय जीव के परिणाम अत्यन्त अशुभ और निर्दय होते हैं उस समय जीव कृष्णलेश्या परिणाम वाला कहा जाता है। जब उक्त परिणाम अत्यन्त अशुभ और अत्यन्त निर्दयता से कुछ न्यून अंक पर आते हैं तब जीव नीललेश्या परिणाम वाला कहा जाता है। परन्तु जिस जीव के भाव सदैव वक्र ही रहें और वह सदा मायाचारी बना रहे, असंबद्ध भाषण करने वाला हो, वह जीव कापोतलेश्या परिणाम वाला कहा जाता है। जो जीव विनयी और धर्म से सदा प्रेम रखने वाला तथा दृढ़ धर्मी होता है तब वह जीव तेजोलेश्या परिणाम वाला होता है। किन्तु जिस जीव के क्रोध, मान, माया और लोभ पतले होगये हैं और शान्तस्वभावी है वह जीव पद्मलेश्या परिणाम वाला होता है। सरागी हो वा वीतरागी किन्तु अत्यन्त निर्मल

और अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाले जीव का शुक्ललेश्या में परिणमन माना गया है। सो उक्त षद लेश्याओं का पूर्ण विवरण प्रज्ञापन सूत्र के १७वें लेश्या पद में बड़े विस्तार से कथन किया गया है वहां से देखना चाहिए।

जीव षद् लेश्याओं में ही परिणत होता है। इसी कारण से कर्मों का बंध जीव के प्रदेशों के साथ होजाता है। जब चतुर्दशवें गुण स्थानारूढ जीव होता है तब अलेश्यी होकर ही मोक्ष गमन करता है, पहली तीन अशुभ लेश्याएं हैं और तीन शुभ। अतएव अशुभ लेश्याओं से अन्तःकरण को शुद्ध कर शुभ-लेश्याओं में ही परिणत होना चाहिए ताकि जीव को धर्म की प्राप्ति हो। जिस प्रकार स्निग्ध पदार्थ से वस्तु का बंध होना निश्चित है, उसी प्रकार लेश्याओं द्वारा कर्मों का बंध होना स्वाभाविक बात है।

अब सूत्रकार लेश्या के पश्चात् योगपरिणाम विषय कहते हैं जैसे कि-

जोग परिणामेणं भंते कतिविधे पं.? गोयमा! तिविधे प. तं. मणजोग-परिणामे वयजोगपरिणामे कायजोगपरिणामे।

भावार्थ—हे भगवन्! योगपरिणाम कितने प्रकार से वर्णन किया गया है? हे गौतम! योग परिणाम तीन प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसे कि-मनोयोगपरिणाम, वचनयोग परिणाम और काययोग परिणाम। इसका सारांश यह है कि-जब मन के द्वारा पदार्थों का निर्णय किया जाता है तब आत्मा का परिणाम मन में होता है क्यों कि-आत्मा के परिणाम (परिणत) होजाने से ही मन की स्फुरणा सिद्ध होती है। इसी कारण आत्मा के भाव हीयमान, वर्द्धमान तथा अवस्थित माने जाते हैं। शास्त्रों में मन की करण संज्ञा मानी गई है। करण वही होता है जो कर्त्ता की क्रिया में सहायक बन सके। जब आत्मा मनोयोग में प्रवृत्त होता है तब मन के मुख्यतया चार भेद माने जाते हैं। जैसेकि—सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, मिश्रितमनोयोग और व्यवहारिक मनोयोग। आत्मा का लक्षण वीर्य और उपयोग माना गया है। सो जब आत्मा का बल वीर्य मनोयोग में जाता है तब मनोयोग की निष्पत्ति मानी जाती है। अपितु पंडित वीर्य बाल वीर्य और बाल-पंडितवीर्य, इस प्रकार के वीर्यों के कारण से मनोयोग के असंख्यात संकल्प (स्थान) कथन किए गये हैं। वे संकल्प शुभ और अशुभ दोनों प्रकार से प्रतिपादन किये गए हैं। मन एक प्रकार से सूक्ष्म चतुःप्रदेशिक परमाणुओं का पिंड है। आत्मा के परिणत हो जाने से ही मनोयोग कहा जाता है। जिस प्रकार मनोयोग का वर्णन किया गया है ठीक इसी प्रकार वचनयोग और काययोग के विषय में भी जानना चाहिए। सारांश इतना ही है कि-तीन योगों में आत्मा का परिणाम प्रतिपादन

किया गया है इसी कारण से इन तीनों की योग संज्ञा प्रतिपादित है । योग का अर्थ किसी से संयोग करना ही है अतः जब आत्मा का उक्त तीनों से योग (जुड़ना) होता है तब ही उक्त तीनों की योग संज्ञा बन जाती है।

अब सूत्रकार योग के पश्चात् उपयोग का वर्णन करते हैं जैसेकि—

उवओगपरिणामेणं भंते कतिविधे पं. ? गोयमा ! दुविहे पं. तंजहा—सागारोवओगपरिणामे अणागारोवओगपरिणामे ।

भावार्थ—हे भगवन् ! उपयोग परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गौतम ! उपयोग परिणाम दो प्रकार से प्रतिपादन किया गया है. जैसेकि—साकारोपयोग परिणाम और अनाकारोपयोग परिणाम । जैनशास्त्रों की परिभाषा में साकारोपयोग ज्ञान और अनाकारोपयोग दर्श का नाम है कारणकि-यावन्मात्र लोक में द्रव्य हैं वे आकार (संस्थान) पूर्वक हैं। सो ज्ञान उन्हीं द्रव्यों को अपने विषय करता है; इस लिये साकारोपयोग ज्ञान का नाम है । अनाकारोपयोग केवल दर्शन मात्र होने से दर्शन का नाम माना गया है क्योंकि-दर्शन सामान्यग्राही होता है, विशेषग्राही ज्ञान माना गया है। अतएव ये दोनों ही आत्मा के निजगुण हैं । इस लिये ये दोनों ही अरूपी हैं। जिस समय केवल आत्मा उपयोग पूर्वक होता है तब उस की अयोगी संज्ञा बन जाती है। साथ ही इस बात का भी ध्यान कर लेना चाहिए कि—ये उक्त दोनों गुण आत्मा के निज गुण हैं, इन्हें पौद्गलिक न मानना चाहिए तथा जिस आकार में घट परिणत हुआ है घट वैषयिक ज्ञान उसी प्रकार परिणत होगा । जब पदार्थ आकार वाले हैं तब ज्ञान निराकार किस प्रकार माना जा सकता है ? अतएव ज्ञान का ही नाम साकारोपयोग है । इसलिए योगों से अपने आत्मा को हटा कर उपयोग में नियुक्त करना चाहिए ताकि आत्मा को निज स्वरूप की प्राप्ति हो ।

अब सूत्रकार उपयोग के अनन्तर ज्ञान परिणाम के विषय में कहते हुए ज्ञान के भेदों का वर्णन करते हैं, जैसेकि—

णाणपरिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! पंचविधे प. तंजहा आभिणिबोहियणाणपरिणामे सुयणाणपरिणामे ओहिणाणपरिणामे मणपज्जवणाणपरिणामे केवलणाणपरिणामे ।

भावार्थ—हे भगवन् ! ज्ञान परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गौतम ! ज्ञान परिणाम पांच प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसेकि—आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान । जब आत्मा मतिज्ञान में उपयुक्त होता है तब उस को आभिनि-

ग्रोधिकज्ञान परिणाम युक्त कहा जाता है। यद्यपि आत्मा ज्ञानरूप ही है तथापि ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से पांच ज्ञानों में परिणत होजाता है। इन ज्ञानों का पूर्ण स्वरूप नंदी सिद्धान्त से जानना चाहिए। संक्षेप से यहां वर्णन किया जाता है।

१ मतिज्ञान—बुद्धिपूर्वक पदार्थों का अनुभव करना अर्थात् मतिज्ञान से पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना।

२ सुनकर पदार्थों का मतिपूर्वक विचार करना।

३ अपने ज्ञानद्वारा रूपी पदार्थों को जानना। इस ज्ञान को अवधि ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के अनेक भेद प्रतिपादन किये गए हैं,।

४ मनःपर्यवज्ञान संज्ञी (मन वाले) जीवों के जो मन के पर्याय हैं उनको जानलेना है।

५ केवलज्ञान उस का नाम है जिसके द्वारा सर्व द्रव्य और पर्यायों को हस्तामलकवत् देखा जाए। इसी ज्ञान वाले को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जाता है। इन्हीं ज्ञानों में जीव का परिणत होना माना गया है। प्रथम चार ज्ञान छद्मस्थ के और पंचम ज्ञान सर्वज्ञ का कहा जाता है।

अब ज्ञान के प्रतिपक्ष अज्ञान परिणाम विषय कहते हैं,—

अणाणपरिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! तिविहे प. तंजहा मइ-अणाणपरिणामे सुयअणाणपरिणामे विभंगणाणपरिणामे।

भावार्थ—हे भगवन् ! अज्ञान परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गौतम ! अज्ञान परिणाम तीन प्रकार से वर्णन किया गया है। जैसे कि—मतिअज्ञानपरिणाम, श्रुतअज्ञानपरिणाम, विभंगज्ञानपरिणाम। सद्ज्ञान से रहित पदार्थों का स्वरूप चिंतन करना अर्थात् जिस प्रकार द्रव्यों का स्वरूप श्री भगवान् ने प्रतिपादन किया है उससे विपरीत पदार्थों का स्वरूप मति द्वारा अनुभव करना उसी का नाम मति अज्ञान परिणाम है। यद्यपि व्यवहार पक्ष में मति ज्ञान और मति अज्ञान का विशेष भेद प्रतीत नहीं होता, परन्तु द्रव्यों के भेदों के विषय में ज्ञान और अज्ञान की परीक्षा पूर्णतया सहज में ही हो जाती है। जिस प्रकार मति अज्ञान पदार्थों के सद्-रूप को असद् रूप से अनुभव करता है ठीक उसी प्रकार श्रुत अज्ञान के विषय में जानना चाहिए। मिथ्या श्रुत द्वारा ही लोक में अज्ञान अपना अंधकार विस्तृत करता है जिससे प्राणी उन्मार्गगामी बनते हैं। तृतीय अवधिज्ञान का प्रतिपक्ष विभंगज्ञान है, जिस का यह मन्तव्य है कि—जो निज उपयोग द्वारा (योग द्वारा) पदार्थों का स्वरूप अनुभव करना है यदि वह स्वरूप अयथार्थता से अनुभव करने में आवे उस को विभंग ज्ञान कहते हैं।

यह ज्ञान विपरीत भावों को देखता है अतएव इसका नाम विभंग ज्ञान है। इसमें भी जीव का परिणमन भाव होता है। इसी लिये अज्ञान परिणाम जीव का माना गया है। जब जीव का बलवीर्यात्मा उक्त अज्ञानों में प्रवृत्त होता है तब जीव का उक्त अज्ञानों में परिणाम माना जाता है।

अब शास्त्रकार इसके अनन्तर दर्शन परिणाम विषय कहते हैं—

दंसणपरिणामेणं भंते कातिविधे प. ? गोयमा ! तिविहे प. तंजहा-सम्मदंसणपरिणामे मिच्छादंसणपरिणामे सम्ममिच्छा दंसणपरिणामे।

भावार्थ—हे भगवन् ! दर्शनपरिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गौतम ! दर्शन परिणाम तीन प्रकार से वर्णन किया गया है जैसेकि-सम्यग्दर्शनपरिणाम, मिथ्यादर्शनपरिणाम और सम्यग्मिथ्यात्वदर्शन परिणाम। जब पदार्थों का सम्यग्रीति से स्वरूप जाना जाता है। तब जीव के भाव सम्यग्दर्शनमय होते हैं। इसी प्रकार जब पदार्थों का स्वरूप विपरीत रूप से अनुभव किया जाता है तब जीव के भाव मिथ्यादर्शन के होते हैं यदि दोनों भावों को अवलम्बन कर पदार्थों का स्वरूप विचारा जाए तब जीव के सम्यग्मिथ्यात्वदर्शन होता है। इस कथन का मूल सिद्धान्त यह है कि-दर्शन शब्द का पर्यायवाची शब्द निश्चय है। सो जीवों का तीन प्रकार का निश्चय देखने में आता है जैसेकि-सम्यग् (यथार्थ) निश्चय, मिथ्यानिश्चय और मिश्रित निश्चय। मोक्षारूढ़ होने के लिये आत्मा को सम्यङ्निश्चय की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि—यावत्काल पर्यन्त आत्मा सम्यग्दर्शन के भाव में परिणत नहीं होता तावत्काल पर्यन्त वह मोक्षसाधन की योगक्रियाओं में भी आरूढ़ नहीं हो सकता।। अतएव मोक्षगमन के लिये सम्यग्दर्शन मूल बीज है। इसी द्वारा आत्मा अपना कल्याण कर सकता है।

मिथ्यादर्शन द्वारा संसार भ्रमण का विशेष लाभ जीव को होता है अर्थात् मिथ्यादर्शन से ही संसार में जीव की स्थिति है। मिश्र दर्शन भी संसार से निवृत्ति कराने में असमर्थ है। सो जिज्ञासु आत्माओं को सम्यग्दर्शन के आश्रित होकर निर्वाण प्राप्ति अवश्यमेव करनी चाहिए। इसका सारांश यह है कि—जीव का परिणाम उक्त तीनों दर्शनों में हो जाता है।

अब शास्त्रकार दर्शनपरिणाम के अनन्तर चारित्र परिणाम के विषय में कहते हैं।

चरित्तपरिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! पंचविधे प. तं. सामाइय चरित्तपरिणामे छेदोवठावणियचरित्तपरिणामे परिहारविसुद्धियचरित्त परिणामे सुहुमसंपरायचरित्तपरिणामे अहक्खायचरित्तपरिणामे।

भावार्थ—हे भगवन् ! चरित्रपरिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गौतम ! चारित्र परिणाम पांच प्रकार से वर्णन किया गया है जैसेकि--सामायिक चरित्र परिणाम, छेदोपस्थापनीय चरित्र परिणाम, परिहार विशुद्धिक चरित्रपरिणाम, सूक्ष्म सांपरायिक चारित्रपरिणाम और यथाख्यात चारित्र परिणाम। शास्त्रों में चारित्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि—जिस से आत्मा के ऊपर से 'चय' कर्मों का उपचय दूर हो जावे उसका नाम चारित्र है। यद्यपि शास्त्रों में उक्त चारित्रों की विस्तार पूवक व्याख्या लिखी हुई है तथापि उक्त चारित्रों के नामों का मूलार्थ इस प्रकार वर्णन किया गया है जैसेकि—

१ सामायिक चारित्र--जिसके करने से आत्मा में समता भाव की प्राप्ति हो और सम्यक्तया योगों का निरोध किया जावे उस का नाम सामायिक चारित्र है।

२ छेदोपस्थापनीयचारित्र पूर्व पर्याय को छेद कर फिर पांच महाव्रत रूप पर्याय को धारण करना उस का नाम छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

३ परिहारविशुद्धिक चारित्र--जिसके करने से पूर्व प्रायश्चित्तों से आत्म-विशुद्धि कर आत्म-कल्याण किया जाय उस का नाम परिहार विशुद्धिक चारित्र है। सम्प्रदाय में यह बात चली आती है कि--नव साधु इस चारित्र को धारण कर गच्छ से बाहिर हो कर १८ मास पर्यन्त तप करते हैं जैसेकि-प्रथम चार साधु छः मास पर्यन्त तप करने लग जाते हैं और चार साधु उन की वैयावृत्यादि करते हैं। एक साधु व्याख्यानादि क्रियाओं में लगा रहता है। जब वे तपकर्म कर चुकें तब सेवा करने वाले चारों साधु तप करने लग जाते हैं और वे चारों उनकी सेवा करते रहते हैं, परन्तु व्याख्यानादि क्रियाएँ वही साधु करता रहता है। जब वे चारों साधु षट् मास पर्यन्त तप कर चुकें तब वह व्याख्यानादि क्रियाएँ करने वाला साधु षट् मास पर्यन्त तप करता है और उन आठों साधुओं में एक साधु व्याख्यानादि क्रियाओं में प्रवृत्त हो जाता है शेष सात साधु उसकी सेवा करने लगते हैं। इस क्रम से ये नव साधु १८ मास पर्यन्त उक्त चारित्र की आराधना कर फिर गच्छ में आजाते हैं।

सूक्ष्मसांपरायचारित्र—जिस चारित्र में सूक्ष्म लोभ का अंश रहजावे। यह चारित्र दशवें गुणस्थानवर्त्ती जीवों को होता है।

यथाख्यातचारित्र—जिस प्रकार क्रियाओं का वर्णन करे उसी प्रकार क्रियाओं का करने वाला यथाख्यातचारित्र कहा जाता है। यह चारित्र सरागी और वीतरागी दोनों प्रकार के साधुओं को होता है अर्थात् ११ वें, १२ वें, १३ वें, और १४ वें गुणस्थानवर्त्ती जीवों को यथाख्यात चारित्र

होता है। सो आत्मा का परिणाम उक्त पांचों चारित्रों में हो जाता है। इसलिये आत्मा को चारित्र परिणाम वाला कहा जाता है। साथ में इस बात का भी ध्यान रहे कि—जिस समय जीव चारित्र परिणाम वाला होता है तब ही जीव आत्मप्रदेशों से कर्मों की वर्गणाओं को दूर करने में समर्थ होता है।

अब शास्त्रकार इस के अनन्तर वेद परिणाम विषय कहते हैं, यथाचः—

वेद परिणामेणं भंते कतिविधे प.? गोयमा! तिविहे पण्णत्ते तंजहा—इत्थीवेद परिणामे पुरिसवेद परिणामे णपुंसग वेदपरिणामे।

भावार्थ—हे भगवन्! वेद परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है? हे गौतम! वेद परिणाम तीन प्रकार से वर्णन किया गया है जैसे कि—स्त्री वेद परिणाम, पुरुष वेद परिणाम और नपुंसक वेद परिणाम। इसका सारांश यह है कि—जब जीव विकार युक्त होता है तब उसका परिणाम उक्त तीन प्रकार से माना जाता है।

जब आत्मा कामाग्नि से युक्त होता है तब उस का परिणाम स्त्री, पुरुष और नपुंसक रूप से माना जाता है। अतएव इस प्रकार शास्त्रकर्ता ने जीव परिणाम दश प्रकार से वर्णन किया है अर्थात् उक्त दश अंकों में जीव का ही परिणमन होना देखा जाता है।

अब इस विषय वर्णन करते हैं कि-नैरयिकादि जीवों में कौन २ सा परिणाम पाया जाता है जैसेकि—

नेरईयागतिपरिणामेणं निरयगतीया, इंदियपरिणामेणं पंचिंदिया, कसायपरिणामेणं कोहकसाई जाव लोभ कसाईवि, लेस्सापरिणामेणं कण्हलेसावि नीललेसावि काउलेसावि जोगपरिणामेणं मणजोगीवि, वयणजोगीवि, कायजोगीवि, उवओगपरिणामेणं सागारोवउत्तावि अणागारोवउत्तावि, णाणपरिणामेणं आभिणिबोहियणाणीवि सुयणाणीवि ओहिणाणीवि अणाणपरिणामेणं मइ अणाणीवि सुयअणाणीवि विभंगनाणीवि, दंसणपरिणामेणं सम्मदिट्ठीवि मिच्छादिट्ठीवि सम्मामिच्छादिट्ठीवि, चरित्तपरिणामेणं, नो चरित्ती नो चरित्ताचरित्ती अचरित्ती, वेदपरिणामेणं नोइत्थिवेदगा नोपुरिसवेदगा, नपुंसगवेदगा।

भावार्थ—जब हम नरक गति में गए हुए जीवों पर विचार करते हैं तब उक्त दश परिणामों में से इस प्रकार परिणत हुए वे जीव माने जाते हैं जैसेकि—

१ नरकगतिपरिणाम की अपेक्षा से नरकगति परिणाम में वे जीव परिणत हो रहे हैं।

२ इंद्रियपरिणाम की अपेक्षा से वे जीव पंचेंद्रिय परिणाम से परिणत हैं।

३ कषायपरिणाम की अपेक्षा से वे जीव क्रोध, मान, माया और लोभ में भी परिणत हो रहे हैं।

४ लेश्यापरिणाम की अपेक्षा से वे जीव कृष्ण लेश्या, नीललेश्या और कपोत लेश्या में ही परिणत हो रहे हैं

५ योगपरिणाम की अपेक्षा से वे जीव मन, वचन और काय के योग से भी परिणत हो रहे हैं।

६ उपयोग परिणाम की अपेक्षा से—वे जीव साकारोपयुक्त और अनाकारोपयुक्त दोनों उपयोगों से उपयुक्त हो रहे हैं।

७ ज्ञानपरिणाम की अपेक्षा से आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान अवधि ज्ञान से परिणत हैं। अज्ञान परिणाम की अपेक्षा से मति अज्ञान श्रुत अज्ञान तथा विभंग ज्ञान से परिणत हो रहे हैं।

८ दर्शनपरिणाम की अपेक्षा से वे जीव सम्यगदृष्टि भी हैं, मिथ्यादृष्टि भी हैं और सम्यग् और मिथ्यादृष्टि भी हैं।

९ चारित्र परिणाम की अपेक्षा से वे जीव साधुवृत्ति वाले नहीं हैं। नाँही वे गृहस्थ धर्म के पालन करने वाले ही हैं। किन्तु वे अचरित्री अर्थात् नियमादि से रहित ही हैं।

११ वेदपरिणाम की अपेक्षा से वे जीव स्त्रीवेदी नहीं हैं; नाँही वे जीव पुरुषवेदी ही हैं किन्तु वे तो केवल नपुंसक वेद वाले ही हैं।

इस प्रकार नरक में रहने वाले जीवों के दश प्रकार के परिणाम होते हैं। साथ में यह भी सिद्ध किया गया है कि जीव सदैव काल परिणत होता रहता है। अतएव जीव को परिणामी माना गया है किन्तु द्रव्य का सर्वथा नाश नहीं माना जाता, केवल द्रव्य का द्रव्यान्तर होजाना ही परिणाम माना गया है।

अब दश प्रकार के भवनपति देवों के परिणाम विषय में सूत्रकार कहते हैं। जैसेकि—

असुर कुमारावि एवं चेव नवरं देवगतिया कण्हलेसावि जाव तेउलेसावि वेदपरिणामेणं इत्थिवेदगावि पुरिस वेदगावि नो नपुंसक वेदगा सेसं तं चेव एवं थणिय कुमारा।

भावार्थ—जिस प्रकार नरक में रहने वाले जीवों का वर्णन किया गया

है ठीक उसी प्रकार असुर, कुमार, देवों के विषय में भी जानना चाहिये। भेद केवल इतना ही है कि—देव गति कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या और तेजोलेश्या से युक्त होते हैं। वेद परिणाम की अपेक्षा से स्त्रीवेद, पुरुषवेद यह दोनों वेद उक्त देवों के होते हैं, किन्तु नपुंसक वेद उनका नहीं होता है। शेष वर्णन नैरयिकवत् ही है। सो इसी प्रकार शेष नवनिकाय स्तनित कुमार पर्यन्त देवों के विषय में जानना चाहिए अर्थात् शेष परिणामों का परिणत होना नव-निकायों में नारकीयवत् ही है।

अब इनके अनन्तर पांच स्थावरों के विषय में सूत्रकार कहते हैं:--

पुढविकाइया गतिं परिणामेणं तिरियगतिया, इंदिय परिणामेणं एगिं-दिया, सेसंजहा नेरइया नवरं लेसा परिणामेणं तेओलेसावि, जोगपरि-णामेणं कायजोगी णाणपरिणामो णत्थि, अणाणपरिणामेणं मति अणाणी सुयअणाणी दंसण परिणामेणं मिच्छदिट्ठी सेसं तं चेव एवं आउ वणस्सइ कायावि तेउ वाउ एवं चेव, नवरं लेसा परिणामेणं जहा नेरइया।

भावार्थ--पृथ्वीकायिक जीव गति परिणाम की अपेक्षा से तिर्यक् गति परिणामयुक्त हैं। इन्द्रिय परिणाम की अपेक्षा से एकेंद्रिय हैं। शेष परिणाम नैरयिकवत्। किन्तु लेश्यापरिणाम की अपेक्षा से तेजोलेश्या परिणाम नैरयिक जीवों से अधिक जानना चाहिए। योग परिणाम की अपेक्षा से काययोग से परिणत हैं। ज्ञान परिणाम से वे जीव परिणत होते ही नहीं किन्तु अज्ञान परि-णाम से मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान से परिणत हैं। दर्शन परिणाम की अपेक्षा से वे जीव केवल मिथ्यादर्शी हैं। और शेष वर्णन पूर्ववत् है। सो इसी प्रकार अप्कायिक और वनस्पतिकाय के विषय में भी जानना चाहिए। परंच तेजो-कायिक और वायुकायिक जीवों के तेजोलेश्या नहीं होती। अतएव उन जीवों के परिणाम नैरयिकवत् ही होते हैं।

अब सूत्रकार इसके अनन्तर तीनों विकलेंद्रियों के परिणाम विषय कहते हैं:--

बेइंदियागति परिणामेणं तिरियगतिया इंदिय परिणामेणं बेइंदिया सेसं जहा नेरइयाणं नवरं जोगपरिणामेणं वयजोगी कायजोगी णाणपरिणा-मेणं आभिणिबोहियनाणीवि सुतनाणीवि अणाण परिणामेणं मइअणाणीवि सुयअणाणीवि नोविभंगनाणी दंसणपरिणामेणं सम्मदिठीविमिच्छादि-ट्ठीवि नोसम्मामिच्छादिट्ठी सेसंतं चेव एवं जाव चउरिंदिया णवरं इंदिय परि-वुड्ढी कायव्वा॥

भावार्थ-द्वीन्द्रिय जीवगति परिणाम की अपेक्षा से तिर्यग् गति परिणाम से परिणत हैं। इंद्रियपरिणाम से जीव द्वीन्द्रिय हैं क्योंकि मुख और शरीर ही इनको इंद्रियां हैं। किन्तु शेष वर्णन नारकीयवत् है। केवल योगपरिणाम की अपेक्षा से वचनयोग और काययोग ही होता है। ज्ञान परिणाम की अपेक्षा से आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान भी है तथा अज्ञान परिणाम की अपेक्षा से मतिअज्ञान और श्रुत अज्ञान भी है। अपितु विभंगज्ञान नहीं है। दर्शन परिणाम की अपेक्षा से सम्यगदृष्टि और मिथ्यादृष्टि है किन्तु सम्यगमिथ्या दृष्टि नहीं है। शेषवर्णन पूर्ववत् है। इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जानना चाहिए। भेद केवल इतना ही है कि इन्द्रियों की वृद्धि कर लेनी चाहिए जैसेकि—त्रीन्द्रिय जीवों की तीन ही इंद्रियां होती हैं और चतुरिन्द्रिय जीवों की चार इंद्रियां होती हैं। परन्तु शेष परिणामों का वर्णन प्राग्वत् जानना चाहिये।

अब इनके अनन्तर सूत्रकार पचेन्द्रिय तिर्यग्विषय में कहते हैं:—

पंचेंदिय तिरिक्ख जोणिया, गतिपरिणामेणं तिरियगतिया, सेसं जहा नेरइयाणं णवरं लेसापरिणामेणं जाव सुक्कलेसावि चरित्तपरिणामेणं णो चरित्ती अचरित्तिवि चरित्ताचरित्तिवि वेदपरिणामेणं इत्थिवेदगावि पुरिसवेद-गावि णपुंसकवेदगावि ॥

भावार्थ—पंचेंद्रिय तिर्यग्योनिक जीव गतिपरिणाम की अपेक्षा से तिर्यग्गति में परिणत हैं। किन्तु शेष वर्णन जैसे नारकियों का किया गया था उसी प्रकार जानना चाहिये। भेद इतना ही है कि—लेश्यापरिणाम की अपेक्षा से पंचेंद्रिय तिर्यग्योनिकों में कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या इन छः ही लेश्याओं में उक्त जीवों के परिणाम हो जाते हैं। यदि चारित्रपरिणाम की अपेक्षा से उनको देखते हैं तब वे जीव सर्वथा चारित्री नहीं होते किन्तु अचारित्री और चारित्राचरित्री होजाते हैं, परंच वेद परिणाम की अपेक्षा से वे जीव स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इस प्रकार तीनों वेदों में परिणत हो रहे हैं।

अब इसके अनंतर मनुष्य परिणाम विषय कहते हैं -

मणुस्साणं गतिपरिणामेणं मणुयगतिया इंदियपरिणामेणं पंचिंदिया अणिंदियावि कसायपरिणामेणं कोहकसायीवि जाव अकसाईवि लेसा परिणामेणं कण्हलेसावि जाव अलेसावि जोगपरिणामेणं मणजोगीवि जाव अजोगीवि उवओगपरिणामेणं जहा नेरइया णाणपरिणामेणं आभिणि-बोहियणाणीवि जाव केवलनाणीवि अणाणपरिणामेणं तिरिण विअणाणा,

दंसणपरिणामेणं तिरिणविदंसणा चरित्तपरिणामेणं, चरित्तावि अचरित्तावि चरित्ताचरित्तावि वेदपरिणामेणं पुरिसवेदगावि इत्थिवेदगावि नपुंसग-वेदगावि अवेदगावि ॥

भावार्थ—जिस प्रकार उक्त परिणामों का वर्णन किया गया है उसी प्रकार मनुष्यपरिणाम का भी वर्णन किया गया है केवल भेद इतना ही है कि—मनुष्य मोक्षगमन कर सकता है। अतः वह कतिपय परिणामों से सर्वथा विमुक्त हो जाता है। जैसेकि—

१ मनुष्य गतिपरिणाम की अपेक्षा से मनुष्य गति परिणाम वाला है।

२ इंद्रियपरिणाम की अपेक्षा से पंचेंद्रिय भी है और अनिन्द्रिय भी है। क्योंकि जब जीव केवल ज्ञानयुक्त होजाता है तब वह इंद्रियों से काम नहीं लेता अतएव फिर उसे अनिन्द्रिय ही कहा जाता है।

३ कषायपरिणाम की अपेक्षा से कषाययुक्त भी होता है। जब केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब वही जीव अकषायी बन जाता है अर्थात् क्रोध, मान माया, लोभ से युक्त भी रहता है; परन्तु जब सर्वज्ञ भाव को प्राप्त हो जाता है तब वह जीव उक्त कषायों से सर्वथा रहित भी होजाता है।

४ लेश्यापरिणाम की अपेक्षा से जीव छः लेश्याओं से युक्त भी रहता है और अलेश्यी भी हो जाता है।

५ योगपरिणाम की अपेक्षा से मनोयोग युक्त भी है, वचन योग युक्त भी है और काययोग युक्त भी है तथा अयोगी भी हो जाता है अर्थात् जब मोक्षारूढ होता है तब तीनों योगों से रहित होकर ही निर्वाण प्राप्त करता है।

६ उपयोगपरिणाम की अपेक्षा से—साकारोपयोग युक्त और निरा-कारोपयोग युक्त है।

७ ज्ञान परिणाम की अपेक्षा से मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान और केवल ज्ञान युक्त भी हो जाता है। इसी प्रकार मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, और विभंग ज्ञान युक्त भी होता है।

८ दर्शन परिणाम की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन और सम्यङ्मिथ्यादर्शन युक्त भी होते हैं।

९ चारित्र परिणाम की अपेक्षा से चरित्री भी हैं और अचरित्री और चरित्राचरित्री भी होते हैं अर्थात् मनुष्य सर्वथा त्यागी, देशत्यागी तथा सर्वथा अविरति भी होते हैं।

१० वेदपरिणाम की अपेक्षा से—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद,

तथा अवेदी (अविकारी) भी हैं। इस प्रकार मनुष्यगति के जीवों के दश परिणामों का वर्णन किया गया है।

अब इसके अनन्तर व्यन्तर देव ज्योतिषी तथा वैमानिक देवों के परिणाम विषय कहते हैं—

वाणमंतरा गतिपरिणामेणं देवगतिया जहा असुर कुमारा एवं जोइसियावि नवरं लेसापरिणामेणं तेउलेसा, वेमाणियावि एवं चेव नवरं लेसा परिणामेणं तेउलेसावि पम्हलेसावि सुक्कलेसावि सेतं जीवपरिणामे।

भावार्थ--व्यन्तर देव गतिपरिणाम की अपेक्षा से देवगति परिणाम से परिणत हो रहे हैं। जिस प्रकार असुर, कुमार देवों का वर्णन पूर्व किया जा चुका है ठीक उसी प्रकार व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के विषय में भी जानना चाहिये: भेद केवल इतना ही है कि—लेश्यापरिणाम के विषय केवल तेजोलेश्या जाननी चाहिये।

इसी प्रकार वैमानिक देवों के विषय में भी जानना चाहिये किन्तु विशेष इतना ही है कि—लेश्यापरिणाम की अपेक्षा से तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या से वे देव परिणत हो रहे हैं। सारांश इतना ही है कि--वैमानिक देव उक्त तीनों लेश्याओं के परिणाम से परिणत हो रहे हैं। शेष परिणामों का वर्णन प्रागवत् है।

इस प्रकार दश प्रकार के परिणामों में जीव परिणत हो रहा है। अतएव जीव को परिणामी कहा गया है। द्रव्य से द्रव्यान्तर हो जाना ही परिणाम का प्रथम लक्षण वर्णन कर चुके हैं। पर्याय नय उसको उत्पाद और व्ययरूप से मानता है किन्तु द्रव्य को ध्रौव्य रूप से स्वीकार करता है। किन्तु द्रव्यार्थिक नय केवल द्रव्यको द्रव्यान्तर होना ही स्वीकार करता है।

सो इस प्रकार जीव परिणाम कथन करने के अनन्तर अब सूत्रकार अजीव परिणाम विषय में कहते हैं जैसेकि-

अजीवपरिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! दसाविधे पएणत्ते तजहा-बंधणपरिणामे गतिपरिणामे संठाणपरिणामे भेदपरिणामे वएणपरिणामे गंधपरिणामे रसपरिणामे फासपरिणामे अगुरुयलहुयपरिणामे सद्दपरिणामे।

भावार्थ-हे भगवन् ! अजीव परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गौतम ! अजीवपरिणाम दश प्रकार से वर्णन किया गया है जैसेकि-बंधनपरिणाम, गतिपरिणाम, संस्थानपरिणाम, भेदपरिणाम, वर्णपरिणाम, गंधपरिणाम, रसपरिणाम, स्पर्शपरिणाम, अगुरुकलघुकपरिणाम, शब्दपरि-

णाम। इस के कथन करने का सारांश इतना ही है कि-यावन्मात्र बंधनादि होते हैं वे सब अजीव द्रव्य के ही परिणाम जानने चाहिएँ। क्योंकि-जगत् में मुख्यतया दोनों ही द्रव्यों का सद्भाव वर्त्त रहा है जीव और अजीव। सो जीव द्रव्य का परिणाम तो पूर्व वर्णन किया जा चुका है, अजीवद्रव्य का परिणाम भी सूत्रकर्ता ने दश ही प्रकार से प्रतिपादन किया है।

अब बंधन परिणाम के विषय में सूत्रकार वर्णन करते हैं—

बंधणपरिणामेणं भंते कतिविधे पएणत्ते ? गोयमा ! दुविहे पएणत्ते तंजहा—णिद्धबंधणपरिणामे लुक्खबंधणपरिणामे समनिद्धयाए बंधो न होति समलुक्खयाए वि ण होति वेमायणिद्ध लुक्खत्तणेणं बंधोउ खंधाणं, णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिएणं लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएणं निद्धस्स लुक्खेणं उवेइ बंधो जहएणवज्जो विसमो समो वा ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! बंधन परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया है गया है ? हे गौतम ! बंधनपरिणाम दो प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसे कि—स्निग्धबंधनपरिणाम और रूक्ष बंधनपरिणाम। किन्तु यदि दोनों द्रव्य समस्निग्ध गुण वाले हों तब उनका परस्पर बंधन नहीं होता। जैसे तेल का तेल के साथ बंधन नहीं होता तथा यदि दोनों द्रव्य समरूक्ष गुण वाले हों तब उन का भी परस्पर बंधन नहीं होता जैसे वालु का वालु और प्रस्तर (पत्थर) का प्रस्तर के साथ बंधन नहीं होता। क्योंकि—जब दोनों द्रव्य समगुण वाले होते हैं तब परस्पर आकर्षण नहीं कर सकते। अतएव वे बंधन को भी परस्पर प्राप्त नहीं हो सकते सो इस लिये यदि वे द्रव्य वैमात्रिक होवें अर्थात् स्निग्धता और रूक्षता सम भाव में न हों अपितु विषमता पूर्वक हों तब स्कन्धों का परस्पर बंधन होजाता है स्निग्ध का स्निग्ध के साथ वा रूक्ष का रूक्ष के साथ तभी बंधन होता है जब वे परस्पर समगुण न हों। इसी प्रकार स्निग्ध का रूक्ष के साथ जघन्य भाव को वर्ज कर विषम भाव से बंधन कथन किया गया है अर्थात् यदि एक एक गुण स्निग्ध और एक गुण रूक्ष दोनों द्रव्य हों तब उनका परस्पर बंधन नहीं होसकता। अतएव यदि दोनों वैमात्रिक होवें तब ही बंधन होने की संभावना की जा सकती है। इसी कारण कर्मों के बंधन में मुख्यतया राग और द्वेष ही मूल कारण बतलाए गए हैं। इस प्रकार बंधन का अधिकार कथन किया गया है।

दोनों गाथाओं की संस्कृत टीका निम्न प्रकार से की गई है:—

बंधनपरिमाणस्य लक्षणमाह—'समनिद्धयाए इत्यादि' परस्परं समस्निग्धतायां समगुणस्निग्धतायास्तथा परस्परं समरूक्षतायां समरूक्षताया बंधो न भवति किन्तु यदि परस्परं स्निग्ध-

त्वस्य रूक्षत्वस्य च विषममात्रा भवति तदा बंधः स्कन्धानामुपजायते। इयमत्र भावना-समगुणस्निग्धस्य परमाण्वादेः समगुण स्निग्धेन परमाण्वादिना सह सम्बन्धो न भवति तथा समगुणरूक्षस्यापि परमाण्वादेः समगुणरूक्षेण परमाण्वादिना सह संबंधो न भवति, किन्तु यदि स्निग्धः स्निग्धेन रूक्षोरूक्षेण सह विषमगुणो भवति तदा विषममात्रत्वात् भवति तेषां परस्परं सम्बंधः। विषममात्रया बंधो भवतीत्युक्तम् ततो विषममात्रानिरूपणार्थमाह- 'निद्धस्स णिद्धेण दुहियाणेत्यादि' यदि स्निग्धस्य परमाण्वादेः स्निग्धगुणेनैव सह परमाण्वादिना बंधो भवितुमर्हति तदा नियमात् द्वयाधिकाधिकगुणेनैव परमाण्वादिनेति भावः। रूक्षगुणस्यापि परमाण्वादेः रूक्षगुणेन परमाण्वादिना सह यदि बंधो भवति तदा तस्यापि तेन द्वयाद्यधिकगुणेनैव, नान्यथा। यदा पुनः स्निग्धरूक्षयोर्बंधस्तदा कथमिति चेदत आह-'निद्धस्स लुक्खेणेत्यादि' स्निग्धस्य रूक्षेण सह बंधमुपैति उपपद्यते जघन्यवर्ज्यो विषमः समो वा किमुक्तं भवति—एकगुणस्निग्धं एक गुणरूक्षं च मुक्त्वा शेषस्य द्विगुणस्निग्धादेर्द्विगुणरूक्षादिना सर्वेण बंधो भवतीति उक्तो बंधनपरिणामः।

इसका अर्थ पूर्व लिखा जा चुका है। सर्वोक्त कथन का सारांश इतना ही है कि--जब स्कंधों का परस्पर बंधन होता है तब उन स्कंधों के स्निग्धादि गुण वैमात्रिक होते हैं। तब ही उनका बंधन हो सकता है।

अब बंधन परिणाम के अनन्तर गतिपरिणाम विषय कहते हैं:—

गतिपरिणामेणं भंते कतिविहे प. ? गोयमा ! दुविहे पण्णते तंजहा—फुसमाणगतिपरिणामे अफुसमाणगतिपरिणामे अहवादीहगतिपरिणामे रहस्सगतिपरिणामेय।

भावार्थ—हे भगवन् ! गतिपरिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है ? हे गौतम ! गति परिणाम दो प्रकार से वर्णन किया गया है जैसेकि-स्पर्शमान गति परिणाम और अस्पर्शमानगतिपरिणाम तथा दीर्घगतिपरिणाम वा ह्रस्वगतिपरिणाम। इस कथन का सारांश इतना ही है कि-जब पुद्गल गति परिणाम में परिणत होता है तब वह दो प्रकार से गति करता है। एक तो स्पर्शमानगति परिणाम। जैसे जो-पुद्गल गति में परिणत हुआ तब वह अपने क्षेत्र में आने वाले आकाश प्रदेशों को तथा स्वक्षेत्र से पृथक् आकाशप्रदेशों को स्पर्श करके ही गति करता है। जिस प्रकार एक शर्करा (कांकरी) जल पर किसी द्वारा प्रक्षिप्त की हुई जल को स्पर्श कर वा विना स्पर्श कर गति करता है ठीक उसी प्रकार पुद्गल भी आकाश प्रदेश अपने से जो पृथक् हैं उनको भी स्पर्श करके गति करता है। दूसरे भेद में जिस प्रकार पक्षी भूमि को न स्पर्श करता हुआ गति करता है उसी प्रकार पुद्गल भी अपने क्षेत्री प्रदेशों को छोड़ कर अन्य प्रदेशों को न स्पर्श करता हुआ गति करता है। सो इन्हीं को स्पर्शमान और अस्पर्शमान गतिपरिणाम कहते हैं। एवं दीर्घगति

परिणाम जो अतिविप्रकृष्ट देश है वहाँ तक गमन करना तथा ह्रस्व देश पर्यन्त गमन करना। जैसे कि—एक पुद्गल तो एक समय में पूर्व लोकान्त से पश्चिम लोकान्त तक गति करता है उसका नाम दीर्घगति परिणाम कहा जाता है और एक पुद्गल अपने स्थान से चल कर दूसरे आकाश प्रदेश पर स्थिति कर लेता है। उस का नाम ह्रस्वगति परिणाम होता है। सारांश यह है कि—पुद्गल उक्त चारों प्रकार की गतियों में परिणत होता रहता है। इसी का नाम गति परिणाम कहा जाता है।

अब शास्त्रकार संस्थान परिणाम विषय में कहते हैं—

संठाणपरिणामेणं भंते कतिविहे प.? गो.! पंचविहे प.तंजहा-परिमंडल संठाणपरिणामे वहसंठाणपरिणामे तससंठाण परिणामे चउरंससंठाण-परिणामे आययसंठाणपरिणामे।

भावार्थ—हे भगवन्! संस्थान परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है? हे गौतम! संस्थानपरिणाम पांच प्रकार से कथन किया गया है जैसे कि—परिमंडल (चूड़ी के आकार पर) संस्थानपरिणाम, गोलाकार (वृत्ताकार) परिणाम, त्र्यंस (श) संस्थानपरिणाम चतुरंश संस्थान परिणाम, दीर्घाकार संस्थान अर्थात् पुद्गल उक्त पांचों ही आकारों में परिणत होता रहता है।

अब भेद परिणाम विषय कहते हैं—

भेद परिणामेणं कतिविधे प.? गोयमा! पंचविहे प.तंजहा—खंडभेद-परिणामेणं जाव उक्करिया भेदपरिणामेणं।

भावार्थ—हे भगवन्! भेदपरिणाम कितने प्रकार से वर्णन कियागया है? हे गौतम! भेदपरिणाम पांच प्रकार से वर्णन किया गया है। जैसे कि—खंडभेद यावत् उत्करिका भेद। इनका वर्णन भाषापद में सविस्तर रूप से किया गया है। अतएव उस स्थान से देखना चाहिए। कारण कि-जो पुद्गल भेदन होता है वह पांच प्रकार से होता है। सो इसी का नाम भेदपरिणाम है।

वण्णपरिणामेणं भंते कतिविहे प.? गोयमा! पंचविहे प. तं. कालवण्ण परिणामे जाव सुक्किलवण्ण परिणामे।

भावार्थ—हे भगवन्! वर्ण परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है? हे गौतम! वर्ण परिणाम पांच प्रकार से वर्णन किया गया है। जैसे कि—कृष्ण वर्ण परिणाम, नील वर्ण परिणाम, पीत वर्ण परिणाम, रक्त वर्ण परि-

णाम और शुक्लवर्ण परिणाम, अर्थात् यावन्मात्र पुद्गल हैं वे सर्व कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत वर्ण में ही परिणत होरहे हैं। क्योंकि ऐसा कोई भी पुद्गल नहीं है जो वर्ण से रहित हो। अतः सर्व पुद्गल पंचवर्णी हैं।

वर्ण युक्त होने के कारण पुद्गल गंध धर्म वाला भी है। अतएव सूत्रकार गंध विषय कहते हैं--

गंध परिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! दुविहे प. तंजहा सुभ्भिगंध परिणामे दुभ्भिगंध परिणामे य।

भावार्थ—हे भगवन् ! गंध परिणाम कितने प्रकार से वर्णन किया गया है ? हे गौतम ! दो प्रकार से, जैसेकि—सुगंध परिणाम और दुर्गन्ध परिणाम क्योंकि यावन्मात्र पुद्गल है वह सब दोनों प्रकार के गंधों में परिणत होरहा है तथा गंधों में परिणत होना यह पुद्गल का स्वभाव ही है।

अब सूत्रकार रस परिणाम विषय कहते हैं। जैसेकि—

रसपरिणामेणं भंते कातिविहे प. ? गोयमा ! पंच विहे पण्णत्ते तंजहा तित्तरसपरिणामे जाव महुररस परिणामे।

भावार्थ-हे भगवन् ! रसपरिणाम कितने प्रकार से वर्णन किया गया है ? हे गौतम ! रस परिणाम पांच प्रकार से प्रतिपादन किया गया है जैसेकि-तिक्त रस परिणाम, कटुक रस परिणाम, कसायला रस परिणाम, खट्टा रस परिणाम और मधुर रस परिणाम अर्थात् यावन्मात्र पुद्गल है वह सब पांचों ही रसों में परिणत होरहा है। यद्यपि छठा लोगों ने लवणरस भी कल्पन किया हुआ है किंतु वह रस संयोगजन्य है। इस लिये शास्त्रकर्ता ने पांचों ही रसों का विधान किया है। पुद्गल का यह स्वभाव ही है कि वह रसों में परिणत होता रहता है क्योंकि-पुद्गल द्रव्य मूर्त्तिमान् है। सो जो द्रव्य मूर्त्तिमान् होता है वह वर्ण गंध रस और स्पर्श वाला होता है। अतएव सूत्रकार इसके अनन्तर स्पर्श विषय कहते हैं तथा रस धर्म अजीव का प्रतिपादन किया गया है नतु जीव का। क्योंकि जीव तो एक अरूपी पदार्थ है।

अब सूत्रकार स्पर्शविषय कहते हैं:—

फासपरिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! अट्ठविधे प. तंजहा कक्खडफासपरिणामे जाव लुक्खफासपरिणामे य॥

भावार्थ--हे भगवन् ! स्पर्श परिणाम कितने प्रकार से वर्णन किया गया है ? हे गौतम ! स्पर्श परिणाम आठ प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। जैसेकि-कर्कशस्पर्शपरिणाम, मृदुस्पर्शपरिणाम, गुरुस्पर्शपरिणाम, लघुस्पर्शपरिणाम,

शीतस्पर्शपरिणाम, उष्णस्पर्शपरिणाम, स्निग्धस्पर्शपरिणाम, और रूक्षस्पर्शपरिणाम। इस प्रकार अजीवद्रव्य आठ प्रकार के स्पर्शपरिणाम से परिणत होरहा है तथा यावन्मात्र पुद्गल द्रव्य है वह सब आठ स्पर्शों वाला ही है। सो यह सब अजीव द्रव्य का ही परिणाम जानना चाहिये। सो यह द्रव्य समय २ परिणाम भाव को प्राप्त होता रहता है।

अब शास्त्रकार अगुरुकलघुकपरिणाम विषय कहते हैं!

अगुरुलहुपरिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! एगागारे पण्णते ॥

भावार्थ-हे भगवन्! अगुरुलघुपरिणाम के कितने भेद प्रतिपादन किये गए हैं? हे गौतम! अगुरुलघुपरिणाम एक ही प्रकार से वर्णन किया गया है जैसेकि-पुद्गल को छोड़ कर शेष चारों द्रव्यों के प्रदेश अगुरुलघुभाव से परिणत हैं तथा कार्मण शरीर के स्कन्ध भी अगुरुलघुभाव वाले ही प्रतिपादित किये गए हैं। कारणकि-आत्मा के आत्म-प्रदेश भी अगुरुलघु भाव वाले हैं। अतएव जब आत्मा के साथ आठों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्कर्म, नाम, गोत्र और अंतराय कर्म) प्रकार के कर्मों का सम्बन्ध होता है। तब कर्मों की वर्गणायें अगुरुलघुक संज्ञक मानी जाती हैं, तब ही आत्म-प्रदेशों के साथ क्षीरनीरवत् ओतप्रोत होकर वे वर्गणायें ठहरती हैं। सो अगुरुलघुपरिणाम के अनेक भेद नहीं हैं, केवल एक ही भेद प्रतिपादन किया गया है।

अब सूत्रकार शब्द परिणाम विषय कहते हैं-

सद्दपरिणामेणं भंते कतिविधे प. ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तंजहा-सुब्भिसद्दपरिणामेय दुब्भिसद्दसद्दपरिणामेय से तं अजीव परिणामे पण्णवणाभगवईएपरिणाम पदं सम्मत्तं ॥

भावार्थ-हे भगवन्! शब्द परिणाम कितने प्रकार से प्रतिपादन किया गया है? हे गौतम! दो प्रकार से-सुशब्द परिणाम और दुष्टशब्दपरिणाम। इस कथन का सारांश इतना ही है कि-जब परमाणुओं का समूह शब्द रूप में परिणत होने लगता है तब वह दो प्रकार से परिणत होता है जैसेकि-शुभ शब्द रूप में वा अशुभ शब्द रूप में। क्योंकि-जो मनोहर शब्द होता है वह मन और कर्णेन्द्रिय को प्रिय और सुखकर प्रतीत होने लगता है और जो अशुभ और कटुक शब्द होता है वह मन और कर्णेन्द्रिय को कंटक के समान लगता है। परंच यह सब शब्दपरिणाम अजीव परिणाम का ही भेद है। सो इस प्रकार श्रीप्रज्ञापन सूत्र के त्रयोदशवें पद में जीव परिणाम और अजीव परिणाम का वर्णन किया गया है।

इति श्रीजैनतत्त्वकलिकाविकासे परिणामपदनाम्नी नवमी कलिका समाप्ता ॥

इति श्री जैनतत्त्वकलिका विकासः समाप्तः।